रंग संवाद

दिसंबर- 2019

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र तथा

वनमाली सृजन पीठ, रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की

संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

शब्दांकन : **अमीन उद्दीन शेख़**

संपादकीय संपर्कः

22, E-7, अरेरा कॉलोनी,

भोपाल-462016

फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428

• • •

जरूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र तथा

वनमाली सृजन पीठ (रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय), भोपाल द्वारा प्रकाशित

ई-मेल : **tagorekalabpl@gmail.com**

मुद्रक : पहले पहल प्रिंटरी प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस बार

- हमारा समय और संस्कृति– मनोज श्रीवास्तव /5
- परंपरा और आधुनिकता– संतोष चौबे/9
- लोक में लय जीवन– श्रीराम परिहार/22
- आपसदारी के नए अर्थ– रमेश दवे/25
- संवाद की मर्यादाएँ– निर्मल वर्मा/29
- कला पर पूँजी का ग्रहण– विजय अग्रवाल/31
- जीवन की पाठशाला में संवाद ज़रूरी
– जयप्रकाश चौकसे/ 35
- गाँधी का कला बोध– इलाशंकर गुहा/43
- प्रकृति में लयबद्ध होना ही संस्कृति है– आशुतोष राणा/47
- रंगमंच का समाज शास्त्र– देवेन्द्रराज अंकुर/54
- भविष्य का नाटक– विलास गुप्ते/58
- भाषा का अभिनय– नंदकिशोर आचार्य/61
- अमूर्त रंगमंच का औचित्य– आलोक चटर्जी/64
- बदल रही है नाटक की भाषा?– राजेश जोशी/66
- नए समीकरणों की दरकार– रमेश उपाध्याय/69
- टैगोर के नाटक रंगमंच पर चुनौती
–उषा गांगुली/74
- प्रतिरोध का रंगमंच– राजा भादू/80
- रंगमंच पर कविता– अलखनंदन/83
- बाल रंगमंच – सेवाराम त्रिपाठी/86
- रंग, रूप और ख़ुश्बू का प्रतिरूप– रामप्रकाश/91
- आगरा बाज़ार– धर्मेन्द्र प्रताप सिंह/96

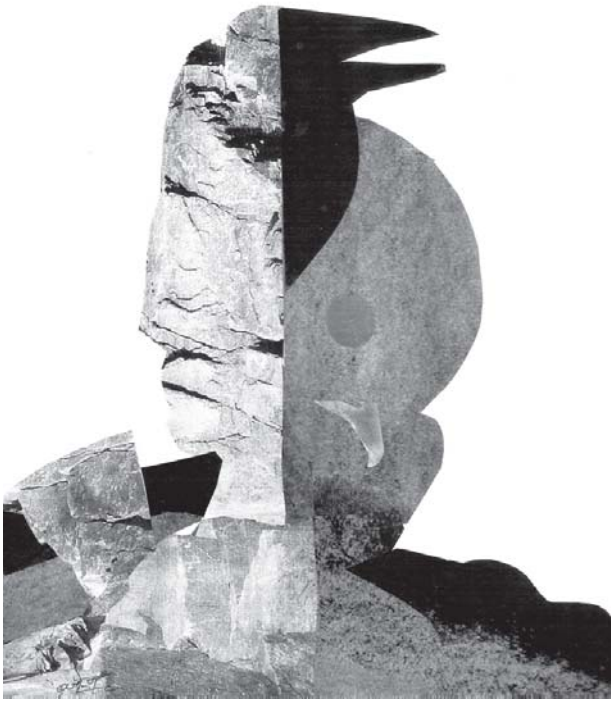

- अधूरी दास्तानों का पूरा सच!–
विजय मनोहर तिवारी/100
- बहते सुर का दरिया– मुकुन्द लाठ/103
- सुर से आगे निकल जाऊँ
– संगीत विदुषी किशोरी आमोणकर से
विनय उपाध्याय का संवाद/107
- रूह में रमता संगीत– राजेश गनोदवाले/111
- नृत्य के परिसर में अभिनय– यतीन्द्र मिश्र/114
- केनवास पर स्वप्न–चित्र– मंजूषा गांगुली/118
- अब वे फकीर नहीं आते!– अजात शत्रु/121
- सुनो..., कहानी– शिफाली पाण्डे/125
- सिनेमा और रंगमंच – सुदीप सोहनी/127
- कला लेखन का सच– विनय उपाध्याय/129

➲ **आवरण चित्र** : गोण्ड चित्रांकन-शांता बाई ➲**आवरण आकल्पन** : वंदना श्रीवास्तव

➲ **भीतर का आकल्पन** : विनय उपाध्याय, अमीन उद्दीन शेख

➲ **अन्य छायाचित्र** : उपेन्द्र पटने, नीरज रिछारिया, रोहित श्रीवास्तव, विजय रोहतगी, अरूण जैन, आदित्य उपाध्याय, प्रवीण दीक्षित

➲ **सहयोग** : सुदीप सोहनी, हेमंत देवलेकर, एकता सोहनी

विश्व रंग: आगे का रास्ता

संपादकीय

'रंग संवाद' का यह विशेषांक भोपाल में आयोजित 'विश्व रंग' 2019 के अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। इसमें विश्व रंग के सत्रों और अवधारणाओं पर प्रकाश डालते ऐसे प्रमुख आलेख हैं जो पिछले वर्षों में 'रंग संवाद' में प्रकाशित हुये। इनके आलोक में 'विश्व रंग' के पूरे आयोजन और उसके आगे के रास्ते पर एक नज़र डालना मुझे ज़रूरी लगता है।

मीडिया में प्रकाशित रिपोर्ट्स, विश्व रंग के अखबारों में प्रकाशित समाचार, विश्वरंग के डेली बुलेटिन, आमंत्रित अतिथियों के वक्तव्य तथा विदेशी रचनाकारों के वीडियो और ऑडियो फीडबैक, जो प्रिंट मीडिया, सोशल मीडिया तथा यूट्यूब आदि पर उपलब्ध हैं, से स्पष्ट है कि जिस तरह से भोपाल शहर ने विश्व रंग का स्वागत किया, वह आशातीत था। लगभग 30 देशों के 500 से अधिक रचनाकार, कलाकार महोत्सव में पधारे और उन्होंने इसमें बड़े उत्साह के साथ भागीदारी की। करीब 15000 लोगों ने महोत्सव में शामिल होने के लिए ऑनलाइन रजिस्ट्रेशन कराया था, और प्रतिदिन 5 से 6 हजार लोग विभिन्न एकेडमिक सत्रों में, शाम के लोकप्रिय सत्रों में तथा प्रदर्शनियों में आते रहे। भोपाल के 30 सर्वोत्तम स्कूलों के लगभग 3 हजार छात्र-छात्राएं इस फेस्टिवल में आए, और इसकी विभिन्न गतिविधियों का अवलोकन भी किया। खास बात यह भी है, कि चीन के 20 छात्रों का विशेष अध्ययन दल सभी लेखकों- कलाकारों से मिला और लेखन और कला-संस्कृति पर उनसे सार्थक संवाद भी किया। भारत भवन में नेशनल पेंटिंग एग्जीबिशन में लगभग 200 नवोदित चित्रकारों के चित्र प्रदर्शित किए गए। कुल मिलाकर देशभर से 1000 से अधिक एंट्रीज प्राप्त हुई थी। 'हिस्ट्री ऑफ आर्ट्स' विषय पर नेशनल सेमीनार आयोजित किया गया और विश्व कविता तथा विश्व में हिंदी विषयों पर महत्वपूर्ण सत्र आयोजित किए गए। देश के 200 वर्षों के कथा साहित्य को समेटे हुए 18 खंडों में निर्मित कथादेश का लोकार्पण हुआ। वहीं दूसरी ओर हिंदी के 40 चयनित कथाकारों का अंग्रेजी अनुवाद 'अ जर्नी इन टाइम, गोल्डन ट्रेजरी' भी दो खंडों में प्रकाशित होकर लोकार्पित हुआ। थर्ड जेंडर की कविताओं का एक महत्वपूर्ण सत्र भी आयोजित हुआ। गांधी, टैगोर, इकबाल और फैज पर महत्वपूर्ण व्याख्यान विश्व रंग में हुए। प्रवासी भारतीयों की रचनात्मकता पर केंद्रित तीन सत्र तथा विदेशी कवियों के कविता पाठ के दो महत्वपूर्ण सत्र आयोजित हुये। अंतरराष्ट्रीय मुशायरे में उर्दू के 15 शीर्षस्थ शायरों ने करीब 4 हजार श्रोताओं को तीन से चार घंटे तक बांध कर रखा। सातों दिन लोक संगीत तथा लोकनृत्य की छटाएं भी समय-समय पर देखने मिलीं। इस तरह विमर्श की दृष्टि से और भागीदारी की दृष्टि से विश्व रंग आशातीत रूप से सफल रहा तथा उसे अभूतपूर्व और अनोखा आयोजन माना गया। जिस तरह की धनात्मक ऊर्जा का उसने संचार किया, वैसी ऊर्जा कई प्रतिभागियों के अनुसार, देश में पहले कभी देखी नहीं गई थी।

मुझे ऐसा लगता रहा है कि अधिकतर साहित्य उत्सव बड़े शहरों में सिमटते जा रहे हैं और तृणमूल से उनका रिश्ता लगभग नहीं के बराबर होता है। दूसरे टैक्नॉलॉजी के आने के बाद पुस्तक पढ़ने की संस्कृति का भी धीरे धीरे लोप हो रहा है, जिसकी ओर वापस लौटने की जरूरत है। इन दोनों ही लक्ष्यों को सामने रखकर 'विश्व रंग' के पहले पुस्तक यात्रा की संकल्पना की गई। हमारे पांचों विश्वविद्यालयों के आसपास लगभग 10-10 छोटे शहरों और कस्बों का एक क्लस्टर चिन्हित किया गया, जिसमें स्कूलों को केंद्र में रखते हुए यात्राएं निकाली गई। 15-15 दिन की इन 5 यात्राओं ने 55 शहरों और रास्ते में पड़ने वाले गांवों के

करीब 100 स्कूलों की यात्रा की, लगभग एक लाख विद्यार्थियों से संवाद स्थापित किया और जगह जगह होने वाली संगोष्ठियों में करीब 1 हजार साहित्यकारों, कलाकारों, लोक कलाकारों ने हिस्सा लिया। पुस्तक यात्रा के दौरान लेखकों और वैज्ञानिकों पर आधारित प्रदर्शनियों का आयोजन हुआ, विद्यार्थियों के लिए साहित्य और विज्ञान केंद्रित प्रतियोगिताएं तथा क्विज आयोजित की गईं और हिन्दी में विज्ञान पुस्तकों पर प्रदर्शनी लगाई गई। लगभग 9 हजार किताबें विक्रित भी हुईं। पुस्तक यात्रा इस भ्रम को तोड़ती है कि बच्चों में किताब पढ़ने या जानने की भूख कम हुई है। असल में तो हमीं ने उनके पास जाना छोड़ दिया है। इस अनुभव के बाद हमने करीब 1,00,000 पुस्तक मित्र बनाने का निश्चय किया है। यात्रा के दौरान सभी जगह स्थानीय संगठनों ने भागीदारी की और नए लोग भी इनसे जुड़े। यात्राओं का जगह जगह पर अभूतपूर्व स्वागत हुआ। तृणमूल स्तर पर लगभग 100 नए वनमाली सृजन केन्द्र बनाए जाने की मांग आई और बिहार तथा झारखंड में वनमाली सृजनपीठ का गठन हुआ। हमें सैकड़ों ऐसे संगठनों/पुस्तकालयों/अध्ययन केन्द्रों की जरूरत है, जो समन्वित रूप से काम कर सकें और स्थानीय संस्कृति, भाषा और बोली के संवर्धन का काम करें। हमारे विश्वविद्यालय अपने-अपने क्षेत्र में सोशल इनोवेटर का काम करते रहेंगे, और हम भविष्य में और बड़ी पुस्तक यात्राएं निकालेंगे। कई बड़े प्रकाशकों ने भी साथ आने की इच्छा जाहिर की है।

जीवन के उपकरणों को साधने का प्रयोजन एक दूरगामी प्रक्रिया है। मेरा मानना है, कि यह उपकरण संगीत-कला तथा साहित्य के पास ज्यादा हैं, बनिस्बत विज्ञान के। अगर हमें आज के समय में किसी अंतर्राष्ट्रीयता की तलाश करनी है, तो एक बार फिर गांधी और टैगोर की ओर दृष्टिपात करना होगा, कलाओं के भीतर अंर्तसंबद्धता की तलाश करनी होगी तथा प्रकृति से समन्वय स्थापित करना होगा। इन सभी दिशाओं में विश्व रंग ने सफल शुरुआत की है। विश्व रंग का सबसे बड़ा हासिल, उत्साह तथा उम्मीद की वह भावना है, जिससे लबरेज होकर सभी प्रतिभागी लौटे। कईयों ने तो लिखा, कि वे लौटना नहीं चाहते हैं और विश्व रंग को कभी नहीं भुला पाएंगे। इस प्रेम और भाईचारे की खुशबू अब तक शहर में फैली हुई है। विशेषकर प्रवासी भारतीयों ने जिस तरह से देश को याद किया वह मन को भिगो देने वाला है।

विश्व रंग इस घोषणा के साथ समाप्त हुआ है, कि हम फिर लौटेंगे। फिलहाल तो विश्व रंग की एक वैश्विक समन्वय समिति बनाई जा रही है, जो करीब 20 देशों में विश्व रंग की अवधारणाओं को आगे बढ़ाने का काम करेगी। इनमें रूस, उज़्बेकिस्तान, कजाकिस्तान, ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, डेनमार्क, सिंगापुर, ऑस्ट्रेलिया जैसे देश शामिल हैं। भारत में भी अब तक काम कर रही समन्वय समिति को औपचारिक रूप दिया जा रहा है, जिसमें सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। सोशल इनोवेशन में विश्वविद्यालयों की भूमिका विश्व भर में केंद्रीय स्वरूप ग्रहण करती जा रही है और देश के प्रमुख सामाजिक उद्यमी और इन्नोवेटर के रूप में हमारे विश्वविद्यालय इसमें शीर्षस्थ भूमिका निभाएंगे। हर्ष की बात है कि ब्रिटेन, नीदरलैंड्स अमेरिका एवं रूस जैसे कई देशों से मिनी विश्व रंग आयोजित करने के प्रस्ताव आए हैं। फिलहाल भोपाल में 2 वर्षों में एक बार विश्व रंग आयोजित करने की योजना है। उसमें बच्चों पर केंद्रित बाल रंग भी शामिल किया जाए ऐसा प्रस्ताव है। 'विश्व रंग' के नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका निकालने का भी विचार है। यह तय है, कि भोपाल में विश्व रंग के सफल आयोजन के बाद एक वैश्विक नेटवर्क उभरेगा तथा विश्व रंग और बड़ा होकर लौटेगा।

'रंग संवाद' इस नेटवर्क की प्रमुख पत्रिका होगा। इस अंक को देखें, पढ़ें, अपने विचार हमें अवश्य लिख भेजें।

नये वर्ष की शुभकामनाओं सहित,

● **संतोष चौबे**

● मनोज श्रीवास्तव

समय और संस्कृति

जिस संस्कृति को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए वो केवल आचरण में आदमी होने की तमीज़ है, वह दाय नहीं है, दायित्व है। अतीत को वर्तमान में जीवित और प्रतिबिम्बित करने की महत्वाकांक्षा नहीं है, वो रुढ़ि और दुराग्रह का तपता हुआ बंजर पठार भी नहीं है, वो है अपनी आइडेन्टिटी की तलाश और यह तलाश सिद्ध करती है कि संस्कृति स्मृति नहीं है, कोशिश है। परम्परा नहीं, प्रयोग है।

हमारे समय को हमारी संस्कृति के विरुद्ध एक छुरे की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है यानी जिस समय में हुआ कि सोवियत संघ में दो करोड़ लोगों को कम्युनिस्ट विरोधी होने के आरोप में मौत के घाट उतार दिया, कि नाजियों ने जर्मनी में पिचहत्तर लाख लोगों को मार डाला और उनके द्वारा छेड़े गये विश्व युद्ध में करीब बारह करोड़ लोग काल कवलित हुए, कि चीन में दो करोड़ लोग कम्युनिस्ट के विरोध में मौत के घाट उतार दिये गये, कि ग्वाटेमाल में एक लाख मय इण्डियन्स को, मय सभ्यता के भारतीयों को 1960–1981 के बीच खोज–खोज के मार डाला गया, कि जहाँ हिरोशिमा और नागासाकी हुए, कि जहाँ बम ब्लास्ट हुए, कि जहाँ पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान में जो हत्याएँ कीं, उसे अभी 1997 में लिखी एक पुस्तक में आर.जे. रमेन ने जेनोसाइड की जगह डेमोसाइड का नाम दिया। एन्थोनी मेस्करहंस और डोनल्ड वी.चिल्ड्रा ने इसकी संख्या बतायी है 10 से 30 लाख। लेनिन फिडरल और कास्त्रों पर 30–30 हजार हत्याओं से कम का प्रत्यक्ष दोष नहीं मढ़ा गया।

उस समय में मैं सोचता हूँ और ये सोचकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि उस समय में इतनी ताप बची है कि वो हमारी संस्कृति को आँखें दिखा सके। इन सब नृशंसताओं से नितान्त निरपेक्ष संस्कृति पर प्रश्न खड़े करते चलते हैं। मैं पहले संस्कृति के बारे में कुछ बुनियादी और शुरुआती सफाई देता हूँ और वो सफाई भी प्रश्नों के माध्यम से ही। संस्कृति क्या है? एक क्षय है, जो वर्तमान को उसकी आधुनिकता से जोड़ता है। एक भार है, जिसे सहर्ष वहन करके हम अपने उन पूर्वजों के प्रति जिन्होंने हमें जन्म दिया, आभार प्रकट करते हैं? अपने जातीयबोध और स्मृति के नाम पर कुछ निश्चित स्थिर सूत्रों का मिस्ट्रवेशन है, एक निरपेक्ष स्वप्न है कि यूथोपिया? प्राथमिकताओं, वरीयताओंको बदलने की पूँजीवादी चाल है या चिर आजमाया हुआ रामबाण, जिसका चक्षु चिरवण हमारे कष्टों व रोगों को

छूमन्तर कर देगा, कोई पहनावा है, कोई धोती, कुर्ता, कमीज है? मेरा विचार है कि जिस संस्कृति को हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए वो केवल आचरण में आदमी होने की तमीज है, वह दाय नहीं है, दायित्व है। अतीत को वर्तमान में जीवित और प्रतिबिम्बित करने की महत्वाकांक्षा नहीं है, वो रुढ़ि और दुराग्रह का तपता हुआ बंजर पठार भी नहीं है, वो है अपनी आइडेन्टिटी की तलाश और यह तलाश सिद्ध करती है कि संस्कृति स्मृति नहीं है कोशिश है। परम्परा नहीं है, प्रयोग है। अपनी अस्मिता के होने को उचित सिद्ध कर पाने के लिए किया गया उद्यम संस्कृति है। वो कोई धरोहर, जमा पूँजी, उत्तराधिकार या विरासत मात्र नहीं है। अधिक से अधिक वो इस बात की परिचायक है कि इस धरोहर को लेकर आप करते क्या हैं? राम नाम के 108 जापों की तरह मात्र उच्चारण करते हैं और अपनी यथास्थितिशीलता का चेक भुनाते हैं या फिर इस जमा रोकड़ में अपनी तरफ से उपलब्ध कुछ अधिक जोड़कर अपने होने को प्रमाणित करते हैं। मुश्किल ये हुई है कि हम हिन्दुस्तानी संस्कार को, जिससे संस्कृति शब्द बना है कोई ऐसा रिक्त समझ बैठे हैं, जो अपने परवर्तियों को दिया जाता है। ये समझ औसत भारतीयों की दुर्दशा का कारण है। हम संस्कार देते हैं, करते नहीं। इस क्रिया विपर्यय में हमारी सारी जड़ता, पिछड़ेपन, अन्धविश्वास और अधोगति का रहस्य छुपा हुआ है। संस्कार देना और करना, जब तक हम इन दोनों के बीच विद्यमान अन्तर को नहीं समझ लेते, तब तक हमारी कोई मुक्ति सम्भव नहीं। संस्कृति का अर्थ है अपना निरन्तर संस्कार करना, लगातार परिमार्जन करना, अप्रतिहद परिस्कार करना, सतत् संशोधन करना। मुझे याद आता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कुछ लोग पद पाकर गौरवान्वित होते हैं और कुछ पाये हुए पद को गौरवान्वित करते हैं।

महान वैज्ञानिक अब्दुल कलाम हमारे कुछेक महान राष्ट्रपतियों की पाँत में अलग प्रभा लेकर खड़े दिखाई देते हैं। वे जब इस महान गणतंत्र के प्रथम पुरुष के रूप में आसीन हुए थे, तब जो मैंने अपनी दैनन्दिनी में दर्ज किया था, वहीं उन्होंने अपने युवा प्रशंसक की आटोग्राफ बुक में लिखा था कि बुजुर्गों को छाती पर नहीं सामने की आराम कुर्सी पर बिठाओ। हमारी त्रासदी यही है कि 'हमने अपने बुजुर्ग अतीत को छाती पर चढ़ा रखा है, जहाँ वह बराबर मूँग दल रहा है'। संस्कार दिया जाना इस असंगत क्रिया के साथ संस्कार प्रयोग के परिणामस्वरूप हम मिट्टी के अन्धकार में धंसे रह गये हैं, अंकुरित और प्रकाशित नहीं हुए। अतीत को छाती पर चढ़ा लेने की बजाय अचेतन (अनकान्शस) में ही जमा रहना देना चाहिए। क्योंकि पहली स्थिति में जहाँ वो शोषण, अत्याचार और आत्महनन का औज़ार बन जायेगा, दूसरी दशा में वह हमारी प्रेरणा और स्फूर्ति सिद्ध होगा। यहीं पर मैं ये भी कहना चाहता हूँ कि कुछ लोग अतीत से कटी हुई आधुनिकता के दंभ में कुछ फूलकर विगत का साग्रह तिरस्कार करते हैं और ये ज़्यादा गम्भीर अपराध लगता है, क्योंकि ये मिट्टी के अन्धकार में ही सही हमारी जड़ों को निर्भीकता से इस तरह धंसने और फैलने नहीं देता कि हमारी रचनात्मक ऊर्जा का पौधा स्वतः ही प्रस्फुटित और पल्लवित हो।

कुछ लोग अतीत से कटी हुई आधुनिकता के दंभ में कुछ फूलकर विगत का साग्रह तिरस्कार करते हैं और ये ज़्यादा गम्भीर अपराध लगता है, क्योंकि ये मिट्टी के अन्धकार में ही सही हमारी जड़ों को निर्भीकता से इस तरह धंसने और फैलने नहीं देता कि हमारी रचनात्मक ऊर्जा का पौधा स्वतः ही प्रस्फुटित और पल्लवित हो।

आधुनिकता के नशे में हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य भूल रहे हैं कि आज का मनुष्य अपने मन की गहनतम तहों में अपने अतीत के सभी जीवन्त अंशों को बराबर ढोता चला जा रहा है, कालियुग ने सामूहिक अवचेतन 'कलेक्टिव अनकान्शस' के प्रत्यय को प्रतिपादित और परिभाषित जब किया था तो उसने लिखा था कि मनुष्य के सामूहिक अवचेतन का साँचा प्रायः एकसा होता है, जिसकी अभिव्यक्ति जातीय अवदानों, मित्स और आदि बिम्बों के रूप में होती है। आर्केटाइपल इमेजेस के रूप में एक प्रकार का आवर्तक साँचा है, रेक, रेन फेडरन है जो घूम-फिर कर प्रत्येक देव और प्रत्येक देश की संस्कृति में अभिव्यक्त होता है। इसी कारण इतिहास स्वयं को दोहराता है, यह मान्यता प्रचलित है। कला की खूबसूरती इसमें है कि वो वातावरण में घुलती है, निजी और वैयक्तिक और स्वांतः सुखाय होने के बाद भी वातावरण में घुलती है। कलाकार की आत्मा सृष्टि के अपार कार्य-व्यापार में ग्लाइड करती है, कला स्वयं प्रकाशी है। इसके बावजूद भी वह अपने आलोक का विकरण नहीं रोक सकती। कैनवास कलाओं में भी, स्टिल लाइव चित्रों में भी मुझे नैरन्तर्य और गति आभासित होती है। मानो ऊर्जा का एक पुन्ज है, जो एक चक्र भी है। कला अपने समय का अन्धेरा ही दूर नहीं करती, वो आकार ही तब लेती है, जब ये अन्धेरा मन के भीतर का अवसाद बन जाता

है। फिर धीरे-धीरे किरणों का एक निर्झर फूटने लगता है। क्या एथेन्स पतलोरेन्स, रोम और अन्य राज्यों की कला और साहित्य उसी समय उत्कृष्ट पर नहीं पहुँचे थे, जब उनका भौतिक और नैतिक क्षय शुरू हो गया था। व्यापक अज्ञानता और गुलामी के तिमिर में प्रतिभा के उज्जवलतम प्रवाह कहीं से फूट पड़ते हैं, कोई तुलसी के यहाँ से अवतीर्ण होता है, अभिव्यक्ति के खतरे उठाता है। लोग कहते हैं कि कला स्वतंत्रता की उपस्थिति में सम्भव होती है, मैं कहता हूँ कि कला स्वतंत्रता की अनुपस्थिति में ज्यादा प्रमाणिक तरीके से पनपती है।

अन्धेरे के अहसास की सघनता जितनी बढ़ती जाती है, अपने समय की स्पिरिट की पहचान जितनी प्रखर होती जाती है, जितना दमन की ताकतों का दर्प बढ़ता जाता है, जितना कवि से उनकी विराट मुठभेड़ का संकल्प प्रबल होता जाता है। युग की आत्मा का जितना निवेश उसके भीतर होता जाता है, उतनी कला की प्रवीणता बढ़ती जाती है या अन्धेरे में जैसे मुक्तिबोध की कविता हो 'यह अमा दिशा में अन्धकार', दुष्यन्त की 'धुँए का एक घेरा' की अनुभूति हो, दृश्य के साक्षी बनते 'राम की शक्तिपूजा' हो या 'भीगे नैनों' से अपने समय के प्रलय प्रवाह का ओब्जर्वेशन हो। हमेशा बात जो है, उस अनकम्फरटेबल सेन्स आफ स्काट की है, अड़चन में पड़ी हुई असहमति की तीव्रता की। संस्कृति के लोग प्राय: सेल्फ अवेयरनेस के रूप में आत्म के जाग्रति के रूप में परिभाषित करते हैं। शायद वो हो भी लेकिन वो उस परिवृक्ष के प्रति भी जाग्रति है, जहाँ आत्मा के मैनुकुलेशन से पालिटिक्स चलती है।

क्या भारतीयों की एक विशेषता हम सबका ध्यान नहीं खींचती कि हम हिन्दुस्तानियों में एक तरह की अन्तर्सांस्कृतिक सम्बद्धता है, एक अन्तर्सांस्कृतिक क्षमता। भारतीय हर वातावरण में पनपता है, उसके सामने वह भावनात्मक परिपक्वता है, उसके भीतर और वो भौतिक शक्ति भी है, जिसके चलते वह उभर कर सामने आता ही है। यह विशेषता यहूदियों में भी है। लेकिन उसमें एक फर्क है यहूदियों को अपने मूल देश को छोड़कर दुनिया भर में भटकना पड़ा, त्रासदियाँ झेलीं उन्होंने। जबकि भारतीयों को उनका अपना देश हमेशा उपलब्ध रहा। हालाँकि एक हज़ार साल की गुलामी ने उन्हें अपने ही देश में पराया जरूर बना दिया। देखने की बात यह है कि आधी दुनिया को गुलाम बना लेने के बावजूद यह इण्टर कल्चरल, काम्पीटेण्ट, ये अन्त: सांस्कृतिक सार्म्थय विषमता दोनों में नहीं आयी। प्रभु भाव सीखने की जो एक सतत् विनम्रता का लाभ नहीं देती, जो 'स्व' से ज्यादा 'स्वत्व' की चिन्ता में लीन थे, जो सेल्फ अवेयरनेस की जगह मिल्कियत की फैलावट को अपनी प्राथमिकता मानते थे। उन गौरांग महाप्रभुओं को उपनिवेशवादी व्यवस्था में भी असहज लगता रहा और वो आज भी है।

भारतीयों की एक विशेषता हम सबका ध्यान नहीं खींचती कि हम हिन्दुस्तानियों में एक तरह की अन्तर्सांस्कृतिक सम्बद्धता है, एक अंतरर्सांस्कृतिक क्षमता। भारतीय हर वातावरण में पनपता है, उसके सामने वह भावनात्मक परिपक्वता है उसके भीतर और वो भौतिक शक्ति भी है, जिसके चलते वह उभर कर सामने आता ही है।

दरअसल बहुदेववाद जो है, वह विकल्पों की बहुलता का जो मनोविज्ञान तैयार करता है, वह दुनिया की विविधताओं के प्रति अंगीकृत का भाव भी पैदा करता है। जबकि एकलदेववाद में ही कहीं कुछ ऐसा है, जो दुनिया को होमोजिनाइज करता है। पहले ये कालोनाइजेशन के जरिये करता था। आज ये इको-कोलोनाइजेशन के जरिये करता है। 1900 में सेसेल रोड्स ने न्यू वर्ल्ड आर्डर का सपना देखा था। जब उसने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका को विश्व शान्ति के लिए संयुक्त रूप से एक फैडरल विश्व सरकार, जिसकी भाषा अंग्रेजी हो, अधिरोपित करनी चाहिए 'विश्व शान्ति' के लिए। लायनल क्रिट्स को भी इस विचार पर बहुत विश्वास था और वे वेट्रो विल्सन के घनिष्ठ परामर्शदाता थे, एडवर्ड एम. हाउस उनको भी। कुर्टिस की 1938 में जो एक कृति प्रकाशित हुई 'द कामन वेल्थ आफ गॉट' उसका सार यह था कि संयुक्त राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा संयुक्त रूप से स्थापित एक विश्व सरकार और उस विश्व सरकार को ईश्वर की कृति के रूप में पेश किया जाये 'अनेक्ट आफ गॉड।' टाइम पत्रिका में अभी 20 जुलाई 1992 को राष्ट्रपति क्लिंटन के विदेश राज्यमंत्री स्ट्रोब टालबोट कहते हैं कि अगली शताब्दी में राष्ट्र जीर्ण-क्षीर्ण हो जायेंगे और एक वैश्विक एकल प्राधिकारी, ग्लोबल सिंगल अथारिटी को सभी राज्य मान्य करेंगे। ये होमोजिनाइजेशन है, जो एकलदेववाद से पनपता है, वो अन्तत: सिंगल अथॉरिटी तक पहुँचता है।

सन् 2000 में एक एलबम आया था रेड हाट, 'रेड हाट चीनी पेपस'। उस एलबम में एक गाना था

'कैलीफोर्निकेशन'। उसकी एक पंक्ति थी 'टाइटल सेव्स कुड इन वर्ल्ड फाम आफ कैलिफोर्निकेशन।' समुद्री ज्वार की तरंगें भी दुनिया को कैलिफोर्निकरण से नहीं बचा सकीं। बहुदेववाद में दृष्टि का जो एक जनतंत्र है, वहाँ स्थानीयताओं की विपुलताओं का सम्मान है और उसके ठीक पीछे जो दृष्टि है, उसके विश्व स्वप्न में एक तरह का विसन्दर्भीकरण है।

सन्दर्भ और अप्रसंग की विशिष्टताओं का आदर होने लगे तो विश्व व्यापार संगठन का पूरा ढाँचा ही जमींदोज हो जायेगा। इसलिए इस दौर के समय के कुछ सांकृतिक संघर्षों को ध्यान से देखिये। विश्व व्यापार संगठन की जो व्यवसाय विधि है, उसको ध्यान से देखें। वहाँ समझौते के सभी क्षेत्र जो हैं, वे संस्कृति के तर्कों को सीमित करते हैं। विश्व व्यापार संगठन के गठन से लेकर अभी तक संस्कृति सम्बन्धी जो साक्ष्य इकट्ठी हुई है और जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में गयी है, उसमें जितने भी निर्णय हुए हैं, वे सभी निर्णय किसी देश के द्वारा अपनी संस्कृति को संरक्षित करने के अधिकार को परिसीमित करते हैं। 1997 का एक निर्णय है, जो कनाडा के विरुद्ध हुआ। वो अमरीकी सांस्कृतिक एकाधिपत्य को सुनिश्चित करना है। जब कोई क्राफ्ट, कोई शिल्प इस एकाधिपत्य के चलते खत्म होता है, तो उससे जुड़े सबद और रमैनी, लोक गीत, जीवन शैलियाँ अभिव्यक्तियाँ और कलाओं की शताब्दियों से चली आ रही अनुगूँजें भी खत्म होती हैं। क्या जुलाहा कबीर नहीं होता या चर्मकार रैदास न था। एक कारीगर के पड़ौस, एक कारीगर की रसोई रचनात्मकता और आध्यात्मिकता की कितनी तहों से महकती थी पीपा, धन्ना, नानक, सेन ये सब अपने व्यवसाय को अपनी भाषा से पृथक नहीं रख सकते थे।

आज इन्हीं लोगों को टाइम वार्नर के और डिजनी के और वालमार्ट के इन्हीं तर्कों से जूझना है, जो सांस्कृतिक संरक्षणवाद के विरोध में गढ़े गये हैं। वो तर्क चूँकि आर्थिक संरक्षणवाद और सांस्कृतिकवाद को एक ही धरातल पर ऐसे रखते हैं मानो भाषा भी किसी कारखाने का उत्पाद है।

रेखांकनः अशोक भौमिक

● संतोष चौबे

परंपरा और आधुनिकता

परंपरा के नाम पर जो हमें सामने दिखता है वह है हमारी विभिन्न पूजा पद्धतियाँ, आचार, व्यवहार, वस्त्र, परिधान, बोली, बानी, व्रत, उपवास, शादी, विवाह तथा सामाजिक संगठन। आधुनिकता के नाम पर कई ऐसी चीजों को शामिल कर लिया जाता है जो उपरोक्त 'परंपरा' के विरुद्ध हों। पर क्या हमारी 'परंपरा और आधुनिकता' का सच कुल इतना ही है या इसकी गहरी जड़ें हमारे इतिहास और स्मृति में जाती हैं?

कुछ दिन पहले ही में मुझे 'परंपरा और आधुनिकता' विषय पर केंद्रित एक संगोष्ठी में भाग लेने का अवसर मिला। हमारे देश में यह बहस सदियों से चली आती है। स्वतंत्रता आंदोलन के लगभग सौ वर्षों के दौरान इसने और भी ज़ोर पकड़ा। विदेशी आक्रांता के विरुद्ध लड़ाई के लिये भारतीय संस्कृति और अस्मिता की स्थापना, एक अत्यंत आवश्यक हथियार के रूप में सामने आई। इसी दौरान 'पूरब' तथा 'पश्चिम' के रूप में मूल्य विभाजन हुआ, फिर इन मूल्यों में टकराव और श्रेष्ठता की लड़ाई प्रारंभ हुई जिसमें बहुत दूरी तक भारतीय मनीषियों ने विजय प्राप्त की। पहले स्वामी विवेकानंद ने विचार के स्तर पर भारतीय मेधा की प्रस्तुति से पूरे विश्व को चमत्कृत किया फिर गांधी ने इसे प्रतिरोध का अस्त्र बनाया। श्री अरविंद ने 'फाउंडेशन आफ इंडियन कल्चर' में भारतीय संस्कृति के पक्ष में एक मजबूत दावेदारी पेश की और उस समय के लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने भारतीय संस्कृति, इतिहास और परंपरा के अन्वेक्षण का गहन प्रयास किया। डा. राधाकृष्णन की किताब 'इंडियन फिलासफी' तथा हुमायूं कबीर की किताब 'इंडियन हेरीटेज' के नाम अनायास ही दिमाग में आते हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती से लेकर महात्मा फुले तक, सारे सामाजिक आंदोलनों में भारतीयता की पुनः प्रतिष्ठा के प्रयास दिखते हैं।

लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दृश्य तेजी से बदला है और बहस आधुनिकता से होते हुये उत्तर आधुनिकता तक आ गई है। इतिहास और स्मृति से लेकर कला तक, सभी के अंत की घोषणा की जा रही है और इस तरह उन सभी नक्शों को हमारे स्मृति पटल से गायब करने का प्रयास है जिनके माध्यम से हम अपनी दिशा तलाश सकते थे। मैंने 'परंपरा और आधुनिकता' के सवाल को इसी पृष्ठ भूमि के आलोक में देखने का प्रयास किया है।

विषय प्रवेश करते ही यह सुपरिचित सा दिखने वाला विषय कठिन लगने लगता है। परंपरा के नाम पर जो हमें सामने दिखता है वह है हमारी विभिन्न पूजा पद्धतियाँ, आचार, व्यवहार, वस्त्र, परिधान, बोली, बानी, व्रत, उपवास, शादी, विवाह तथा सामाजिक संगठन। इसी तरह आधुनिकता के नाम पर कई ऐसी चीजों को शामिल कर लिया जाता है जो उपरोक्त 'परंपरा' के विरुद्ध हों। जैसे अगर आप अधार्मिक हैं, पूजा या ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, भारतीय परिधान के बदले पैंट-कमीज पहनते हैं, हिन्दी के बदले अंग्रेजी बोलते हैं तो आप आधुनिक हैं। पर क्या हमारी 'परंपरा और आधुनिकता' का सच कुल इतना ही है या इसकी गहरी जड़ें हमारे इतिहास और स्मृति में जाती हैं? और कला और साहित्य में इसका प्रतिबिंबन किस तरह होता है? 'इतिहास के अंत' की घोषणा के बावजूद मुझे लगता है कि अपनी परंपरा की सही पहचान के लिये हमें अपने इतिहास की सही पहचान होना आवश्यक है। मैं आगे चलकर यह दिखाने का प्रयास करूंगा कैसे चेतना इन 'ऐतिहासिक' प्रभावों को ग्रहण करती है और कैसे कला में उनका प्रतिबिंबन होता है। आइये सबसे पहले भारतीय इतिहास का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण कर लें।

अब यह पूरी तरह स्थापित है कि लगभग 3000 वर्ष ईसा पूर्व भारत में एक विकसित सभ्यता थी जिसे हम सिंधु घाटी की सभ्यता के नाम से जानते हैं। उत्तर-पश्चिम में मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा से लेकर राजस्थान में जैसलमेर तथा गुजरात में लोथल तक, इस सभ्यता के प्रमाण मिलते हैं. यह सभ्यता अपने संगठन में शहरी थी, शिव एवं शक्ति की पूजक थी तथा मूलत: शांत प्रवृति की थी। ईसा के लगभग 2000 वर्ष पूर्व से आर्यों का आगमन प्रारंभ हुआ जो धीरे-धीरे अनेक समूहों में भारत आये। करीब 1500 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व के बीच भारत में आर्यन सभ्यता का विकास हुआ। आर्य चरवाहा जाति के और गौ रक्षक थे, उनका समाज मूलत: ग्रामीण समाज था, वेद वे या तो साथ लेकर आये थे या यहीं उन्होंने उनकी रचना की पर वे वैदिक धर्म का पालन करते थे, उन्होंने तत्कालीन समाज में कार्य आधारित विभाजन किया जो आगे चलकर जातियों में विभक्त हुआ। पुनर्जन्म की अवधारणा इसी समय विकसित हुई। इन 1500 वर्ष के बीच पूरे भारत में आर्य संस्कृति का विस्तार हुआ। कृषि के साथ साथ व्यापार भी बढ़ा और उत्तर वैदिक साहित्य की रचना हुई। उस काल की स्मृति रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में सुरक्षित है जो भारतीय परंपरा का निर्माण करते हैं और जिनके बिना भारतीय समाज विपन्न ही माना जायेगा। शिव और शक्ति की पूजा, वैदिक धर्म और साहित्य, पुनर्जन्म तथा जाति की अवधारणा, गौरक्षा और पूजा का विचार तथा रामायण और महाभारत की कथाएँ हमारी सामूहिक स्मृति तथा परंपरा का अनिवार्य हिस्सा हैं। यह कोई संयोग नहीं कि रामायण एवं महाभारत, दोनों के ही नायक राम एवं कृष्ण सांवले हैं।

आर्य चरवाहा जाति के और गौ रक्षक थे, उनका समाज मूलत: ग्रामीण समाज था, वेद वे या तो साथ लेकर आये थे या यहीं उन्होंने उनकी रचना की पर वे वैदिक धर्म का पालन करते थे, उन्होंने तत्कालीन समाज में कार्य आधारित विभाजन किया जो आगे चलकर जातियों में विभक्त हुआ। पुनर्जन्म की अवधारणा इसी समय विकसित हुई।

आर्यों के आगमन के लगभग 1500 वर्षों के भीतर पूरे भारत में आर्य संस्कृति का विकास हुआ और ऐसा लगता है कि जाति प्रथा भी एक रुढ़ि के रूप में स्थापित हो गई। ईसा के लगभग 600 वर्षो पूर्व हम इस परंपरा से पहला विद्रोह बौद्ध और जैन धर्म के विकास के रूप में देखते हैं। दोनों ही जाति प्रथा के विरोधी थे। बौद्ध धर्म का जोर मध्यम मार्ग पर था जबकि जैन धर्म अहिंसा पर अत्यधिक बल देता था। (क्या आपको प्रतिरोध के अस्त्र के रूप में गांधी के अहिंसक आंदोलन की याद आई?) भारतीय इतिहास की एक निश्चित तिथि सिकंदर के आगमन से जुड़ी है जो 326 वर्षों ईसा पूर्व की है। हालांकि सिकंदर ने भारत में बहुत भीतर तक प्रवेश नहीं किया पर शायद यह पहला अवसर था जब पूर्व और पश्चिम की दो विकसित सभ्यताओं की आपस में मुलाकात हुई। कहते हैं कि सिकंदर के गुरु अरस्तु ने भारतीय दार्शनिकों से विमर्श की इच्छा जाहिर की थी और यहाँ से जाते समय वह अपने साथ कुछ भारतीय पंडितों को भी ले गया था। जो भी हो, सिकंदर के आगमन के बाद भारत वैसा नहीं रह गया जैसा कि वह था। ऊपरी आचार व्यवहार, खान-पान तथा वस्त्र परिधान में तो परिवर्तन आया ही, साथ ही राजनीतिक और सामाजिक संगठन में भी मूलभूत बदलाव हुये। सिकंदर के प्रस्थान के तत्काल बाद हम भारत में पहले साम्राज्य-चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का उदय देखते हैं जो

अफ़गानिस्तान से बंगाल तक फैला हुआ था। चंद्रगुप्त के नाती अशोक ने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण भारत तक किया और कलिंग की लड़ाई के बाद बौद्ध धर्म स्वीकार किया। मौर्य साम्राज्य में शासन का संचालन समितियों के माध्यम से किया जाता था, प्रशासन, कृषि, हस्तशिल्प और व्यापार में परिपक्वता आई थी, तथा साहित्य और कला, विशेषकर स्थापत्य में अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। सम्राट अशोक के लौह स्तंभ आज भी अनेक स्थानों पर खड़े हैं और उस समय की तकनीक का पता देते हैं। तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक संगठन की झलक हमें मेगास्थनीज एवं चाणक्य रचित ग्रंथों में दिखाई देती है। भारत से प्रारंभ होकर बौद्ध धर्म बर्मा, चीन, जापान, श्रीलंका, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया तक फैला और वहाँ सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में उसने महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह सब ईसा के जन्म से पहले की बात है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद, भारत पर उसी उत्तर पश्चिमी दिशा से शक, कुषाण जैसे कबीलों के हमले हुये और ईसा के बाद कनिष्क के राज्य की स्थापना के अलावा यह पूरा प्रदेश अस्थिरता की गिरफ्त में ही रहा। ये आक्रमण कर्ता भले ही युद्ध कला एवं अपनी उग्रता में तत्कालीन भारतीय शासकों पर भारी पड़ते हों, जो मौर्य साम्रज्य के पतन के बाद वैसे भी बिखराव के दौर से गुज़र रहे थे, पर सांस्कृतिक दृष्टि से वे कहीं पीछे थे और अंत में उन्होंने भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था में ही प्रश्रय प्राप्त किया।

ईसा के बाद तीसरी चौथी शताब्दी में गुप्त साम्रज्य के अभ्युदय को भारत का स्वर्णयुग भी कहा जाता है। शांति और व्यवस्था की स्थापना की दृष्टि से और कृषि तथा व्यापार में उत्थान की दृष्टि से यह भारत का स्वर्णयुग था भी। यही समय भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय का काल भी है। समुद्र गुप्त सम्राट होने के साथ साथ अच्छे संगीतज्ञ तथा साहित्यकार थे। कालिदास का रचनाकाल भी लगभग यही है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में साहित्य तथा विज्ञान में अभूतपूर्व प्रगति हुई। आर्यभट, चरक (कनिष्क के समकालीन) एवं सुश्रुत (बुद्ध के समकालीन) ने विज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन की जिस परंपरा का सूत्रपात किया था वह भारतीय विज्ञान की परंपरा के रूप में अक्षुण्ण चली आती है। गुप्त साम्राज्य के शासक हिंदू धर्म के मानने वाले थे हालांकि बौद्ध धर्म अभी समाप्त नहीं हुआ था। चीनी यात्री पाहयान ने इसका बड़ा रोचक विवरण अपने यात्रा वृत्तांत में दिया है। गुप्त साम्रज्य के पतन के बाद भारत में एक बार फिर अस्थिरता फैली जिसे 6वीं-7वीं शताब्दी के आते-आते उत्तर में हर्षवर्धन ने तथा दक्षिण में पुलकेशिन के साम्राज्य ने स्थिरता प्रदान की। चीनी यात्री व्हेन सांग हर्षवर्धन के काल में ही आये थे और उनका भी यात्रा वृत्तांत उपलब्ध है। वे बताते हैं कि हर्ष के काल में कानून और व्यवस्था की स्थिति अच्छी थी और हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव कमोबेश देश के अलग-अलग हिस्सों में था।

लगभग 4000 वर्षों के संक्षिप्त इतिहास के उपरोक्त विवरण से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक, हर्षवर्धन के समय तक आते-आते पूरा देश आर्यन संस्कृति के प्रभाव में आ चुका था, जिसकी साझा सांस्कृतिक विरासत थी। बार-बार देश को एक करने के प्रयास होते थे, साम्रज्य स्थापित भी हुये थे पर प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण न होने, संचार की मजबूत व्यवस्था न होने एवं उत्तर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण बार-बार ये साम्राज्य छिन्न-भिन्न भी होते थे। बाहर से आने वाले समूहों ने भारत को सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप से उन्नत पाया था और अपने आपको कार्य विभाजन के अनुसार किसी न किसी जाति में व्यवस्थित कर लिया था। हालांकि जाति व्यवस्था थी, पर उसका विरोध भी था।

भारत में मुसलमानों के आगमन को, अरब से सिंध में मुसलमानों के आगमन से जोड़कर देखा जाता है जो लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच हुआ पर वास्तव में वे करीब 100 वर्षों पूर्व ही कालीकट में आ चुके थे। केरल में उनकी धार्मिक गतिविधियाँ इस बीच प्रारंभ हुई। लगभग इसी समय में शंकराचार्य ने हिंदू धर्म के देश व्यापी प्रभाव को बढ़ाने के लिये देश भर की यात्रा की, चारों कोनों में मठ स्थापित किये और अद्वैतवाद का प्रचार किया। एक मत के अनुसार शंकर का अद्वैतवाद इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया में ही इतने शक्तिशाली रूप से उभरा। गजनी के सुल्तान महमूद ने इस बीच

भारत में मुसलमानों के आगमन को, अरब से सिंध में मुसलमानों के आगमन से जोड़कर देखा जाता है जो लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच हुआ पर वास्तव में वे करीब 100 वर्षों पूर्व ही कालीकट में आ चुके थे। केरल में उनकी धार्मिक गतिविधियाँ इस बीच प्रारंभ हुई। लगभग इसी समय में शंकराचार्य ने हिंदू धर्म के देश व्यापी प्रभाव को बढ़ाने के लिये देश भर की यात्रा की, चारों कोनों में मठ स्थापित किये और अद्वैतवाद का प्रचार किया।

अपने आक्रमणों को बढ़ाया और अब तक उभर चुकी राजपूत शक्ति से उसका लगातार टकराव हुआ। हालांकि सुल्तान महमूद यहाँ रुका नहीं और लूटपाट के बाद वापस गजनी जाता रहा। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के प्रथम प्रयास सल्तनत काल में हुये जिसकी शुरुआत 1206 ई. से मानी जाती है। शहाबुद्दीन द्वारा प्रारंभ किये इस वंश में आगे चलकर कुतुबुद्दीन और अलाउद्दीन हुये, जिन्होंने राज्य व्यवस्था में मूलभूत बदलाव किये। देश के ऊपरी सतह पर मुस्लिम प्रभाव बढ़ा लेकिन ग्रामीण भारत बहुत दूरी तक इससे अछूता ही रहा। शहरी क्षेत्रों में मुस्लिम जनसंख्या में बढ़ोतरी हुई जो आवश्यकता पड़ने पर शासक का साथ देती थी। 1526 से 1857 के स्वतंत्रता संग्राम तक दिल्ली की गद्दी पर मुगलों का शासन रहा जो 1707 में औरंगजेब के निधन के बाद लगातार कमजोर होता चला गया था। बाबर के बाद थोड़े समय के लिये शेरशाह सूरी ने भी अपनी चमक दिखाई हालांकि जल्दी ही उनका निधन हो गया।

मुगलों के पतन का एक बड़ा कारण मराठा शक्ति का उदय था। उन्होंने बार-बार औरंगजेब और उनके बाद के मुगल सम्राटों को कड़ी टक्कर दी। शिवाजी और उनके बाद के मराठा राजाओं ने दक्षिण एवं मध्य भारत में एक बड़े साम्रज्य की स्थापना में सफलता हासिल की पर अंत में न मराठा जीत पाये(पानीपत की तीसरी लड़ाई) और न मुगल हार पाये।

आधुनिक भारत के कई मूल आधार सम्राट अकबर के शासन काल में खोजे जा सकते हैं। प्रशासन व्यवस्था एवं भूमि कर के प्रावधान, समाज के सभी धार्मिक समूहों के साथ बराबरी का व्यवहार, राजपूत तथा अन्य समूहों को सत्ता में शामिल करना और विश्वास के आधार पर प्रशासन जैसे कई गुण अकबर के साम्राज्य में थे। इस्लाम ने जब हमारे देश में प्रवेश किया तब वह बिल्कुल अलग सा दिखने वाला विजातीय धर्म था पर एक हजार वर्ष के टकराव ने उसे भी समन्वय की ओर प्रवृत्त किया तथा कला, संगीत और स्थापत्य में इसके व्यापक प्रभाव पड़े जिनका मैं आगे जिक्र करूंगा। वे आज भी हमारी आधुनिकता का हिस्सा हैं।

मुगलों के पतन का एक बड़ा कारण मराठा शक्ति का उदय था। उन्होंने बार-बार औरंगजेब और उनके बाद के मुगल सम्राटों को कड़ी टक्कर दी। शिवाजी और उनके बाद के मराठा राजाओं ने दक्षिण एवं मध्य भारत में एक बड़े साम्रज्य की स्थापना में सफलता हासिल की पर अंत में न मराठा जीत पाये (पानीपत की तीसरी लड़ाई) और न मुगल हार पाये और गतिरोध की इस अवस्था ने, नवागत यूरोपियन ताकतों को सांस लेने की जगह प्रदान की जहाँ से धीरे-धीरे कर उन्होंने भारत में अपने पैर पसारे।

मुगल काल की एक बड़ी घटना भारत में भक्ति आंदोलन का प्रादुर्भाव था जिसमें उत्तर से लेकर दक्षिण तक तथा पूरब से लेकर पश्चिम तक अनेक संत कवियों ने हिस्सा लिया। नानक, तुलसीदास, दादू, कबीर, मीरा, नामदेव, तुकाराम, रैदास, चैतन्य जैसे कितने ही चमकते नाम हैं जिन्होंने भक्ति काव्य की रचना की, उसे संगीत दिया और भाषा को समृद्ध बनाया। मुसलमानों के आने के पहले लोक की भाषा प्राकृत और पाली थी और बौद्ध तथा जैन धर्म की अधिकतर रचनाएँ इन्हीं भाषाओं में मिलती हैं। साहित्य की भाषा संस्कृत चली आती थी। पर मुसलमानों के आगमन के साथ साथ फारसी का भी आगमन हुआ। प्राकृत और पाली ने धीर-धीरे अन्य भाषाओं, विशेषकर ब्रज भाषा के लिये स्थान छोड़ा। राजकाज की भाषा फारसी बनी। भक्ति आंदोलन के पहले और बाद में ब्रज भाषा का अभूतपूर्व विकास हुआ। यह इससे भी स्पष्ट है कि भारतेंदु युग तक ब्रजभाषा को 'भाषा' कहा जाता था और हिन्दी को 'खड़ी बोली'.

वास्कोडिगामा सन् 1498 में कालीकट पहुंचा था। वह मूलत: एक खोजी था जो भारत की संपन्नता की कहानियों से आकर्षित होकर, व्यापार के नये रास्तों की तलाश में भारत पहुंचा था। यूरोपियन ताकतों का भारत में आगमन 17वीं एवं 18वीं शताब्दी की घटना है। पहले आये पुर्तगालियों एवं डच लोगों ने साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की थी पर वे छोटे-छोटे सेटलमेंट बनाने के अलावा ज्यादा कुछ नहीं कर पाये। 17वीं शताब्दी के अंत तक वैसे भी मुगल साम्रज्य एक ताकतवर साम्रज्य था और उसकी कृपाप्राप्ति के बाद ही कोई दूसरी ताकत भारत में प्रवेश कर सकती थी। डच आगे चलकर ईस्ट इंडीज यानी मलेशिया की ओर चले गये और पुर्तगाली अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण छोटे सेटलमेंट तक ही सीमित रहे। सत्रहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं के प्रारंभ में ब्रिटश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की ओर रुख किया। भारत के पश्चिमी भाग में मराठा शक्ति तथा उत्तर में मुगल अपनी पूरी ताकत के साथ

उपस्थित थे। ब्रिटिश जमीनी रास्तों से नहीं समुद्री रास्तों से आये थे। पहले पहल उन्होंने कलकत्ता एवं पूर्व में अपने आपको स्थापित किया। जब वे भारत आये तब अपनी समृद्धि में भारत यूरोप से कहीं आगे था। वे व्यापारी के रूप में भारत आये थे और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के दीवानी अधिकार उन्हें मुगल सम्राट से ही प्राप्त हुये थे। 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई ने मुगलों और मराठों के बीच एक ऐसा शक्ति संतुलन पैदा किया जिसने राष्ट्रीय साम्राज्य को असंभव बना दिया। हैदराबाद में निजाम और मैसूर में हैदरअली कायम थे। इस बीच ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के पूर्वी राज्यों में अपने आप को मजबूती से स्थापित कर लिया। इन राज्यों पर मुगलों का आधिपत्य नाम मात्र का रह गया और कंपनी ही वास्तविक शासक बन बैठी. धीरे-धीरे उन्होंने बंगाल, फिर मैसूर और फिर पुणे को अपने नियंत्रण में लिया और इस तरह देश का अधिकांश हिस्सा उनके नियंत्रण में आ गया।

अंग्रेज जब भारत आये तो वे यूरोपीय नवजागरण से उत्पन्न नये विज्ञान एवं तकनीक, वैज्ञानिकता और राष्ट्रीयता के नये मूल्यों से सन्नद्ध थे। उनका भारत में, भारतीय संस्कृति में विलय नहीं हुआ। पर भारत में रेल्वे का विस्तार, टेलीकम्यूनिकेशन एवं डाक व्यवस्था की स्थापना, सेना एवं प्रशासन का आधुनिकीकरण और राजाओं तथा सामंतों पर सीमित नियंत्रण जैसे कई काम उन्होंने किये।

पर अपने अंतिम चरित्र में कंपनी, शासक नहीं व्यापारी थी। उसने अपने नियंत्रण में आये हिस्सों में भारी लूट खसोट मचाई। हेस्टिंग्स, कार्नवालिस और डलहौजी ने नये-नये तरीकों से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, भारतीय काम धंधों के दमन तथा कंपनी के इलाकों का विस्तार जारी रखा और भारत का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया। हमारी कृषि और काम धंधों पर गहरा प्रभाव पड़ा और जो भारत, अकबर के समय में विश्व के सर्वाधिक समृद्ध देशों में से था वह विपन्नता के कगार पर आ गया। हालांकि ब्रिटिश सरकार ने अपनी पार्लियामेंट में पास किये गये अनेक अधिनियमों के माध्यम से कंपनी पर नियंत्रण की कोशिश की पर वह नियंत्रण नाम मात्र का ही था और कंपनी पूरी स्वतंत्रता के साथ भारत का दोहन कर रही थी।

अंतत: 1857 में कंपनी के शासन के विरुद्ध विद्रोह हुआ जिसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नाम से जाना जाता है। यह विद्रोह मूलत: उत्तर तथा पूर्वी भारत में हुआ पर इसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम ही माना जाता है। यह विद्रोह कंपनी के शासन के विरुद्ध, उसकी नीतियों के विरुद्ध एवं भारतीयता के पक्ष में था। स्थानीय शासकों तथा अंग्रेजों द्वारा प्रशिक्षित भारतीय सैनिकों ने इसे अंजाम दिया था और हालांकि यह अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हुआ, इसने ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को समाप्त कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार ने सीधे भारत का नियंत्रण अपने हाथ में लिया और नई व्यवस्था कायम की।

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद देश फिर वैसा नहीं रहा जैसा कि वह था। मुगलों की सत्ता का औपचारिक रूप से अंत हो गया, और ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत को अपना उपनिवेश बना लिया। लेकिन इसके साथ ही स्वतंत्रता को लेकर जो चेतना भारतीयों के मन में उत्पन्न हुई, उसने नये नये रूपों में प्रतिरोध को संगठित करना प्रारंभ किया। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में शिक्षा और नवजागरण के अभूतपूर्व प्रयास भारत में प्रारंभ हुये। ज्योतिबा फुले ने जहाँ महाराष्ट्र में दलितों और स्त्रियों की शिक्षा को लेकर चेतना जाग्रत की वहीं देश के तीन बड़े शहरों कलकत्ता, बंबई और मद्रास में शिक्षा के केंद्र बनाये गये। बनारस में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय एवं अलीगढ़ में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की स्थापना पूरी तरह देशी प्रयास थे। नवें दशक में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ (हालांकि वह ए.ओ. ह्यूम नामक अंग्रेज के द्वारा प्रारंभ की गई थी जिसके आसपास उस समय के प्रबुद्ध भारतीयों ने एकत्र होना शुरु किया), पहले नरम और फिर गरम तरीकों से ब्रिटिश राज का विरोध प्रारंभ हुआ।

यही समय भारतेंदु एवं हिन्दी भाषा के प्रारंभ का काल है जिसमें आधुनिक हिन्दी ने अपना स्वरूप ग्रहण करना प्रारंभ किया, जिसे आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। साहित्य सृजन की भाषा के लिये ब्रज एवं उभरती हिन्दी भाषा का संघर्ष सर्वविदित है। पहले इस बात पर सहमति बनती दिख रही थी कि काव्य सृजन की भाषा के रूप में ब्रज भाषा का तथा गद्य के लिये हिन्दी का प्रयोग किया जाये लेकिन अंत में हिन्दी को ही मान्यता मिली। बीसवीं सदी के प्रारंभ से हिन्दी में व्यापक सृजन प्रारंभ हुआ जो अब नये नये रूपों और विधाओं में हमारे सामने है। यहाँ से हम प्रतिरोध की उस व्यापक पृष्ठभूमि तक पहुंचते हैं जिसका जिक्र इस लेख के शुरु में किया गया है।

सन् 1700 से लेकर 1857 तक तथा 1857 से लेकर 1947 तक के लगभग 250 वर्षों में अंग्रेजों के भारत पर प्रभाव की विषद विवेचना की गई है इस विवेचना के भी दो पक्ष हैं। पहला पक्ष धनात्मक है। अंग्रेज जब भारत आये तो वे यूरोपीय नवजागरण से उत्पन्न नये विज्ञान एवं तकनीक, वैज्ञानिकता और राष्ट्रीयता के नये मूल्यों से सन्नद्ध थे। उनका भारत में, भारतीय संस्कृति में विलय नहीं हुआ। वे इससे इतने अलग थे और अपनी उच्चता के दर्प में इतने ज्यादा डूबे थे कि ऐसा हो भी नहीं सकता था। पर भारत में रेल्वे का विस्तार, टेलीकम्यूनिकेशन एवं डाक व्यवस्था की स्थापना, सेना एवं प्रशासन का आधुनिकीकरण और राजाओं तथा सामंतों पर सीमित नियंत्रण जैसे कई काम उन्होंने किये जिससे आगे चलकर भारतीय राष्ट्र के उदय में मदद मिली। इनमें से कई कार्य उन्होंने अपनी सत्ता को मजबूत करने और भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिये किये थे, लेकिन विज्ञान और तकनीक का एक स्वायत्त स्वरूप भी होता है जो चेतना के स्तर पर कार्य करता है और जिसने हमें निश्चित ही प्रभावित किया।

भारत पर इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव और ईसाइयत तथा यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव में मूलभूत अंतर हैं। पहले पहल उन्होंने अपनी विजातीयता बनाये रखी और उस समय की विकसित भारतीय संस्कृति से उनका टकराव भी हुआ, पर लंबे समय की अंतर्क्रिया एवं निकटता ने धीरे-धीरे एक समन्वित संस्कृति को विकसित किया जिसने कला, संगीत, स्थापत्य तथा भाषा साहित्य के स्तर पर नये रूप रचे।

मैकाले द्वारा अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने की नीति और प्रयासों को अब व्यापक रूप से समझा गया है। उस पर पूरे देश में इतनी चर्चा और बहस की गई है कि उसके लगभग सारे पक्ष अब हमारे सामने हैं। अपनी पुस्तक 'भारतीयता की ओर' में पवन कुमार वर्मा ने इसका विस्तृत विवरण दिया है। मैकाले के असल उद्देश्यों का जिक्र करते हुये वे कहते हैं कि मैकाले का मानना था कि 'हमें अभी ऐसा वर्ग बनाना है जो कि अंग्रेजों और भारत की करोड़ों जनता के बीच संवाद का काम करे। वे लोग रंग और रक्त से हिंदुस्तानी होंगे। यह तबका वक्त के साथ हमारे ज्ञान को देश में फैलाने का माध्यम होगा।' इस शिक्षा ने भारतीय युवाओंको अपने काम धंधों से अलग कर बाबुओंमें बदल दिया। नौकरियाँ सीमित थीं इससे प्रतिस्पर्धा बढ़ी और बेरोजगारी भी। सबसे बड़ी बात ये कि भारतीयों का अपने ज्ञान की परंपराओं से विमुख होना शुरू हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इस प्रक्रिया का गहन अध्ययन और विरोध हुआ हालांकि इसमें बहुत बदलाव नहीं लाया जा सका।

इतिहास के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हमारी परंपरा की चार प्रमुख अंतर्धाराऐं पहचानी जा सकती हैं। एक, पूर्व में स्थापित द्रविड़ संस्कृति का आर्यों के आगमन के बाद धीरे-धीरे आर्यन संस्कृति में विलय और आर्यन संस्कृति का पूरे देश में विस्तार, दो, बौद्ध एवं जैन धर्म द्वारा रुढ़ हो चुकी जातिप्रथा एवं कुरीतियों का विरोध और भारतीय संस्कृति का पूर्व तथा मध्य एशिया तक विस्तार, तीन, इस्लाम का आगमन, उसका तत्कालीन भारतीय संस्कृति से टकराव एवं नई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का उदय तथा चार, ब्रिटिश राज की स्थापना, क्रिश्चियनिटी का प्रवेश, विज्ञान, तकनीक तथा वैज्ञानिक चिंतन का विस्तार, भारत का स्वतंत्रता आंदोलन, भारत की स्वतंत्रता और उससे प्राप्त नवजागरण के मूल्य।

आइये देखें कि हमारी इस ऐतिहासिक विरासत के बारे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का क्या अभिमत है।

बौद्ध धर्म इसी देश में उत्पन्न हुआ था। वह यहाँ की परिस्थितियों की उपज भी था और इन्हीं परिस्थितियों को बदलने का प्रयास भी। धीरे-धीरे वह समन्वयवादी भारतीय संस्कृति में घुल मिल गया। पर इस्लाम बाहर पैदा हुआ था। उसमें ऐसे प्रबल विजातीय तत्व थे, जिनको आत्मसात करना कठिन था। हिन्दू नाम भी इसी समय प्रचलित हुआ। जो कुछ इस्लाम के दायरे में नहीं आ पाया, उसे एक सामान्य पद 'हिन्दू' द्वारा अभिहित करने का प्रयास किया गया। हिंदुओं की अपने आप में सिमटने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। जाति पांति की जटिल व्यवस्था में छूत छात की विकट मर्यादा का प्रभाव बढ़ता गया। इस्लाम का द्वार सबके लिये खुला था, पर इससे बचने और अपनी कुलीनता की रक्षा करने की होड़ भी इतनी ही व्यापक रूप में फैली। हिन्दू जनसमूह में अपनी पवित्रता और कुलीनता को बचा रखने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। वह अधिकाधिक सिमटता गया। जाति के भीतर जाति की सृष्टि और छूत छात की मर्यादा के भीतर मर्यादा की प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

अनेक संतों, भक्तों और फकीरों ने इस विषम व्यवस्था का प्रतिवाद किया और हिन्दू-मुसलमान के मिलन का क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

अठारहवीं शताब्दी तक यह प्रयास कुछ सफलता की ओर बढ़ता दिखायी दिया। इसी बीच एक और प्रबल झटका लगा। यह प्रथम दोनों से कहीं अधिक शक्तिशाली था। इस बार यह समुद्र पार के देशों से आया। यह केवल धर्म और समाज के क्षेत्र में ही शक्तिशाली प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाला नहीं था। धर्म की दृष्टि से वह हिंदू-मुसलमानों से भिन्न था। पर केवल ईसाई कहने से उसका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता। वह राष्ट्रीयता और वैज्ञानिक नवचेतना से समृद्ध था और मानवीय संवेदना की नयी चेतना से भी प्राणवंत था। इस देश के लिये वह एकदम अपरिचित भावनाओं का संदेश लेकर आया था। यह बड़ा झटका सिद्ध हुआ। यद्यपि इसे कभी ईसाई धर्म और कभी पश्चिमी सभ्यता कहा गया है पर था वह अधिक व्यापक, यह आखिरी झटका उस नयी शक्ति के साथ पुरानी मान्यताओं की टक्कर का था, जो विज्ञान के प्रादुर्भाव से उत्पन्न हुई थीं। संयोग से यह पश्चिमी देशों में पहले पहल प्रगट हुई इसलिये इसे कभी-कभी इसे यूरोपीय सभ्यता और पाश्चात्य कह दिया जाता है और कभी कभी इसलिये ईसाई प्रभाव मान लिया जाता है कि जिन लोगों की उंगली पकड़कर यह महाशक्ति इस देश में आई, वे ईसाई धर्म के मानने वाले थे। अंग्रेजों के साथ हमारे घनिष्ठ संपर्क के माध्यम से इस नयी शक्ति के प्रवेश के कारण यह अंग्रेजी प्रभाव भी समझा जाता है। परंतु, यह सिर्फ एक जाति के साथ दूसरी जाति का मिलन मात्र या आदान मात्र नहीं था। यह एक युग से दूसरे युग में संक्रमण का शुभारंभ था। जब तक हम इसके वास्तविक रूप को नहीं समझते, तब तक हम अपने देश और अपने युग पर हुई उस मानव प्रतिक्रिया का स्वरूप भी नहीं समझ सकेंगे, और आधुनिक चित्त को उसके नये परिप्रेक्ष्य में भी नहीं समझ सकेंगे. अंग्रेजों के साथ हमारे संपर्क की कहानी बहुत सुखपूर्वक स्मरण करने योग्य नहीं है। हम राजनीतिक रूप से उनके अधीन थे, इसलिये इस नयी भावधारा के प्रति हमारी आरंभिक प्रतिक्रिया विरोध के रूप में प्रकट हुई। यहाँ के मनीषियों को अपनी महिमामयी संस्कृति के समूल नष्ट होने का भय बना रहा। उसे 'पाश्चात्य प्रभाव' से बचा रखना, उन दिनों हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। उन्हीं दिनों 'पूरब' और 'पश्चिम' के कृत्रिम भेदों की कल्पना की गयी। हर बात को यह कहकर समझने-समझाने की प्रक्रिया तेजी से चल पड़ी कि 'हमारे यहाँ' या 'भारतीय संस्कृति में' किस बात को कैसे कहा गया है। प्राय: 'हमारे यहाँ' के ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से हर नये विचार को ध्वस्त कर देने का प्रयास दिखाई देता है।

यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से ही नयी शक्ति के प्रादुर्भाव की भूमिका तैयार होने लगी थी। उस समय, हमारे देश की भांति ही यूरोप में भी धर्म का प्रमुख स्थान था। धर्म का रूप कुछ भिन्न अवश्य था। कला और साहित्य के, अर्थात सौंदर्य बोध के क्षेत्रों की हर बात का धर्म विरुद्ध होना कल्पनाधिक परिमाण में स्वीकृत सत्य था। विज्ञान इनके प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रकट हुआ था। अठारहवीं शताब्दी तक उसकी प्रतिद्वंद्विता की शक्ति का ठीक ठीक अंदाजा वहाँ भी नहीं लगाया जा सका था। परंतु बाद में वह विषम प्रतिद्वंद्वी के रूप में आविर्भूत हुआ। इस समय यूरोप के सुसंस्कृत व्यक्तियों के चित्त पर इसका प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते नाना ऐतिहासिक दबावों के कारण यह शक्ति (विज्ञान) सुविधा प्राप्त वर्गों के हाथ से खिसककर साधारण जनता के हाथ में आ गयी और अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तनों और विचारगत उथल पुथल का कारण बनी। इन्हीं दिनों समस्त जागतिक व्यापारों, मानवीय विचारों और आचरणों में व्यापक नियम और सामंजस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा का जन्म हुआ। अंततोगत्वा डार्विन ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जो सच्चे अर्थों में आधुनिकता की नींव कहा जा सकता है। इसने हर क्षेत्र में मनुष्य को, देखने की नयी दृष्टि दी। डार्विन के विचारों से सूत्र पाकर स्पेंसर ने समस्त जागतिक क्रिया कलापों में विकासवादी दृष्टि को प्रतिष्ठित करने वाले तत्व दर्शन का प्रतिपादन किया और विज्ञान ने मनुष्य की संपूर्ण चिंताधारा पर अधिकार जमाया।

ब्रिटिश राज में क्षेत्रीय भाषाओं का जो हाल किया गया, वह बेहद दुखदायी है। राममोहन राय और बड़े परिवर्तनकारी होते, लोकमान्य तिलक और बड़े विद्वान होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचना-समझना और अपने विचारों का प्रसार न करना पड़ता। इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें अंग्रेजी साहित्य के ज्ञान से लाभ मिला, लेकिन ये बातें वे अपनी भाषा में भी समझ सकते थे।

आज शायद ही कोई ऐसी विचारधारा हो धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान जिसे इस विकासवादी चिंतन के आलोक में न देखा-परखा जाता हो। हमारे देश के साहित्य और तत्व दर्शन का भी इससे अध्ययन किया

गया है और अधिकाधिक सावधानी से निरंतर किया जा रहा है। आज का सुशिक्षित और सुसंस्कृत भारतीय यह निश्चित रूप से विश्वास करने लगा है कि सब कुछ क्रमशः विकसित हुआ है वैदिक साहित्य भी, दार्शनिक विचार भी, धार्मिक आचार भी, साहित्यिक मीमांसाऐं भी। सब कुछ धीरे-धीरे विकसित हुआ है, सबमें पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों का योग है। यह नया विश्वास पश्चिम से आने पर भी पाश्चात्य प्रभाव नहीं है। यह मनुष्य के नये युग में संक्रमण की सूचना मात्र है।

भारत पर इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव और ईसाइयत तथा यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव में मूलभूत अंतर हैं। इस्लाम के अनुयायियों ने, जो लगभग 800-900 ई. के बीच भारत आना प्रारंभ हो चुके थे, भारत में ही बसना तय किया। पहले पहल उन्होंने अपनी विजातीयता बनाये रखी और उस समय की विकसित भारतीय संस्कृति से उनका टकराव भी हुआ, पर लंबे समय की अंतर्क्रिया एवं निकटता ने धीरे-धीरे एक समन्वित संस्कृति को विकसित किया जिसने कला, संगीत, स्थापत्य तथा भाषा साहित्य के स्तर पर नये रूप रचे। पर अंग्रेजों ने भारत में रहना तय नहीं किया था। वे पहले भारत में व्यापार करने आये थे और उसे उपनिवेश बनाने के बाद उसके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन तथा उसका बाजार के रूप में इस्तेमाल उनका प्रमुख उद्देश्य था। भारत की कला और संस्कृति ने उन्हें कभी प्रभावित नहीं किया (कुछ अपवादों को छोड़कर) और वे अपनी उच्चता के दर्प में ही डूबे रहे। इस तरह उनकी ओर से समन्वय के नहीं सब्जुगेशन के ही प्रयास हुये। वैज्ञानिकता और आधुनिक युग का जिक्र हमने ऊपर किया है, वह भारत में अंग्रेजों के न आने के बावजूद भी आता पर तब स्वाधीन भारत उसमें अपनी चयन दृष्टि को शामिल करता और उसका विकास अलग तरह से होता। पराधीनता के कारण यह चयन दृष्टि उसके हाथ से जाती रही और शासकों ने हमारे लिये विकल्पों के चुनाव करना शुरू किया जिससे हमारा स्वतंत्र विकास रुक गया। हमारे आधुनिकता बोध में इस दृष्टि का शामिल होना जरूरी है जो विश्व को समझने में हमारी मदद करेगा। समन्वय और विरोध की इस प्रक्रिया को समझने के लिये। अब हम कला, संगीत और स्थापत्य के जगत से कुछ उदाहरण लेते हैं।

अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत के बढ़ते प्रभाव के बावजूद ऐसा नहीं हुआ कि अंग्रेजों ने भारतीय बुद्धिजीवियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा हो। ऐसी स्थिति में भारतीय बुद्धिजीवी के मन में भी एक अजीब द्वैत सा पैदा हो गया। वह अंग्रेजी माध्यम से वैश्विक परिवर्तनों को ग्रहण तो करना चाहता था लेकिन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को त्यागना भी नहीं चाहता था।

आधुनिक भारतीय (शास्त्रीय) संगीत के केन्द्र में राग है, जिसके वर्तमान स्वरूप में उसे आलाप, जोड़, गत और झाला इन चार अंगों में बजाया जाता है। गाते समय आलाप के बाद बड़े और छोटे ख्याल गाये जाते हैं। पर ये स्ट्रक्चर सदा से ही ऐसा नहीं था। भारत में मंदिरों में ध्रुपद गायन की परंपरा थी और संगीत का मूल आधार ईश्वर भक्ति तथा कीर्तन था। श्री वल्लभाचार्य और अष्टछाप के कवियों ने अपने पदों तथा संगीत रचनाओं द्वारा वर्ष 1500 से 1600 के बीच जिस आधुनिक शास्त्रीयता की शुरुआत की उसके मूल में ईश्वर भक्ति और आराधना थी। पुष्टिमार्ग की भक्ति में अष्ट याम पूजा प्रचलित थी जिसमें सुबह से लेकर रात्रि तक अलग अलग प्रहर में, ईश्वर (मूलतः कृष्ण) की सेवा का प्रावधान था। अलग अलग प्रहरों में समय के अनुरूप अलग-अलग राग गाये जाते थे जो कीर्तन के रूप में होते थे। जैसे सुबह के श्रृंगार के समय राग बिलावल, श्रृंगार आरती के समय राग आसावरी, दिन के दूसरे प्रहर में भोग के समय राग झिंझोटी, संध्या आरती के समय यमन कल्याण आदि। त्यौहारों के अवसर पर होली तथा रसिया आदि गाने की परंपरा थी जो स्वयं किसी न किसी राग में निबद्ध होते थे। कुल मिलाकर भक्ति के बिना शास्त्रीय संगीत की कल्पना असंभव थी जिसका आधुनिक प्रमाण हमें भारत रत्न बिस्मिल्लाह खान में मिलता है।

इस्लाम ने इस शास्त्रीयता को तीन तरह से प्रभावित किया। इस्लाम मूलतः भौतिकवादी था और उसने भक्ति के साथ साथ श्रृंगार रस की रचनाओं को प्रधानता दी। मंदिरों से बाहर आने पर शास्त्रीय गायन में खयाल गायकी का प्रचलन बढ़ा और रागों को खयाल के रूप में गाया जाने लगा। दूसरे सूफी दर्शन में संसार की समाप्ति की परिकल्पना है, जो भारी 'एक्सटेसी' के साथ प्रगट की जाती है' बड़े खयाल धीर-गंभीरता के साथ गाये जाते हैं (अमीर खाँ), पर रागों का अंत तीव्र गति या 'झाला' के साथ करने की परंपरा चल पड़ी जो सूफी दर्शन के प्रभाव के कारण है। क्योंकि दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत उपरोक्त के बावजूद भी मूलतः मंदिर केंद्रित एवं भक्ति केंद्रित रहा, उसका स्वरूप अलग तरह से उभरा जबकि उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत या हिन्दुस्तानी संगीत, अपने रागों और स्वभाव में बिल्कुल अलग तरह से विकसित हुआ।

रागों के संदर्भ में 'ध्यान' की भी परिकल्पना है. 'ध्यान' रागिनियों का वह चित्र है जो गाते समय या राग का ध्यान करते समय आपके दिमाग में उभर सकता है और राग के मूल भाव को प्रगट करता है। इस तरह प्रत्येक राग के लिये एक चित्र बनाने की भी परंपरा है जिसने आगे चलकर पेंटिंग की अलग शैली को जन्म दिया। मुसलमानों के आगमन के पहले भारतीय चित्रकला में मानव समूहों और जीवन की सामूहिक गतिविधियों पर जोर था और कैनवास पर (वह गुफाओं और चट्टानों से लेकर किसी भी मटेरियल का हो सकता था) सामाजिक जीवन का भरा पूरा पन था। पर मुसलमानों, विशेषकर मुगलों के बाद पोट्रेर्ट का जोर चल पड़ा और स्वप्निल तरलता या छाया छवियों के बदले ठोस तथा शार्प लाइन पेंटिंग में प्रमुखता से उभरी। रंगों के चुनाव में भी एक तरह की प्लास्टिसिटी या घनत्व हमें दिखाई पड़ता है।

उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं पर हम समय समय पर बात करते रहे हैं। यहाँ उनकी विस्तृत छानबीन करने का अवसर नहीं है। लेकिन यह कहना आवश्यक है कि स्वाधीन भारत के लिये उन्हें जस का तस मान लेना जरूरी नहीं। ऐसा हो भी नहीं रहा है।

इसी तरह की विवेचना भारतीय स्थापत्य के बारे में भी की जा सकती है। आप दक्षिण भारत के मंदिरों को देखिये। वहाँ लाइन डामिनेट करती है। मंदिर के शिखर लाइन पर आधारित हैं। 'कर्व' या 'आर्च' या गुंबद पर नहीं। बाहरी दीवारों पर जीवन के, देवी, देवताओंके असंख्य चित्र लेकिन भीतर एक अंधेरा, छोटा सा गर्भग्रह जहाँ व्यक्ति को अकेले ही आत्मा से, ईश्वर से साक्षात्कार करना होता है। वहीं उत्तर भारत के पिछले हजार वर्ष के स्थापत्य में आपको 'कर्व' और 'आर्च' डामिनेट करते दिखते हैं यहाँ तक कि मंदिरों का स्थापत्य भी वह नहीं है जैसा दक्षिण में है। यह इस्लामिक स्थापत्य के प्रभाव के कारण ही है। वहीं इस्लामिक इमारतों में भी हिन्दू 'मोटिफ', जैसे कमल, का बहुतायत से प्रयोग दिखता है। (ताजमहल)।

भाषा के विकास का जिक्र पहले किया जा चुका है। जहाँ मुसलमानों के आगमन के पहले जन की भाषा प्राकृत और पाली थी और साहित्य की भाषा संस्कृत, वहीं उनके आगमन के साथ साथ प्रशासन की भाषा फारसी थी और मुस्लिम साहित्यकारों की रचनाऐं भी फारसी में ही हुई। जनभाषा ने विकास करते हुये ब्रज भाषा का स्वरूप ग्रहण किया जिसमें लगभग चार सौ से पांच सौ वर्ष विपुल साहित्य, विशेषकर काव्य साहित्य की रचना हुई। भाषाओं के बीच हुई अंतर्क्रिया ने दो नई भाषाओं हिन्दी और उर्दू को जन्म दिया जो आज भारत की मानक भाषायें हैं।

लेकिन समन्वय के इस तरह के उदाहरण अंग्रेज, अंग्रेजी और ईसाइयत के संदर्भ में कम ही मिलते हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रति प्रारंभिक आकर्षण (राजा राममोहन राय) के बावजूद भारतीय मनीषियों ने स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उसके प्रति टकराव का रुख ही अपनाया। 'भारतीयता की ओर' में 1921 के गांधी के विचारों को उद्धत करते हुये पवन वर्मा कहते हैं –

मेरे विचार से जिस तरह से अंग्रेजी की शिक्षा दी गई है, उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे को नपुंसक बना दिया है। इसने भारतीय छात्रों पर जबरदस्त मनोवैज्ञानिक दबाव डाला है और उन्हें नकलची बना दिया है। ब्रिटिश राज में क्षेत्रीय भाषाओं का जो हाल किया गया, वह बेहद दुखदायी है। राममोहन राय और बड़े परिवर्तनकारी होते, लोकमान्य तिलक और बड़े विद्वान होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचना-समझना और अपने विचारों का प्रसार न करना पड़ता। इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें अंग्रेजी साहित्य के ज्ञान से लाभ मिला, लेकिन ये बातें वे अपनी भाषा में भी समझ सकते थे। कोई भी देश अनुवादकों को पैदा कर एक राष्ट्र नहीं बन सकता। जरा सोचिए, अगर बाइबिल का कोई प्रामाणिक रूप नहीं होता तो अंग्रेजी का क्या होता। मेरा मानना है कि चैतन्य, कबीर, नानक, गुरु गोविंद सिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप वास्तव में राममोहन राय और तिलक से बड़े आदमी थे। मैं ऐसा नहीं मानता कि अगर राममोहन राय या तिलक को अंग्रेजी नहीं आती तो वे उन विचारों को नहीं सोच पाते, जो उन्होंने सोचे। भारत में जितने तरह के अंधविश्वास हैं, उनमें इस बात से बड़ा अंधविश्वास कोई नहीं है कि बगैर अंग्रेजी जाने स्वतंत्रता को समझना और उससे जुड़े विचारों में खरापन नहीं आ सकता है। हमें याद रखना चाहिए कि पिछले पचास सालों के दौरान देश में शिक्षा की केवल एक ही व्यवस्था रही है। विचारों को प्रकट करने के लिए माध्यम भी एक ही रहा है, इसलिए हमारे पास इस संबंध में आंकड़े भी नहीं हैं। हाँ, हम यह जरूर जानते हैं कि भारत पचास साल पहले के मुकाबले अब ज्यादा गरीब है। यहाँ की शिक्षा प्रणाली सबसे ज्यादा दोषपूर्ण है। इसकी पैदाइश ही गलत हुई थी। अंग्रेजी शासक तो देशी प्रणाली को खराब नहीं बल्कि बेकार समझते थे। इसका विकास

भी सही नहीं हुआ। क्योंकि इसका मकसद था भारतीयों के तन, मन और आत्मा को कुंद करना।

वक्त के साथ गांधी के विचार बदले नहीं। आजादी के चंद साल पहले सन् 1944 में गांधी ने फिर ऐसी ही कुछ बातें कहीं, लेकिन इस बार भविष्य में इससे होने वाले असर की उन्हें चिंता थी। उन्होंने कहा ''अपनी मातृभाषा की तुलना में अंग्रेज़ी के लिए प्यार ने शिक्षित और राजनीतिक वर्ग एवं आम जनता के बीच में एक बड़ी खाई पैदा कर दी। हम अपनी मातृभाषा में जब कठिन विचारों को व्यक्त करना चाहते हैं, कर नहीं पाते। इसका नतीजा बेहद खराब है। देश की भाषाओं की उपेक्षा करके हम देश की उपेक्षा करते हैं।''

यह कोई संयोग नहीं कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जब भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनः स्थापना हो रही थी उसी समय सर सी.वी. रामन ने भौतिकी की अपनी महत्वपूर्ण खोज की और भारत के पहले नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक बने।

नेहरू के शब्द और जोरदार थे। उनका कहना था ''कुछ लोगों को लगता है कि अंग्रेज़ी भारत की आम बोलचाल की भाषा बन जाएगी। मुझे यह बेहतरीन ख़्याल लगता है लेकिन महज कुछ उच्चवर्गीय तबके के लिए। इसका आम लोगों की शिक्षा और संस्कृति की समस्या से कोई वास्ता ही नहीं है। मुमकिन है कि अंग्रेज़ी धीरे-धीरे तकनीकी, वैज्ञानिक, कारोबारी बोलचाल और खासतौर पर अंतर्राष्ट्रीय संपर्क की भाषा बना जाए लेकिन अगर हमें दुनिया को संतुलित नजरिए से देखना है तो अंग्रेज़ी के चश्मे से बाहर निकलना होगा।''

इतने दृढ़ विचारों के बावजूद और 1925 के इस प्रस्ताव के बावजूद कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी भाषा में संचालित की जायेगी, राष्ट्रीय आंदोलन की मजबूरियों के कारण कांग्रेस की आधिकारिक भाषा अंग्रेज़ी ही बनी रही। नेहरू अपनी क्लासिकल अंग्रेज़ी बोलते रहे और भारतीय स्वतंत्रता के दिन (15 अगस्त 1947 को) उन्होंने अपना प्रसिद्ध भाषण भी अंग्रेज़ी में ही दिया।

अंग्रेजी और अंग्रेज़ियत के बढ़ते प्रभाव के बावजूद ऐसा नहीं हुआ कि अंग्रेज़ों ने भारतीय बुद्धिजीवियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा हो। ऐसी स्थिति में भारतीय बुद्धिजीवी के मन में भी एक अजीब द्वैत सा पैदा हो गया। वह अंग्रेज़ी माध्यम से वैश्विक परिवर्तनों को ग्रहण तो करना चाहता था लेकिन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को त्यागना भी नहीं चाहता था जो सही भी था। पराधीनता की स्थिति में उसे इस संतुलन को बनाने में और भी कठिनाई महसूस होती थी। पवन वर्मा, राजा राममोहन राय और ग़ालिब के उदाहरण देते हुये बताते हैं कि दोनों को ही अपनी परंपरा पर गर्व था और वे अपने साहित्य तथा संस्कृति के गहरे अध्येता थे पर उनमें से एक को ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय संस्कृति को हेय सिद्ध करना पड़ा वहीं दूसरे को अपने जीवन यापन के लिये अंग्रेजों को अर्ज़ियाँ देनी पड़ीं और अपनी सभ्यता को 'तिनकों का सूखा ढेर' और यूरोपीय ज्ञान को 'मोतियों की खान' कहना पड़ा। वे सिर्फ ऐसा कह ही नहीं रहे थे, वे ऐसा समझने भी लगे थे। गांधी (हिंद स्वराज्य) और अरविंद (फ़ाउंडेशन्स आफ इंडियन कल्चर) जैसे बुद्धिजीवी अपनी परंपरा के पक्ष में दृढ़ता से खड़े रहे और उन्होंने भारतीय स्वराज तथा राष्ट्रीयता की अलग तरह से कल्पना की।

स्वाधीनता के बाद देश में दो तरह की धारायें विकसित हुई। इनमें से एक ने पश्चिम के विकास के माडल को अपनाया और दूसरी ने भारतीय संकल्पनाओं के आधार पर विकास के वैकल्पिक माडल प्रस्तुत किये। पश्चिम ने अपने माडल के पक्ष में बाजार और वैश्वीकरण की अवधारणायें प्रस्तुत कीं और उसके पक्ष में 'उत्तर आधुनिकता' का विचार प्रस्तुत किया जो कुल मिलाकर पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क के रूप में ही सामने आता है।

उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं पर हम समय समय पर बात करते रहे हैं। यहाँ उनकी विस्तृत छानबीन करने का अवसर नहीं है। लेकिन यह कहना आवश्यक है कि स्वाधीन भारत के लिये उन्हें जस का तस मान लेना जरूरी नहीं। ऐसा हो भी नहीं रहा है। ऐसे कई प्रयास हुए हैं या हो रहे हैं जहाँ पश्चिम की वैचारिक संप्रभुता को चुनौती मिली है और उसके वैचारिक आधारों को भारतीय मान्यताओं पर जांचने के प्रयास किये गये हैं। राजीव मेहरोत्रा की हाल ही में आई किताब 'बींग डिफरेंट' ऐसी ही एक किताब है।

भले ही परंपरा शब्द का प्रयोग श्रेणीगत (जेनेरिक) रूप में किया गया हो पर भारत के संदर्भ में यह कहना हमें विनम्र बनायेगा कि परंपरा कोई एक नहीं, विभिन्न हैं और उनके सहयोग, सह-अस्तित्व और कभी-कभी टकराव से ही भारतीय मानस का निर्माण हुआ है। उत्तर भारत में कला, संगीत, स्थापत्य

और आचार व्यवहार की परंपरा अलग है और दक्षिण में अलग। भारत में बड़ी संख्या में उपस्थित आदिवासी समाज की परंपराऐं शहरी समाज से बिल्कुल अलग हैं और उनमें से कई स्वागत योग्य तथा टिकाऊ विकास के हित में हैं। धर्म, दर्शन और साहित्य की समृद्ध परंपरा के साथ भारत में विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन की भी अपनी परंपरा है और वर्तमान समय में शायद उसके पुनः अन्वेषण की सबसे ज्यादा जरूरत है। आइये भारत की विविध परंपराओं में से उदाहरण के तौर पर हम इस वैज्ञानिक परंपरा पर दृष्टिपात करते हैं।

परंपरा कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि सतत प्रवहमान है। परंपरा में यह प्रवाह परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करके ही प्राप्त होता है। यानी रूढ़ हो चुकी परंपरा को त्यागना और उसके जीवंत तत्वों को लेकर आगे बढ़ना, और इस तरह नई परंपरा का निर्माण करना उसे प्रवहमान बनाना है।

विज्ञान का सामान्य अर्थ समझा जाता है 'पश्चिमी विज्ञान' जिसने अनेक अद्भुत आविष्कारों और टेक्नालाजिकल यंत्रों को जन्म दिया है। किन्तु आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धांत और तकनीक प्राचीन काल में भी मौजूद थे और विज्ञान के विकास में पूर्व का महत्वपूर्ण योगदान है। सभ्यता की अनेक निधियां पूर्व से मिली हैं।

भारत में प्रारंभिक विज्ञान की दो प्रमुख धाराएं थीं प्रथम, गणित और खगोल शास्त्र तथा द्वितीय, औषध विज्ञान। आपस्तम्बकृत 'सल्वसूत्र' में पाइथागोरस के प्रमेयों तथा अन्य कई विशिष्ट प्रश्नों का सामान्य विवरण है। 'सल्वसूत्र' का प्रणयन पाइथागोरस के बाद के समय में हुआ था, किन्तु उसके विशिष्ट सूत्र निश्चय ही यूनानी नहीं, भारतीय हैं। वे प्राचीन प्रयोगसिद्ध अंकीय आविष्कार हैं जिनके आधार पर बाद में ज्यामितीय प्रमेय बने या प्रमेय के आधार पर विकसित विशिष्ट हिन्दू प्रयोग हैं, यह इतना स्पष्ट नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही काफी है कि हमारे यहाँ गणित में हिन्दुओं की महत्वपूर्ण मौलिक उपलब्धियाँ हैं। स्थानिक अंकों का महत्वपूर्ण आविष्कार तथा 'शून्य' के लिए संकेत भारतीय योगदान है। खगोलशास्त्र में हमारे यहाँ पांच सिद्धांत, पैतामह, वसिष्ठ, सूर्य, पौलिष और रोमक हैं, और यह परम्परा अटूट रही है आर्यभट्ट (पांचवीं शताब्दी ईसवी), वराहमिहिर (छठी शताब्दी), ब्रह्म गुप्त (छठी और सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी), श्रीधर (दसवीं शताब्दी), भास्कर (बारहवीं शताब्दी)।

औषधविज्ञान का उदय बहुत पहले हुआ। बुद्ध के युग में, आत्रेय तक्षशिला में अध्यापक थे और उनसे अपेक्षाकृत कम उम्र समकालीन सुश्रुत काशी (अथवा बनारस) में शिक्षक थे। बाद में विज्ञानियों ने शल्यचिकित्सा पर जोर दिया अण्डकोष में आंत उतरने, पेडू चीरकर बच्चा पैदा करने, मूत्राशय की पथरी, मोतियाबिन्द की शल्यचिकित्साएं प्रचलित हुई। शल्यक्रिया के 121 भिन्न औजारों का वर्णन मिलता है। मलेरिया और मच्छरों का सम्बन्ध मालूम किया जा चुका था और मधुमेह के रोगियों के मूत्र में शर्करा की उपस्थिति मालूम थी। कश्मीर में जन्मे और कनिष्क के समय में जीवित (120–162 ईसवी) चरक ने आत्रेय के एक शिष्य अग्निवेश के आधार पर एक ग्रंथ की रचना की। वाग्भट्ट (पिता और पुत्र) तथा माधवकर व वृन्द इस क्षेत्र के अन्य व्यक्ति थे।

दिल्ली का लौह–स्तंभ लगभग 400 ईसवी में खड़ा किया गया था। इसकी ऊंचाई 28 फुट से अधिक है। तथा आधार का व्यास 16.4 इंच है जो कम होते–होते 12.04 इंच हो जाता है। यह विशुद्ध, जंग न खाने वाले लोहे का बना है। इसे वे कैसे बना सके? सुल्तानगंज की बुद्ध की मूर्ति विशुद्ध तांबे की दो परतों से बनी है जो साढ़े सात फुट ऊंचे और एक टन भारी एक अन्तर्भाग पर मढ़ी गई है। ये इंजीनियरिंग के कौशल के आश्चर्यजनक नमूने हैं।

संस्कृत व्याकरण का विकास ग्रीक व्याकरण से पहले हुआ था। यास्क ने वेदों की व्युत्पत्तिविषयक टीका 'निरुक्त' लिखी। यह पाणिनिकाल से पहले, 500–700 ईसा पूर्व के आसपास की है। भाषा विज्ञान और व्याकरण में पाणिनि का नाम सर्वोपरि है। वे छठी सदी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में हुए थे। पाणिनि ने यास्क और शौनक को अपना अग्रज माना है। उनकी 'अष्टाध्यायी' एक दीर्घकालीन भाषा विज्ञानी विकास का शीर्षबिन्दु है। पाणिनि ने नियमों को स्वीकार और अपवादों को व्यक्त किया है। उनकी अष्टाध्यायी में लगभग 4000 सूत्र हैं। केवल एक लेखक अकस्मात इनका आविष्कार करके दूसरों पर लाद नहीं सकता था। यह शताब्दियों का विकास है और पाणिनि परम्परागत व्याकरण को अन्तिम रूप प्रदान करने वाले वैयाकरण थे। उनकी कृति में अनेक अग्रजों के नाम हैं। अपनी शुद्धता और विस्तार के कारण ही वे अपने अग्रजों से आगे बढ़ गए।

पतंजलि के अनुसार, पाणिनि की कृति भली प्रकार सम्पादित एक महान ग्रन्थ है। कात्यायन ने

अपनी टिप्पणियों 'वार्तितक' का प्रणयन पाणिनि के सूत्रों के तुरन्त बाद किया था और उनकी व्याख्या पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) में की थी। भाषाविज्ञान का सम्पूर्ण विकास 600-1000 ईसापूर्व में हुआ था।

भाषाविज्ञान जैसे कठिन विषय का इतने प्राचीन काल में इतना अधिक विकास सदा विस्मयजनक रहेगा। इससे यही मालूम होता है कि अत्यधिक प्राचीन भारत के बारे में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान असम्पूर्ण है इस महान काल की आंशिक झांकी हमें केवल पुरातत्व से मिल सकती है।

भाषाविज्ञान के उत्तरकालीन विकास में 'कातंत्र' के रचयिता सर्ववर्मन (300 ईसवी), चन्द्रगोमिन (600 ईसवी), 'वाक्यपदीय' के रचयिता भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी ईसवी) के नाम शीषस्र्थ हैं। 'वाक्यपदीय' में भाषाविज्ञान या व्याकरण से अधिक जोर भाषा के दर्शन पर दिया गया है। जयादित्य और वामन ने पाणिनि पर एक पाठ्यपुस्तक 'काशिकाकृत्ति' की रचना की। 1625 के लगभग भट्टोजि दीक्षित ने 'सिद्धांतकौमुदी' का प्रकाशन किया; यह पाणिनि के ग्रन्थ का सार-संक्षेप है।

संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्व प्रथम शब्द-रूपों का विश्लेषण किया, धातु और प्रत्यय का अन्तर समझा, प्रत्यय के कार्य निश्चित किए, और कुल मिलाकर इतने अधिक शुद्ध और सम्पूर्ण व्याकरण का निर्माण किया कि उसका सानी किसी दूसरे देश में पाना असंभव है। प्रोफेसर वेबर का कथन है कि ''पाणिनि के व्याकरण में भाषा की जड़ों तथा उसके शब्दों की रचना की खोज पूरी गहराई के साथ की गई है, इसलिए वह अन्य सभी देशों के व्याकरणों में श्रेष्ठ है।''

यह कोई संयोग नहीं कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जब भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनः स्थापना हो रही थी उसी समय सर सी.वी. रामन ने भौतिकी की अपनी महत्वपूर्ण खोज की और भारत के पहले नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक बने। वर्तमान में भारत विज्ञान और तकनीक के कई क्षेत्रों में विश्व के शीषस्र्थ देशों में गिना जाता है और मूलभूत विज्ञान में प्रगति के लिये एक व्यग्रता देश में देखी जाती है। सामाजिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान के बीच भी संवाद की गहरी कोशिश जारी है। यदि हमें विश्व में एक स्वतंत्र और शक्तिशाली देश के रूप में स्थान बनाना है, जहाँ हमारे धर्म, संस्कृति और ज्ञान की रक्षा हो सके और वह सतत प्रवहमान रह सके, तो हमें विज्ञान और तकनीक के विकास की भी उतनी ही चिंता करना पड़ेगी जितनी कला और संस्कृति की। न सिर्फ ये, बल्कि विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि की इस ताकत को आम लोगों तक भी पहुंचाना होगा और यह काम उनकी ही भाषा में होगा।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विश्व में तीन बड़ी घटनाऐं हुई हैं। एक, सोवियत साम्राज्य का पतन जिसे वामपंथी विचारधारा और समाजवादी स्वप्न तथा दृष्टि के अंत के रूप में देखा जा रहा है, दो, इस्लामी आतंकवाद का उदय जिसे सभ्यताओं के टकराव के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है तथा तीन, वैश्वीकरण या 'विश्व ग्राम' की अवधारणा का उदय जिसके पक्ष में उत्तर आधुनिकता का विचार खड़ा किया गया है जो इतिहास के साथ साथ कलाओं के अंत की भी घोषणा करता है और ऐसा वैचारिक कुहासा खड़ा करता है जिसमें आदमी की पहचान ही मुश्किल हो जाये। विश्व में देशों के बीच और देशों के भीतर असमानताऐं बढ़ी हैं और स्थान स्थान पर, अनेक रूपों में जन संघर्ष देखने मिलता है। ऐसे में परंपरा और आधुनिकता को परिभाषित कर सकना और इसके व्यावहारिक पक्ष को जांच पाना अत्यंत कठिन हो जाता है। फिर भी हम ऊपर की गई चर्चा के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों की ओर पहुंचने का प्रयास करते हैं।

परंपरा कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि सतत प्रवहमान है। वह देश और काल दोनों में स्थित है और दोनों से ही प्रभावित होती है। परंपरा में यह प्रवाह परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करके ही प्राप्त होता है। यानी रूढ़ हो चुकी परंपरा को त्यागना और उसके जीवंत तत्वों को लेकर आगे बढ़ना, और इस तरह नई परंपरा का निर्माण करना उसे प्रवहमान बनाना है। समय-समय पर इस तरह की रूढ़ियों को छोड़ा गया है और नये का आह्वान किया गया है और इसी से भारतीय परंपरा बनती है।

आधुनिकता किसी ऊपरी आवरण से निर्धारित नहीं होती। वह एक दृष्टि है जो इतिहास के प्रवाह को पहचानती है, विविधता और बहुलता का सम्मान करती है और मानवीय गरिमा के पक्ष में काम करती है। वह साहित्य, कला तथा मनुष्य को विखंडित करना नहीं चाहती बल्कि उसे समग्रता में देखती है और इस तरह मनुष्य को मनुष्य बनाये रखना चाहती है।

हालांकि परंपरा की पहचान के लिये इतिहास एकमात्र निर्धारक तत्व नहीं है पर फिर भी, इतिहास की सही समझ के बिना भी अपनी परंपरा को ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता और न ही आज के समय के लिये नई रणनीति निर्धारित की जा सकती है। किसी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के लिये इतिहास के साथ-साथ अपने भूगोल की समझ भी आवश्यक है।

परंपरा का मूल्यांकन भी उसके विकास तथा प्रवहमानता की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये अगर हम भाषा पर विचार करें तो उसे किसी 'दैवी' या 'दी हुई' चीज मानने के बदले यह देखना ज्यादा न्यायपूर्ण होगा कि उसका विकास कैसे हुआ है, उसका रूप धीरे-धीरे कैसे बदला है। यदि संगीत पर बात करें तो रस और सौंदर्य के साथ साथ देखें कि समाज की आंतरिक गति के साथ उसकी गति कैसे बदली है, उसने किन प्रभावों को लिया और किन प्रभावों को छोड़ा है, यदि साहित्य पर बात करें तो देखें कि वह किन मूल्यों से अनुप्राणित होता है और वे समय के साथ कैसे 'ट्रांसफार्म' हुये हैं।

परंपरा शब्द का उपयोग हालांकि श्रेणीगत (जेनेरिक) रूप में किया जाता है पर हमारे देश के संदर्भ में और वैश्विक संदर्भों में भी, यह ध्यान रखना जरूरी है कि परंपरा कोई एक नहीं बल्कि अनेक हैं और इस अनेकता का सम्मान किया जाना चाहिये। धर्म, दर्शन और साहित्य की परंपराओंके बरक्स विज्ञान एक चुनौती के रूप में खड़ा है और वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न, अपनी संस्कृति और कला में रचे बसे, मनुष्य की कल्पना अभी बाकी है।

पूर्व को आध्यात्मिक और गैर भौतिक तथा पश्चिम को भौतिकतावादी मानना एक तरह का कृत्रिम विभाजन है क्योंकि सभ्यता के विकास के अलग अलग चरणों में पूर्व ने भी विज्ञान के विकास में उतना ही योगदान दिया है जितना पश्चिम ने और पश्चिम ने भी धर्मांधता तथा रूढ़िवादिता के वैसे ही चरण देखे हैं जिन्हें वह पूर्व पर आरोपित करता है। (असल में तो पूर्व ने समन्वय के अद्भुत प्रमाण प्रस्तुत किये हैं)।

इस दृष्टि से देखा जाये तो आधुनिकता किसी ऊपरी आवरण से निर्धारित नहीं होती। वह एक दृष्टि है जो इतिहास के प्रवाह को पहचानती है, विविधता और बहुलता का सम्मान करती है और मानवीय गरिमा के पक्ष में काम करती है। वह साहित्य, कला तथा मनुष्य को विखंडित करना नहीं चाहती बल्कि उसे समग्रता में देखती है और इस तरह मनुष्य को मनुष्य बनाये रखना चाहती है, उसे वस्तु में परिवर्तित होने से रोकती है।

● श्रीराम परिहार

लोक में लय जीवन

कभी विस्मय से, कभी उल्लास से, कभी करुणा से पूरित, उमंगित और विगलित होकर, मनुष्य ने भाव और विवेक की वेदी पर खड़े होकर, जो सहज शब्द-मंत्र उच्चरित किये, वह लोक के समूह-ज्ञान और समाज-संस्कृति के साहित्य-अध्याय बन गये।

धन्य है ईश्वर, जिसने धरती-आकाश सिरजा। तीन लोक, चौदह भुवन और पाताल बनाये। प्रकृति को रचा। मनुष्य जन्मा। मनुष्य की दृष्टि को विस्तार दिया। हृदय दिया। हृदय को भावनाओं से भर दिया। मस्तिष्क दिया। बुद्धि दी। साथ में विवेक दिया। विचारों का ताना-बाना दिया। सोच-समझ दी। हास-रूदन दिया। आलोक से जगमगाती संवेदना दी। संवेदना की संगिनी करुणा दी। वाणी को गान दिया। गान राग से, रस से, प्राणों से भर गया। यह वाक का वासंती उत्सव था। दृष्टि जहाँ तक पहुँची, लोक को उसकी पूरी सुन्दरता के साथ नयनों की डिबिया में बंद कर लिया। मनुष्य ने अपने मानुष भाव का प्रकृति के साहचर्य में विस्तार किया और भावों के आकाश के नीचे मनुष्य ने व्यक्ति, समाज, देश, अंतरिक्ष, पाताल, पशु, पक्षी, लता, तरु, तृण, वन, पर्वत, नदी, नद, सर, सरिता, सूर्य, चन्द्र, बूँद, समुद्र, बादल, बिजली सबको बुलाकर उनसे आत्मीय संवाद करने लगा। वह विशिष्ट से सामान्य बन गया। वह सबमें घुल गया। वह मनुष्य से लोक बन गया। उसके गान लोकप्रिय हो गये। उसका कहा लोक साहित्य बन गया। लोक साहित्य के सरोकार ब्रह्माण्ड के ओर-छोर तक व्याप्त हो गये। मनुष्य ने धरती पर नंगे पाँव चलते हुए अनुभव किया कि यह भूमि बहुत पुण्यमयी और रसवंती है। इसका पृथ्वीलोक बहुत सुन्दर है। कोलाहलों से भरा होने पर भी बीच-बीच में कलरव सुनाई दे जाता है। घुप्प अँधेरे का माथा चूमता हुआ चन्द्रमा झकझकाट हो जाता है। आकाश की कंदरा से निकलकर सूरज चमचमाता है। सुख-दु:ख दोनों यहाँ साथ खेलते हैं। मनुष्य ने अपनी समझ से पाया कि पसीना टपकता है, तो कर्म गौरव पाता है। पाँव चलते हैं, तो दिशाओं की दूरियाँ कम हो जाती हैं। संवेदना की पाँखें खुलती हैं, तो सारा संसार अपना लगने लगता है। करुणा रोती है, तो लोक-मंगल की अभिलाषा पुष्ट होती है। उल्लास हृदय में अट नहीं पाता, तो कंठ से राग फूटता है। लोक उसी गीत-नदी के तट पर अहोरात्र कर्मरत

रहता है। मानुष भाव की सुवास फैलती है। मनुष्य महान बन जाता है। उसकी वाणी लोक की वाणी बन जाती है। मानुष भाव से पूरित अनेक-अनेक मनुष्य लोक की रचना इकाई से दहाई, सैकड़ा, हज़ार बनते चले जाते हैं। लोक की चौपाल पर सब बैठ जाते हैं- प्राचीन, नवीन, ग्रामीण, नगर, प्राकृत-संस्कृत सब कुछ, सभी कुछ। लोक की सीमा असीम है। लोक साहित्य अपरिचित है।

भूमि की पावनता, सहनशीलता और सृजनशीलता से मनुष्य सर्वाधिक प्रभावित हुआ। भूमि के अखिल विस्तार को देखकर वह चमत्कृत हुआ।

कभी विस्मय से, कभी उल्लास से, कभी करुणा से पूरित, उमंगित और विगलित होकर, मनुष्य ने भाव और विवेक की वेदी पर खड़े होकर, जो सहज शब्द-मंत्र उच्चरित किये, वह लोक के समूह-ज्ञान और समाज-संस्कृति के साहित्य-अध्याय बन गये।

इस प्रकार पृथ्वी का निसर्ग, मनुष्य का मानुष भाव और मनुष्य का ज्ञान के त्रिकोण के पालने में लोक-साहित्य ने आँखें खोली हैं। मानुष भाव और ज्ञान के द्वारा मनुष्य ने अपनी अनुभव की गठरी को भरा और भरता ही रहा, हज़ारों वर्षों तक। भूलोक के सारे, प्रत्यक्ष दृश्य और उनसे मनुष्य का व्यवहार और सम्बन्ध उसे ज्ञान की नयी-नयी गलियों में बिरमाते रहे।

पंच महाभूतों से रचित सृष्टि और मनुष्य एक महाकुटुम्ब के सदस्य हैं। पंचतत्व निर्विकार भाव से अपना धर्म संपादित करते आ रहे हैं। लोक ने उन्हीं पंचमहाभूतों की अभ्यर्थना में अपनी आस्थामय लोकवाणी स्फुरित की। वह लोक साहित्य की अमूल्य निधि है। वाचिक परम्परा जिसका मूलाधार है।

भूलोक के साथ ही वह अपने सिर पर छतरी जैसे फैले आकाश के नीचे आश्चर्य और अनुमान से आतुर होकर बैठ गया। भूलोक पर बैठे-बैठे वह अनुभव और ज्ञान के पंखों से अंतरिक्ष लोक और कल्पना शक्ति का सहारा लेकर भूलोक तक पहुँच गया। उसकी भाव-विवेक यात्रा असीम विस्तार पा गयी। इस भाव-विवेक सम्मत यात्रा का वर्णन ही लोक-साहित्य है। लोक-साहित्य के सरोकार मंगल-विधायक हैं।

भारतीय लोक और शास्त्र दोनों ही इस विश्वास से अटल हैं कि भूमा का यह मधुमय दान पराप्रकृति की कृपा और इच्छा का परिणाम है। एक जिज्ञासा दोनों में पलती रही कि वह कौन है, जिसने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना की। वह प्रकृति नहीं है, प्रकृति से भी परे की ज्योति है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं। वही सबमें स्फुरित और रूपायित होता है। यही सब में छिटका है। समाया है। बोलता है। उसी की शक्ति के विद्युतकण सब में भासमान है। अतः पुनः एक चित्र उभरता है। सृष्टा, सृष्टि और मनुष्य का चित्र। यह भारतीय लोक और शास्त्र के नाभिकुण्ड में अमीय रस जैसा भरा हुआ है। लोक बार-बार अपनी वाणी में उस अलख को लखने की हुमस लिये कातर पुकार लगाता है। सृष्टि को प्रभु के वरदान के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति उदार और कृतज्ञ भाव से भरा-भरा रहता है।

अपने हृदय, विवेक और वाणी के त्रितत्वों से लोकवाणी का क्षीरसागर रचता है। यह सागर जब से भरा है, भरा ही हुआ है। क्योंकि इसकी परिमिति नहीं है। लोकानुभव, लोकविश्वास, लोकपरम्परा और लोकानुष्ठान की नदियाँ इसे अपनी शब्द-शब्द धाराओं से भाव-जल पूरित करती रहती हैं।

लोकधर्म कोई आकाशीय चिन्तन की गलियों में भटकने वाला मानसिक अनुष्ठान नहीं है। यह दृष्य जगत या जहाँ तक दृष्टिपथ का विस्तार भौतिक और प्रज्ञा चक्षुओं के माध्यम से लोक में होता है, उसकी वस्तुओं से व्यावहारिक धरातल पर स्थापित संबंध आस्था को जन्म देते हैं। सृष्टि की वस्तुओं की दानशीलता, त्याग और परकारज जीवन जीने की वृत्ति के कारण लोक के मन में उनके प्रति आस्था और श्रद्धा उपजती है और लोक उन्हें देवता के रूप में ही नहीं, बल्कि उनके दान के प्रतिदान में अपनी आस्था प्रकट करना अपना धर्म मानता है।

वृक्ष का दान, नदी के उपकार, धरती की ममता और सहनशीलता, सूरज का ताप, चन्द्रमा की शीतलता, पक्षियों का साहचर्य, पशुओं की स्वामी-शक्ति, बादलों का बरसकर मिट जाना, हवा का प्राण-प्राण में बहना, अग्नि का ताप और प्रकाश और आकाश का रोज़ रात को मोतियों भरा थाल लेकर जगमगाना लोक-मानस में कौतुहल और आस्था पैदा करते रहे हैं। पंच महाभूतों से रचित सृष्टि और मनुष्य एक महाकुटुम्ब के सदस्य हैं। पंचतत्व निर्विकार भाव से अपना धर्म संपादित करते आ रहे हैं। लोक ने उन्हीं पंचमहाभूतों की अभ्यर्थना में अपनी आस्थामय लोकवाणी स्फुरित की। वह लोक साहित्य की अमूल्य निधि है। वाचिक परम्परा जिसका मूलाधार है।

आम की डाल पर कोयल बोल रही है। पलाश की डाल पर वसंत उतरने लगा है। पिता के आँगन से बेटी विदा होकर अपने प्रियतम के घर जा रही है। लोक का कण्ठ गीला हो गया है।

वैदिक ऋषि की वाणी भूमि को माता कहती है। नदियों से सदानीरा बनी रहकर अमृतमय जल देते रहने की प्रार्थना करती है। वानस्पतिक संसार से तृण, दूर्वा, शस्य प्रदान करने का निवेदन करती है, ताकि उनकी गायों के थनों में दूध भरा रहे, जिन्हें पीकर बछड़े पुष्ट हों। ये बड़े होकर बैल बने, जिनसे सम्पन्न कृषि की जा सके। उषा से अरुणोदय की अभ्यर्थना करती है, यह सृष्टि प्रकाश-पूरित हो अपना कर्मपथ प्रशस्त करती चले। वृक्षों के फलदार होने और लताओं के पुष्पमय होने की कामना करती है। प्राणियों में सद्भाव के स्थापन्न की इच्छा करती है। वह ऋषिवाणी सनातन धर्म की जय की अभिलाषा करती है। ऋषि की सनातन प्रार्थना-वाणी वेदों की तथा शास्त्रों की सनातन नीति बन जाती है। सम्पूर्ण सृष्टि में अपरम्पार की उपस्थिति को अनुभव करती है। सृष्टि के संचालन में मनुष्य के सुकर्म को रेखांकित करती है। ऋषि की यह पावनवाणी सृष्टि के महाकाव्य की व्याख्या करती है। उद्घोष करती है- 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' यह शब्दानुष्ठान श्रुति परम्परा का निर्माणक रहा है।

मानुष भाव का सहज प्रसार, सर्वहित का रक्षण और कर्म का प्रतिपादन ये तीनों ही बिन्दु वेद शास्त्र और लोक परम्परा दोनों के चिन्तन और व्यवहार में हैं। इसलिए कहीं भी और कभी भी लोक-सम्मत सनातन भारतीय जीवन पद्धति में शास्त्र और लोक के मध्य टकराहट पैदा नहीं हो पायी। टकराहट का मार्ग भारत का रहा नहीं। यहाँ सर्व समावेशी प्रकृति दूसरे विरूप को भी अपने रूप-स्वरूप में ढ़ालती रही है। लोक पहले आया या वेद तथा शास्त्र ने पहले अपने जीवन मूल्य प्रतिपादित किये, यह महाकाल के मुख विवर में स्थित रहस्य है।

लेकिन कहा यह गया है- लोके-च वेदे-च। जो लोक में है, वह वेद में है। लोक और वेद में कहीं विरोध नहीं है। हमारे ऋषियों और पुरखों ने एक सनातन सूत्र भारतीय लोक-जन को दिया हैं जहाँ कहीं रीति, अनुष्ठान, विश्वास, परम्परा, अभिप्राय, अनुसार कार्य करने में संभ्रम पैदा हो, या विपरीतता अनुभव हो, वहाँ लोकमत को प्रमाण मानकर कार्य सम्पन्न कर लेना चाहिए। लोकमत पहले, शास्त्रमत बाद में। यह लोक की कर्म के साथ घनघोर निष्ठा और ततजन्य प्राप्त निष्कर्षों से सम्पन्न अनुभव के कारण ही मान्य किया गया है। भारतीय सनातन लोकजीवन में इसीलिए लोक और शास्त्र दोनों का महत्व उसी तरह है, जिस तरह अन्तरिक्ष में सूर्य-चन्द्र और देहलोक में दोनों नेत्रों का है। दोनों एक साथ एक समान एक लोकमंगल भाव लेकर प्रत्येक लोक-अनुष्ठान और लोककर्म में अपनी सनातन अनुभवता के साथ प्रेरक और संवाहक बनकर बैठे हैं।

लोक सम्पूर्ण सृष्टि-दृष्टि और जीवन-दृष्टि का धारक है। मानुष भाव की अपरिमित प्रसारता के कारण ही लोक ने सृष्टि के प्रत्येक लोक, लोक के प्रत्येक सदस्य, सदस्यों के प्रत्येक अनुष्ठान में कार्यों की सहभागिता, सहभागिता से रागभाव का गौरव, रागभाव के गौरव से लोकरस की प्राप्ति और लोकरस से लोकप्राण का वेगवान होकर ऊर्ध्व यात्री बनने की पुण्य-प्रक्रिया को आमंत्रण भेजा है, भेज रहा है, भेजते रहना चाहिए।

लोक इसीलिए अपने पुण्य-पर्वों में धरती, आकाश, वायु, जल, अग्नि को प्रथमतः अलग-अलग घड़ियों में पूजता है। उनका आह्वान करता है। इसी तरह समाज के प्रत्येक वर्ग की सहभागिता उनके कर्मों या उनके द्वारा गढ़ी गयी वस्तुओं की उपस्थिति से ही लोक अनुष्ठान को पूर्ण करती है।

प्रत्येक घर-गाँव का लोक-देवता किसी तीर्थ या देवालय स्थित देव के समान ही लोकमन की आराधना का आराध्य है। वहीं लोक-देवता लोक के घर-गृहस्थी-दुनियादारी से निपजे सुख-दुःख का प्रत्यक्षदर्शी, सुखदाता, दुःखकर्ता और मंगलकर्ता है। सारे अनुष्ठानों में पावनता गोबर लिपी धरती पर ही आमंत्रित होती है।

गाय का गोबर, गाय का दूध, गाय के दूध का दही, दही का घी, खेत से उपजा अन्न लोक संस्कृति के कदली खम्भ हैं। गाय माता इसी महत्ता से लोक-जीवन और लोक-संस्कृति की पोषक है। एक सम्पूर्ण सृष्टि-बोध और जीवन-बोध लोक के पास है। वही उसकी संस्कृति में अनुष्ठान बनकर अहोरात्र सम्पन्न हो रहा है। वही लोक-साहित्य बनकर कण्ठ-कण्ठ से बोल रहा है। गा रहा है।

आम की डाल पर कोयल बोल रही है। पलाश की डाल पर वसंत उतरने लगा है। पिता के आँगन से बेटी विदा होकर अपने प्रियतम के घर जा रही है। लोक का कण्ठ गीला हो गया है।

● रमेश दवे

आपसदारी के नए अर्थ

साहित्य भाषा की प्राणशक्ति है। भाषा अपने भौतिक–रूप में वस्तु है जिसे थिंग–लेंग्विज कहा जाता है और अपनी अदृश्य कल्पना या विचार में थिंक–लेंग्विज है। वस्तु और विचार से जिस नए रूप की सर्जना होती है, वह भाषा को साहित्य बनाती है। तात्पर्य यह कि भाषा एक भौतिक तत्व है, साहित्य उसे अधिभौतिक या कलात्मक रूप देता है। जिस कौम के पास भाषा है, उसके पास साहित्य भी है, फिर चाहे वह वाचिक हो या लिपि–बद्ध। लिपि आकार है, साहित्य विचार।

शब्द में निहित इस जीवन को ही तो एक साहित्यकार पकड़ता है, उसी में सुख–दु:ख, संवेदन, सौन्दर्य, विचार और जीवन की अनुभूति कर साहित्य की रचना करता है। साहित्य में सहित–भाव ही होता है, अहित–भाव नहीं। जब एक सर्जक समूची सृष्टि के साथ सहित होता है तो सृष्टि–दर्शन दो प्रकार से करता है। एक तो हमारे एन्द्रिय–संवेदन से और दूसरे अपनी आंतरिक प्रज्ञा से। बाह्य सर्जक के अवलोकन, प्रत्यक्ष–दर्शन, साक्षात्कार का मूर्त्त रूप है, अन्तर उसकी अनुभूति, उसके विचार, उसकी सृष्टि–दृष्टि या जीवन–दृष्टि की अभिव्यक्ति बनकर व्यक्त होता है और जो बाह्य–आंतरिक के सामंजस्य से रचना में आकार लेता है वह साहित्य हो जाता है।

साहित्य भाषा की प्राणशक्ति है। भाषा अपने भौतिक–रूप में वस्तु है जिसे थिंग–लेंग्विज कहा जाता है और अपनी अदृश्य कल्पना या विचार में थिंक–लेंग्विज है। वस्तु और विचार से जिस नए रूप की सर्जना होती है, वह भाषा को साहित्य बनाती है। तात्पर्य यह कि भाषा एक भौतिक तत्व है, साहित्य उसे अधिभौतिक या कलात्मक रूप देता है। जिस क़ौम के पास भाषा है, उसके पास साहित्य भी है, फिर चाहे वह वाचिक हो या लिपि–बद्ध। लिपि आकार है, साहित्य विचार। लिपि ज़रूरी नहीं कि साहित्य के लिए ही हो, वह जीवन–सम्बद्ध हर कर्म के लिए है और जब कर्म सौन्दर्य और संवेदन बन जाता है, तो लिपि साहित्य में साकार उठती है। इसलिए लिपि एक साकार–माध्यम है और उसमें ही निहित हैं अनेक निराकार संभावनाएँ। हम कितने भी प्रगतिशील और यथार्थवादी हो जाएँ, साहित्य अंतत: है तो हमारे रागात्मक भाव की ही उत्पत्ति। राग को कई बार भाव

के ही पर्याय में लिया जाता है, लेकिन राग में निहित है हमारा कला-बोध और यह कला-बोध हमारी लोक-कलाओं से लेकर उत्कृष्ट साहित्य रचना तक व्याप्त होता है। यदि किसी लेखक का मन किसी वस्तु को देखकर केवल उसमें वस्तु-तत्व देख कर उसके गुण-दोष बखान करता है तो वह फिर लेखक न होकर एक प्रकार का भौतिक रिपोर्टर है, मगर एक सर्जनात्मक और कल्पनाशील लेखक नहीं हो सकता। यदि कालिदास के आषाढ़ के मेघ केवल मेघ हैं और उनमें किन्हीं उन्मत्त हाथियों के समूह के विचरण की कल्पना नहीं है, बिम्ब या कोई अन्य रूपक नहीं है तो फिर कालिदास और एक मौसम-विज्ञानी में फ़र्क ही क्या हुआ?

साहित्य के समक्ष व्यक्ति नहीं होता-कल्पना होती है जो अदृश्य है, शब्द होता है जो दृश्य है लेकिन उसका अर्थ अदृश्य है, रचना होती है जो पढ़ी या सुनी जा सकती है, लेकिन उसका भाव अदृश्य है। यह अदृश्य ही हमें हँसाता है, रूलाता है, उदास करता है, आनंदित करता है।

साहित्य ऐसा भी नहीं कि जीवन से असंपृक्त या जीवन के प्रति निस्पृह हो, वह तो जीवन-व्यापी ही होता है फिर चाहे उसमें कोई कलावाद देखे, यथार्थवाद देखे, समाजवाद देखे या व्यक्तिवाद देखे। बिना कलात्मक मानस के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो नहीं सकती बल्कि कलात्मक-मानस के बिना तो संगीत, नृत्य, पेंटिंग एवं अन्य कला-रूप भी संभव नहीं हैं। उदाहरण के लिए बिरजू महाराज को लें-वे सामान्य मनुष्य की तरह ही मनुष्य हैं, लेकिन जब वे एक नृत्यकार की भूमिका में नृत्य-वेशभूषा, घुंघरू आदि सज्जा से युक्त मंच पर आते हैं तो लोग बिरजू महाराज व्यक्ति को नहीं देखते, वे देखते हैं एक नर्तक को और उसमें निहित कला के नाना रूपों, मुद्राओं, अंग-संचालन और भावों को और इस कला में समाहित होते हैं वे कलाकार जो वाद्यों और कण्ठ से बिरजू महाराज को व्यक्ति के सामान्य रूप से मुक्त कर कलारूप में रूपांतरित कर देते हैं। इस प्रकार कला दो रूप धारण करती है एक आनंद रूप जो कल्पना से उद्भूत है और जो दर्शकों का जीवन-रूप भी है अपने सम्पूर्ण जीवन समय को कला-समय से जोड़ता है। साहित्य तो और भी आगे जाता है,उसके पास भौतिक वेशभूषा या संगीत, नृत्य के साधन नहीं होते, वह तो शब्द में झंकृत होता है, शब्द ही उसका आनंद है।

साहित्य के समक्ष व्यक्ति नहीं होता-कल्पना होती है जो अदृश्य है। शब्द होता है जो दृश्य है लेकिन उसका अर्थ अदृश्य है। रचना होती है जो पढ़ी या सुनी जा सकती है, लेकिन उसका भाव अदृश्य है। यह अदृश्य ही हमें हँसाता है, रूलाता है, उदास करता है, आनंदित करता है। प्रेमचंद की कहानी 'क़फ़न' पढ़ते हुए हम किसी कलाकार की कल्पना तो नहीं करते बल्कि ग़रीब, शोषित, उत्पीड़ित, दलित व्यक्ति और उसके परिवार के बीमारी और मृत्यु से युक्त यथार्थ को घटित होते देखते है लेकिन इस यथार्थ में निहित जिस करुणा को, क़फ़न के पैसों से घीसू-माधव के पीने खाने की घोर विडम्बना को, दुख को और पेट भर मनपसंद खाने के आनंद को देखते हैं, तो इस करुणा और आनंद को किसने रचा, यथार्थ को इस मानवीय उत्कर्ष तक किसने पहुँचाया? प्रेमचंद की कलात्मक सृष्टि ने ही तो जिसमें यथार्थ दृश्य था मगर करुणा, आनंद और विडम्बना अदृश्य थे। एक बड़े कवि कथाकार की प्रतिभा तो इसी में है कि वह यथार्थ की भी ऐसी भाव-छवि रच दे कि भाव मुख्य हो जाए, व्यक्ति अदृश्य हो जाए। यह तो साहित्य के जीवन-सम्बद्ध कला होने का प्रमाण है।

हम जब किसी पेंटिंग को देखते हैं तो हमें लगता है कि उस पेंटिंग के अन्दर कोई कविता या कहानी है, कोई नाटक या गीत है और कई बार तो कई लेखक उस पर एक पूरा निबंध ही लिख देते हैं। कला के अन्दर से जिस प्रकार साहित्य के प्रकट होने की अदृश्य संभावना है, उसे एक सर्जक ही देख पाता है। कलाकार के मन में अपने अन्दर की आँखों से झांकने वाला साहित्यकार जब पेंटिंग पर लिखता है तो लगता है कि पेंटिंग और साहित्य एकाकार हो गए हैं। दूसरा प्रमाण है- खजुराहो, कोणार्क, अजंता-ऐलोरा एवं अनेक मंदिरों के स्थापत्य और ताजमहल को जिन्हें देखकर देश की हर भाषा में न केवल साहित्य रचा गया है बल्कि साहित्यकार और साहित्य ने मिलकर उन कला-स्मृतियों को अमर कर दिया है। भीमबैठका के आदिम भित्ति चित्र देखकर लगता है जैसे वे चित्र भित्ति पर लिखी कविता या कहानी हों। जब कलाएँ साहित्य बनती हैं तो साहित्य भी कला में रूपांतरित हो जाता है और साहित्य से पाठक के मन में जो कलात्मक अनुभूति होती है उससे वह रचना को कला में पढ़ने लगता है, जैसे महाराज कुमार डॉक्टर रघुवीर सिंह जी के ललित एवं ऐतिहासिक निबंध जो उन्होंने 'ताज' और 'फ़तेहपुर सीकरी' को लेकर लिखे थे। ललित निबंधों में कई बार कलाओं को लेकर हमारे मूर्धन्य साहित्यकारों ने कलात्मक रचनाएँ रची हैं। साहित्य हमारी समूची प्रज्ञा को संवेदित करता है। वह

पीड़ा को उत्सव भी बना देता है और उदासी या आनंद भी। जो साहित्य में विरेचन या केथारसिस का सिद्धान्त है, वह आख़िर क्या है? यह लेखक के मर्म और संवेदना का प्रतिफल है जो पाठक को भी संवेदित करता है। साहित्य को कलावादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रगतिशील या प्रतिबद्ध कुछ भी कहें, वह कला में जीवन जीता है और जीवन में कला। रस्किन जैसे साहित्यकार ने तो कहा था कि ''श्रम-रहित कला एक अपराध है और कला-रहित श्रम बर्बरता है।'' इस नज़रिए से अगर साहित्य को पढ़ा-परखा जाए तो लगता है कि हिन्दी का साहित्यकार और ख़ासकर जल्दी में कवि, कथाकार की महत्वाकांक्षा से मारे अनेक युवा साहित्यकार अपनी रचना के लिए न तो आवश्यक श्रम करते हैं न रचना की उत्कृष्टता के लिए अपने कलाबोध से साहित्य रच पाते हैं। यही वजह है कि हमारा साहित्य आज भी विश्व साहित्य के समक्ष लड़खड़ाता रहता है और इस कारण अपनी भाषा और रचना के प्रति हमारे अन्दर हीन भावना या विश्वास-हीनता पैदा हो जाती है। हम केवल मंच-मुग्ध बने रहते हैं और जल्दी यश की महत्वाकांक्षा के कारण श्रमरहित रचना और कलारहित श्रम कर पाने के कारण जल्दी ही बुझ जाते हैं या ग़ायब हो जाते हैं।

भाषा, साहित्य, कला तीनों ही जीवन के बिना संभव नहीं और अन्य प्राणियों से पृथक साहित्य और कलाओं में यह जीवन-बोध ही उन्हें जीवन-सम्बद्ध करता है। इसलिए कहा जा सकता है हम जो साहित्य रचते हैं यदि वह अपनी संपूर्ण जीवनी शक्ति के साथ कला रूप गृहण करता है तो इससे कला और साहित्य दोनों ही सार्थक होते हैं।

भारत के पास कलात्मक साहित्य रचना की अपार संभावनाएँ हैं। यदि सूरदास मंदिर में बैठकर प्रज्ञाचक्षु से कृष्ण की बाल-लीलाएँ देखकर रचना कर रहे हैं तो सूरदास कृष्ण में कलात्मक उल्लास देख रहे हैं और उनका हर पद श्रृंगार का हो या भक्ति का, बाल-लीलाओं और प्रेम की अद्भुत कलात्मक अभिव्यक्ति बन जाती है। साहित्य के प्रति एक रचनाकार को इसलिए सूरदास की तरह अपने ही कलात्मक मानस की खोज करनी चाहिए।

जब साहित्यकार जीवन को प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृति मान कर रचना करेगा तो उसकी हर रचना कलात्मक उन्मेष पाकर सार्थक हो सकती है। जीवन से असम्बद्ध कला हो या साहित्य, वह मनुष्य की रागवृत्ति को कभी अपील नहीं करेगा। यथार्थवाद या प्रगतिशील वामपंथी रचनाकार भी चाहे मज़दूर, किसान, शोषण, उत्पीड़न पर कितनी भी यथार्थ रचना करें, यदि उनका रचा यथार्थ पाठक या श्रोता को हिला देता है तो यह उस रचना के शब्दों में निहित कला है, शब्द का संगीत है, शब्द का रस-भाव है। इसलिए कविता या कहानी का रसास्वाद किया जाता है और हमारा काव्यशास्त्र भी पश्चिम के सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के विरूद्ध अपना रस-सिद्धांत रचता है।

साहित्य को जीवन-सम्बद्ध कला बनाने में भक्ति काल के संत-सूफ़ी कवियों का बड़ा योगदान रहा है। तुलसी का रामचरित मानस, कबीर के दोहे एवं पद, सूरदास के पद, दृष्टिकूट और सूफ़ी कवियों का निराकार तसव्वुर एवं भक्तिभाव, ये सब जीवन-सम्बद्ध इसलिए हैं कि ये मात्र कविता नहीं हैं बल्कि उनमें निहित है मधुर संगीत, शब्द-ध्वनि, और नृत्य रूपांतरण में अनेक भाव-मुद्राएँ-जैसे कृष्ण की बाल-लीलाएँ, कृष्ण-राधा-गोपी रास आदि। यह कला रूप इतना सौन्दर्यमय और संपूर्ण है कि मनुष्य को अपनी भौतिक उपस्थिति से ट्रांसेण्ड कर अधिभौतिक बना देता है। कलाएँ करती ही क्या हैं!

मनुष्य में निहित रागभाव को उत्तेजित और उमंगित करने के अलावा? यदि कोई कविता, कहानी या नाटक हमें हँसा सकता है तो उसमें हास्य रस की कला है, रुला सकता है तो उसमें करुण रस है, यदि वह हमारे प्रेम तत्व को गुदगुदाता है तो उसमें श्रृंगार रस है और वीरगाथाकाल का काव्य पढ़ा जाए तो उसमें हमें वीर, रौद्र एवं भयानक और जुगुप्सा की भी प्रतीति होती है। जीवन यदि सतत कर्मशील संघर्ष है, एक प्रकार का मानसिक द्वंद्व है या समस्याओं से जूझता आत्म-युद्ध है तो जब उसका चित्रण साहित्य में होता है तो वह अपने आप जीवन-सम्बद्ध हो जाता है और नाना प्रकार के भावों, मुद्राओं एवं विचारों में व्यक्त होकर कला-रूप धारण कर लेता है। जीवन-सम्बद्ध कला में संगीत, नृत्य, नाटक, लोकगीत एवं लोककलाओं का अपना स्थान महत्वपूर्ण तो है ही मगर जब कोई हिन्दी या उर्दू ग़ज़ल गाई जाती है, गीत या कव्वाली जब मंत्रमुग्ध करते हैं तो फिर चाहे ये रचनाएँ ग़ालिब करें या हमारे आज के शाइर और हिन्दी ग़ज़लकार, या गीत चाहे तुलसी, सूर कबीर के पदों में हों, या प्रसाद, निराला, पंत महादेवी से लेकर नए से नए गीतकार को वे संगीतमय होते ही साहित्य से कला-रूप ग्रहण कर लेते हैं और चूंकि साहित्य तो एक प्रकार से वैकल्पिक जीवन की ही रचना है, इसलिए साहित्य और कला दोनों जीवन-सम्बद्ध हो जाते हैं। जीवन है क्या? हम इस कुछ भौतिक और रासायनिक तत्वों की निर्मिति ही नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा पशु-पक्षिओं की निर्मिति में भी है।

जब साहित्य और कला मनुष्य से जुड़ते हैं तो मनुष्य के पास जो आंतरिक अनुभूतियाँ है, उनकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी है, भाव भी, वाणी भी और विचार भी। इन सबके संयुक्तीकरण से जब मनुष्य कोई रचना अपने या अन्य के जीवन से खोज कर उसे अभिव्यक्त करता है तो वह जीवन का ही साहित्य होता है। यहाँ तक कि मृत्यु पर लिखे जाने वाले शोकगीत या मर्सिया और शादी, जन्मदिन एवं उत्सवों पर गाए जाने वाले गीत, लोकगीत या लोक-नाटक आदि साहित्य में जिस रागतत्व की सृष्टि करते हैं वह जीवन-स्फूर्त ही तो है। कलाएँ जीवन से विलग करके नहीं देखी जा सकतीं चाहे वह पेंटिंग में मानव पोर्टेट हो, म्यूरल्स हों, लेण्ड स्केप्स हों, काम्पोज़ीशंस हों या अमूर्त्त हों। मनुष्य के दृष्टि फलक पर जो चित्र बनते हैं वे ही तो कला बनकर अभिव्यक्त होते हैं। पिकासो तो कहते थे कि मैं किसी वस्तु या दृश्य को देखकर चित्र नहीं बनाता, मैं तो विचार का चित्र बनाता हूँ। इसका तात्पर्य यही तो है कि विचार ही तो मनुष्य के मनुष्य होने का सबूत है और विचार में ही कला की सृष्टि निहित है फिर चाहे वह संगीत-नृत्य में राग या शैली हो या साहित्य में कोई भी विधा, और वह यदि विचार जीवन सम्बद्ध है तो साहित्य भी कला रूप में जीवन सम्बद्ध है। जब कोई साहित्य-सर्जक और कलाकार वस्तु को विचार, स्थूल को सूक्ष्म, रूप को राग या भाव और भाषा को कल्पनाशील एवं सर्जनात्मक बना देता है तो ये तमाम तत्व उसे जीवन से ही प्राप्त होते हैं। विज्ञान भौतिक वस्तु-जगत के अनुसंधान की साधना है लेकिन जब कोई विज्ञान-कथाकार विज्ञान-आधारित कहानी, उपन्यास या नाटक लिखता है तो वह विज्ञान को भी कला में बदल देता है और इस प्रकार विज्ञान और कला दोनों मिल कर जीवन को उसके सामान्य दैनंदिन भौतिक कर्म से मुक्त कर उसमें भाव-तत्व और कला-तत्व से स्पंदित होने लगते हैं।

भाषा, साहित्य, कला और जीवन

जब एक अफ्रीकी कवि से पूछा गया कि कविता क्या है? उसका उत्तर था- 'मनुष्य'। अब इस एक शब्द में 'मनुष्य' होने के कितने अर्थ-संदर्भ मौजूद हैं। इसी प्रकार गांधी भाषा के प्रश्न पर कहते है उस वक्त, जब उनकी महानता का गुणगान किया जाता है। वे कहते हैं ''विशेषणों में संज्ञाओं को खराब कर दिया है।'' इस छोटे से वाक्य में गांधी के कितने जीवन-संदर्भ निहित हैं। इसलिए साहित्य में शब्द-स्फीति अच्छा लक्षण नहीं माना जाता वहीं शब्द-मितव्ययता को अच्छा गुण माना गया है। ये सब अभिव्यक्तियाँ जीवन से ही उद्भूत है और जब हम सामान्य से कुछ असामान्य करते या कहते हैं, लिखते या रचते हैं तो भाषा में वह अभिव्यक्ति कला-रूप गृहण कर लेती है। भाषा, साहित्य, कला तीनों ही जीवन के बिना संभव नहीं और अन्य प्राणियों से पृथक साहित्य और कलाओं में यह जीवन-बोध ही उन्हें जीवन-सम्बद्ध करता है। इसलिए कहा जा सकता है हम जो साहित्य रचते हैं यदि वह अपनी संपूर्ण जीवनी शक्ति के साथ कला रूप गृहण करता है तो इससे कला और साहित्य दोनों ही सार्थक होते हैं।

● निर्मल वर्मा

संवाद आत्मा की ज़रूरत है। मैं उसे एक तरह की भूख मानता हूँ, जिसे मनुष्य ने उस 'आदि क्षण' में महसूस किया होगा, जब उसे लगा होगा कि वह मनुष्य है; अपने में अकेला है, लेकिन उसके साथ है। हम अपनी आँखों से अपने को नहीं देख सकते, लेकिन दूसरों को देख सकते हैं, और हमें यह आशा बँधती है कि हम भी उन्हीं की तरह होंगे। एक-दूसरे को देखने की प्रक्रिया में शब्द का जन्म हुआ होगा। वह मैं भी है और दूसरा भी। शब्द केवल संवाद का माध्यम नहीं, हमारे होने का साक्षी भी है।

संवाद की मर्यादाएँ

एक-दूसरे को पहचानने की खोज आज भी जारी है। शब्द पर जितने आक्रमण हुए हैं, उन्हें हमारी आत्मा ने भी झेला है। किन्तु एक समय आता है और शायद यह हो जाता है कि आत्मा मृतप्राय सी हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक ऐसे वर्ष आए जब हम प्रगति, विज्ञान, आधुनिकता की अंधाधुंध दौड़ में यह पूछना भी भूल गए कि यह दौड़ किसलिए है? हम कहाँ भाग रहे हैं? हमें कहाँ पहुँचना है? ये प्रश्न किसी एक अकादमीय अनुशासन के भीतर नहीं आते, न ही इनका उत्तर कोई विशिष्ट राज्यसत्ता या संस्कृति दे सकती है। ये मनुष्य के प्रश्न हैं, जिन्हें समूचा मनुष्य ही दे सकता है क्योंकि इस तरह का 'समूचा मनुष्य' आज खंडित हो चुका है। ये प्रश्न भी केवल अकामियों, सेमिनारों या बुद्धिजीवी गोष्ठियों में उठाए जाते हैं और वहीं दफना भी दिए जाते हैं।

सार्थक संवाद के भीतर यह ज़रूरी है कि इन शंकाओं और जिज्ञासाओं को बुद्धि की चहारदीवारों से उठाकर दैनिक जीवन के कुरुक्षेत्र में प्रस्तुत किया जाए। यह कुरुक्षेत्र राजनीति का मैदान भी है और व्यक्तिगत नैतिकता का धर्मक्षेत्र भी। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जहाँ स्वयं मनुष्य के अस्तित्व का प्रश्न है, वहाँ उस अस्तित्व के अर्थ और धर्म को ऐसी शक्तियाँ परिभाषित करती हैं, जिनका अपना कोई नैतिक दायित्व नहीं। जिस शब्द को हमने अपनी पहचान का ईश्वर माना था, उस शब्द के संवाहक हैं झूठ और धर्मसत्यों से भरे अख़बार, बाजारू पत्रिकाएँ, राजनीतिज्ञों के स्वार्थलिप्त भाषण, जिनका मनुष्य के सत्य और अनुभव से कोई सरोकार नहीं, क्योंकि हर व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र में आत्मलिप्त है। हमें दूसरे मनुष्य को जानने का मौका अपनी आत्मा की भूख से उत्प्रेरित होकर नहीं, इतर शक्तियों और स्वार्थों द्वारा निर्मित एक बनी-बनाई 'इमेज' द्वारा मिलता है। हम छायाओं की दुनिया में छायाओं से वार्तालाप करते हैं, शब्दों के सहारे। 'नाटक' एक ऐसी विधा है जो अपना अलग अस्तित्व रखती है। जहाँ अन्य साहित्यिक

विधाओं की यात्रा मुद्रित होने, पढ़े जाने या सुने जाने पर समाप्त होती है, वही नाटक की यात्रा इसके कुछ आगे बढ़ते हुए दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व के साथ जब वह मंचित हो जाता है तब ही पूर्ण हो जाती है। दरअसल मंच पर प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही नाटककार नाटक की रचना करता है। इस प्रकार नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो रंगकर्मियों की कला के माध्यम से अमूर्त से मूर्त बन जाती है। अब ऐसी स्थिति में जब नाटक के अध्यापन की बात आती है तो प्रश्न उठता है कि उसे किस रूप में पढ़ाया जाए? साहित्यिक विधा के रूप में या प्रदर्शनकारी विधा के रूप में? कुछ लोगों का यह कहना हो सकता है कि जब विश्वविद्यालयों में या कॉलेजों में हम नाटक पढ़ाते हैं तो उसे एक साहित्यिक विशेषताओं पर ही केंद्रित करना चाहिए। परन्तु, क्या इस तरह सोचना एकांगी नहीं होगा? जब हम यह स्वीकार करते हैं कि नाटक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसके साथ दृश्यत्व एवं श्रयत्व जुड़ा रहता है तब उसके अध्ययन के अंतर्गत नाटक के इस रूप की उपेक्षा करना क्या सही होगा?

नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो रंगकर्मियों की नैतिक दायित्व नहीं। जिस शब्द को हमने अपनी पहचान कहा, ईश्वर कहा, कला के माध्यम से वही अमूर्त से मूर्त बन जाती है। अब उस शब्द के संवाहक हैं झूठ और अर्धसत्यों से भरे अखबार, बाजारू पत्रिकाएँ, राजनीतिज्ञों के स्वार्थलिप्त भाषण, जिनका मनुष्य के सत्य और अनुभव से कोई सरोकार नहीं, क्योंकि हर व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र में आत्मलिप्त है।

यह सही है कि जब कोई भी अच्छा नाटककार नाटक लिखता है तब वह नाट्य-प्रसंगों को विजुअलायज करते हुए नाटक लिखता है। परन्तु, वही नाटक जब निर्देशन-प्रक्रिया से गुजरते हुए मंच पर प्रस्तुत होने लगता है तब उसका एकदम नया रूप दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। हर पाठक रचनाकार द्वारा प्रस्तुत ब्योरों के आधार पर अपनी बुद्धि, कलात्मक, संस्कारों तथा कल्पना-शक्ति के अनुसार नाटक के पात्रों और घटनाओं के मानसिक चित्र बनाता है। परन्तु उसी नाटक को जब वह मंचित रूप में उन्हीं मानसिक चित्रों को सजीव होते हुए, गतिशील कार्यव्यापार के रूप में देखता है। पढ़ते हुए जिन पहलुओं को वह उतनी तीव्रता से महसूस नहीं कर पाता, उन्हें वह मंचित नाटक में महसूस कर पाता है, बशर्ते आवाज में भी परिवर्तन होता है, स्वर तेज हो जाता है, और जैसे ही घोड़ों की टापों की आवाज़ दूर जाने लगती है, वह मानो एकदम शिथिल सी हो जाती है। अब इस प्रसंग को कोई साहित्य का अध्यापक कैसे पढ़ाएगा? अगर नीरस भाव से, तटस्थ रूप में कोष्ठक में लिखे शब्दों को वह पढ़ता जाएगा तो फिर उस प्रसंग का तो पूरा सौंदय ही खत्म हो जाएगा। अगर उसमें अभिनय के कुछ गुण हों तब ही वह उन शब्दों के साथ कुछ न्याय कर पाएगा। परन्तु, हर साहित्य का अध्यापक तो अच्छा अभिनेता नहीं हो सकता। ऐसे में क्या किया जाए? अगर संभव हो तो आस-पास के रंगकर्मियों की मदद यहाँ ली जा सकती है।

अगर कोई मंडली आपके लिए पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक का मंचन करने को तैयार है तो बहुत ही अच्छा, नहीं तो किसी रंगकर्मी को नाट्य पाठ के लिए आमंत्रित किया जाता है। जहाँ रंगमंच की शिक्षा पाठ्यक्रम में होती है, वहाँ के विद्यार्थी तो प्रस्तुतिकरण से जुड़े हुए होते ही हैं। परन्तु, जहाँ 'रंगमंच' पाठ्यक्रम का विषय नहीं होता वहाँ के विद्यार्थियों को भी संभव हो तो पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक के प्रस्तुतिकरण में गर इनवाल्व कर दिया जाए तो विद्यार्थी उस नाटक के रंगमंचीय पहलुओं को भी अच्छी तरह समझ सकेंगे। नाटक को मंचित कर विद्यार्थियों को दिखाने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती हैं। ऐसे में अगर अध्यापक और कुछ नहीं तो कम से कम किसी अच्छे कलाकार से नाटक के संवाद रिकार्ड करके उन्हें क्लास में बच्चों को सुना सकता है। हो सकता है कि ऊपर दिए गए सुझावों पर अमल कर पाना हर किसी के लिए संभव नहीं हो। परन्तु, साथ ही यह भी सही है कि पाठ्यक्रम को पूर्ण करने के उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अगर हम किसी कहानी या उपन्यास की तरह ही नाटक को पढ़ाते जाएंगे तो हम उस नाटक के अध्ययन के साथ न्याय नहीं कर पाएंगे। दरअसल रंगमंचीय पक्षों का ख्याल रखते हुए नाटक का अध्यापन करने से रंगमंच के प्रति विद्यार्थियों की उत्सुकता को भी बढ़ाया जा सकता है। जहाँ पहले ही स्तरीय रंगमंच के अस्तित्व को लेकर काफी चिंताएँ जताई जा रही हैं, वहाँ अगर विद्यार्थी जीवन में ही रंगमंच के प्रति युवाओं का प्रेम बढ़ने लगे तो रंगकर्मियों को उत्पन्न करने की दृष्टि से न सही, लेकिन कम से कम रंगमंच के दर्शक तैयार करन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अध्यापक अपना योगदान दे सकते हैं। अच्छी तरह समझ सकेंगे।

● विजय अग्रवाल

कला पर पूँजी का ग्रहण

कार्ल मार्क्स पूँजीवादी संस्कृति में कला को एक बिकाऊ उत्पाद से अधिक नहीं मानते। यदि इस लिहाज से देखें तो आज की कलाएँ काफी कुछ पूँजीवादी कला के निकट जान पड़ती हैं। फिर भी उसका पर्याय मालूम नहीं पड़तीं। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी संस्कृति विशुद्ध तरीके से अपना खेल कुछ इस तरह खेलती है कि कला के बाज़ार के मैदान में कलाएँ फुटबाल की तरह इधर–उधर लतियाती एवं डोलती हुई दिखाई देती हैं।

पिछले लगभग दो दशक के उदारीकरण ने भारत में भी कला का एक नया परिदृश्य प्रस्तुत किया है। कला के इस नये परिदृश्य को न तो सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दी के सामन्तवादी परिदृश्य का आधुनिक संस्करण कहा जा सकता है और न ही इसे वैश्वीकरण से जन्मी पूँजीवादी संस्कृति की कला कहा जा सकता है। सामन्ती कला के केन्द्र में दरबारी संस्कृति थी। हालाँकि रचनात्मक स्वतंत्रता वहाँ भी नहीं थी, किन्तु बाह्य तथा बाज़ार की शक्तियाँ इतनी प्रबल नहीं थी कि रचनाकार की रचनात्मकता का गला ही घोंट दे। एक संवेदनशील रचनाकार भारतीय संस्कृति, संस्कार और लोक प्रसंगों के विस्तृत धरोहर में अपने लिए भी गुंजाइश निकाल ही लेते थे, जो उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। उस समय चूँकि न तो कला का बाज़ार था और न ही बाज़ार की आज जैसी संस्कृति थी, इसलिए कलाकार कम से कम इस दिशा में तो निश्चिन्त ही था। भले ही रचनाओं में राजनीति और सामाजिक विद्रोह की हुँकार सुनाई न दे जो कबीरदास जैसों में सुनाई पड़ती है, फिर भी वह अपने भाव को काफ़ी कुछ मुखर कर ही लेता था बाज़ार की शक्तियों से पूरी तरह विमुख होकर।

कार्ल मार्क्स पूँजीवादी संस्कृति में कला को एक बिकाऊ उत्पाद से अधिक नहीं मानते। यदि इस लिहाज से देखें तो आज की कलाएँ काफी कुछ पूँजीवादी कला के निकट जान पड़ती हैं। फिर भी उसका पर्याय मालूम नहीं पड़तीं। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी संस्कृति विशुद्ध तरीके से अपना खेल कुछ इस तरह खेलती है कि कला के बाज़ार के मैदान में कलाएँ फुटबाल की तरह इधर–उधर लतियाती एवं डोलती हुई दिखाई देती हैं। यहाँ निजी पूँजीवादी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं, जो कला का मूल्यांकन करते हैं और कला को अपना स्टेटस सिम्बल मानते हुए उसे अपने पास रखने में अपनी अहमियत का एहसास करते हैं। आज से लगभग पैंतीस साल पहले जब मैं अपने गाँव के ज़मींदार की बैठक के आबनूस की

अलमारियों में रखी मोटी-मोटी किताबों को उत्सुकतावश उलट रहा था, तो मैं वह पहला बच्चा था, जो उन किताबों को खोलकर देख रहा था। मुझे उनके शुरू के पन्ने ही आपस में जुड़े दिखाई दिये। वह कला के पूँजीवादी उपयोग का एक छोटा-सा नमूना था। वर्तमान में मैं जिस कार्पोरेट कल्चर की बात कर रहा हूँ, हालाँकि उसका जन्म पूँजीवाद के ही गर्भ से हुआ है और उसका आदर्शतम् लक्ष्य भी धन के लिए काम करना है, किन्तु वह कुछ माने में उससे अलग भी है। अब इनके लिए कला से जुड़ना 'स्टेटस सिम्बल' न होकर ठीक उसी तरह से मनोरंजन का साधन हो गया है, जैसा सामन्तवादी युग में हुआ करता था। कार्पोरेट कल्चर इस मायने में सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृति से काफ़ी कुछ भिन्न है कि एक तो यह स्थानीयता से काफ़ी परे है। स्थानीयता को इसने वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक वह उसके विषय के लिए मददगार सिद्ध हो सकता है। दूसरे यह कि इसने राष्ट्रीयता की सीमा से परे जाकर एक ऐसी वायवीय अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति से अपना हाथ मिलाया है, जो विश्व संस्कृति के नाम पर मूलत: अमेरिका की संस्कृति है। इसलिए कार्पोरेट में न तो स्थानीय रस है और न ही राष्ट्रीय भाव है। अब यह कला समीक्षकों, तथाकथित सहृदय रसास्वादकों पर निर्भर करता है कि वे इस तरह की संस्कृति को कौन-सा नाम देना चाहेंगे?

पूँजीवादी संस्कृति विशुद्ध तरीके से अपना खेल कुछ इस तरह खेलती है कि कला के बाजार के मैदान में कलाएँ फुटबाल की तरह इधर-उधर लतियाती एवं डोलती हुई दिखाई देती हैं। यहाँ निजी पूँजीवादी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं, जो कला का मूल्यांकन करते हैं और कला को अपना स्टेटस सिम्बल मानते हुए उसे अपने पास रखने में अपनी अहमियत का एहसास करते हैं।

ज़ाहिर है कि इस नयी संस्कृति के वाहक कार्पोरेट के कला के साथ अन्तर्सम्बन्ध भिन्न प्रकार के हैं। सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृति में चूँकि शिक्षा और प्रशिक्षण का कोई विशेष स्थान नहीं था, इसलिए उनमें एक अलग ही तरह की मिट्टी की गन्ध मिल जाती है, फिर वे कला को कितना ही बेहूदे और फूहड़पन के साथ क्यों न स्वीकार करें, लेकिन कार्पोरेट कल्चर इससे अलग है। यह संस्कृति, व्यावसायिक-शिक्षा और प्रबन्धन के प्रशिक्षण पर आधारित संस्कृति है। अज्ञानता, अप्रशिक्षण के लिए यहाँ गुंजाइश नहीं है। अनगढ़ता को यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता। और जो सुगढ़ता है, वह इतनी सुदृढ़ है कि गढ़ा हुआ सब कुछ एक जैसा दिखाई देता है। वैविध्यता तक के लिए ज्यादा सम्भावना नहीं है। यह एक अलग प्रकार का मिलिट्री रूल है, जहाँ सेना के सारे सिपाही दूर से बिल्कल एक जैसे दिखाई देते हैं टिप-टाप और अटेन्शँन की मुद्रा में।

साफ़ है कि संस्कृति के प्रति भी इस तरह के लोगों का एक अलग दृष्टिकोण होगा। इनके लिए वैज्ञानिक तरीके से बहुत व्यवस्थित रूप से तैयार की गयी अप-टू-डेट कला ही कला के मापदण्डों पर खरी उतरेगी। इनके पास कला के मूल्यांकन करने का एक कलात्मक और सौन्दर्यात्मक प्रतिमान न होकर गणितीय फार्मूले होते हैं, जिसकी कसौटी पर खरी उतरने वाली कला रातों-रात करोड़ों के वारे न्यारे कर सकती है। एक बात और है, जो किसी मायने में कम महत्तव की नहीं है और यह वह बात है, जिसका अस्तित्व आज से लगभग तीन दशक पूर्व था तो लेकिन प्रभाव इतना अधिक नहीं था, यह है मीडिया का प्रभाव। आज किसी भी कला और कलाकार के मूल्यांकन के लिए समीक्षकों, आलोचकों और सौन्दर्यशास्त्रियों के सहारे की इतनी ज़रूरत नहीं है जितनी मीडिया की है। यह वह युग है, जब एक कलाकार जीते जी मिथक में बदल सकता है, बशर्ते कि उसे मीडिया का सपोर्ट मिले। इसलिए कलाकार के कामों में एक नया डायमेन्शन यह जुड़ गया है कि वह कलाकार बनने के साथ-साथ या तो स्वयं मीडिया-प्रबन्धक बने या अपने साथ किसी मीडिया प्रबन्धक को जोड़े। एक बार साधन में कमी तो चल जायेगी, लेकिन मीडिया प्रबन्धन में कमी नहीं चलेगी। मीडिया-प्रबन्धन की यह ताक़त अब व्यक्ति के हाथ में न होकर मीडिया एजेन्सियों के हाथ में चली गई है। ये मीडिया एजेन्सी या तो कार्पोरेट सेक्टर के हैं या कार्पोरेट जैसे हैं। इनकी अपनी प्रकृत्तियाँ और कार्यप्रणालियाँ कार्पोरेट से भिन्न नहीं हैं। मीडिया पर इनका इतना ज़बरदस्त प्रभाव है कि उसके प्रभाव से शून्य हो पाने के लिए जिस आत्मशक्ति और प्रखर स्वावलम्बन चेतना की ज़रूरत होती है, उसे जुटा पाना थोड़ा मुश्किल ही लगता है। इसके पास प्रलोभन, आकषर्ण, शक्ति और सत्ता के जितने तत्व मौजूद हैं, उन सारे तत्वों को लाँघकर एक स्वचरित्र स्थापित किये जाने की बात सोची तक नहीं जा रही है। यदि इनमें से इक्का-दुक्का कोई स्वचेत्ता हो भी गया तो उनकी भूमिका नक्कारखाने में तूती की आवाज से अधिक नहीं है।

अब हम मीडिया के जिस नये चरण में प्रवेश कर रहे हैं, उसमें या तो कार्पोरेट के अपने-अपने मीडिया हो गये हैं या फिर जो पहले से ही मीडिया थे, वे कार्पोरेट मीडिया में तब्दील होने की प्रक्रिया में हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में भी किसी भी कला को अपनी पहचान बनाने के लिए उनका मोहताज होना उनकी मजबूरी हो गई है। बल्कि सच तो यह है कि यह मजबूरी और अनिवार्यता न होकर एक सहज कार्यप्रणाली ही हो गई है, क्योंकि कलाकारों को भी पहली बार यह छूट मिली है और इस बात का एहसास हुआ है कि उनकी कला भी लाखों, करोड़ों की क़ीमत रखती है और वे भी एक शानदार ज़िन्दगी जी सकते हैं।

कला, कलाकार और कार्पोरेट के अन्तर्सम्बन्धों को यदि इस पृष्ठभूमि में देखें तो उसके बहुत नये चरित्र हमारे सामने स्पष्ट होने लगते हैं। कार्पोरेट क्षेत्र यह जानता है कि यदि उसने कला को पूँजीवादी व्यवस्था की तरह सीधा-सादा बिकाऊ माल बना दिया, तो उसके कलाप्रेमी कहलाने का आधार उससे छूट जायेगा। इसलिए वह कुछ ऐसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और छद्म तरीकों का इस्तेमाल करता है जहाँ उसका अपना व्यवसायिक हित भी सध सके और उसे कलाप्रेमी होने का गौरव भी प्राप्त हो सके। इसके साथ ही कला जगत से प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा और तथाकथित आनन्द का भी वह सुख भोग कर सके। निश्चित रूप से कलाओं को प्रायोजित किया जाना इसका एक ख़ूबसूरत तरीक़ा है। आज केवल क्रिकेट और टेनिस जैसे खेल ही प्रायोजित नहीं किये जा रहे हैं बल्कि रंगमंच, कला दीर्घाएँ तथा नृत्य एवं गीत कार्यक्रम भी प्रायोजित हो रहे हैं। इसका एक सकारात्मक पक्ष तो यह जरूर है कि इसके कारण कलाओं का विकास हो रहा है। लेकिन इसका नकारात्मक पक्ष यह भी है कि इन सबके कारण अब कलाएँ कैरियर अधिक रह गयी है और रचनात्मक कम। कार्पोरेट को कला नहीं चाहिए बल्कि कला की भीड़ चाहिए। यदि यह सच नहीं है तो क्या कारण है कि बौद्धिक कार्यक्रमों को प्रायोजिक नहीं मिलते? उनका मूल उद्देश्य कला का विकास न होकर प्रत्यक्ष रूप से कला के विकास करने का श्रेय लेना, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से एवं प्रमुख रूप से अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करके अपने बाजार का विस्तार करना ही होता है। साथ ही वे एक स्वयंसेवी संगठन की तरह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध कराकर उनसे उनकी चेतना में इस झूठे तथ्य को भी रेखांकित करना चाहते हैं कि हम विशुद्ध व्यवसायिक नहीं हैं बल्कि हमें कला और संस्कृति की भी इतनी ही चिन्ता है। इसलिए ज़रूरी है कि बदले में आप हमारी भी चिन्ता करें। मज़ेदार बात तो यह है कि यह सब कुछ न तो अनजाने में हो रहा है और न ही छिपकर हो रहा है। साफ़-साफ़ हो रहा है और जानबूझकर किया जा रहा है।

कार्पोरेट और कलाओं का दूसरा सम्बन्ध यह है कि इन कलाओं को कार्पोरेट की दीवारों और कमरों में भी स्थान मिलने लगा है। इसे एक प्रकार से कलाओं का लोकतंत्रीकरण होना कहा जा सकता है। यह बात अलग है कि इस लोकतंत्रीकरण में हिस्सेदारी समाज के कुछ विशिष्ट लोगों की ही है। चित्रकला और शिल्पकला इस दृष्टि से अधिक लाभ की स्थिति में है।

आज केवल क्रिकेट और टेनिस जैसे खेल ही प्रायोजित नहीं किये जा रहे हैं बल्कि रंगमंच, कला दीर्घाएँ तथा नृत्य एवं गीत कार्यक्रम भी प्रायोजित हो रहे हैं। इसका एक सकारात्मक पक्ष तो यह जरूर है कि इसके कारण कलाओं का विकास हो रहा है। लेकिन इसका नकारात्मक पक्ष यह भी है कि इन सबके कारण अब कलाएँ कैरियर अधिक रह गयी है और रचनात्मक कम।

इसका प्रभाव यह हुआ है कि जहाँ कला और संस्कृति से जुड़ी संस्थाएँ और अकादमियाँ कलाओं के प्रोत्साहन का काम करती थीं, वहीं अब कलाओं के प्रशिक्षण के लिए न जाने कितनी तरह के कोचिंग सेण्टर खुल गये हैं। यह कार्पोरेट सेक्टर द्वारा पैदा की गई माँग की पूर्ति कला से जुड़ी नैसर्गिक प्रतिभा का सिद्धांत स्थगित हो गया है और 'करत-करत अभ्यास के' का सिद्धांत प्रमुख हो गया है। अब यह माना जाने लगा है कि कला न केवल सिखाई जा सकती है, बल्कि यह कि कला सिखाई ही जाती है। सिखाई गई इस कला का स्वरूप कार्पोरेट के कार्य और ड्रेस कोड की तरह बिल्कुल अप-टू-डेट और सलीके वाले होते हैं। किसी बड़े कार्पोरेट के किसी बड़े मालिक का कला के बारे में कहा गया एक प्रशंसात्मक वाक्य उस कलाकार का रातों-रात सिलेब्रेटी बना देता है। इस प्रकार चेयरमेन आफ दि कार्पोरेट, सी.ई.ओ. आफ दि कार्पोरेट या एम.डी. आफ दि कार्पोरेट अपने संस्थान के ही भविष्य का निर्धारण नहीं करता, बल्कि एक कलाकार के भी भविष्य का निर्धारण करने की ताकत रखता है। यह तो हो सकता है कि वह किसी कलाकार के भविष्य को बिगाड़ न

सके, लेकिन यदि वह चाहे तो यह कभी नहीं हो सकता कि वह उसके भविष्य को संवार सकता हो। कम से कम आज का जगत वह जगत नहीं है, जब फिल्म 'सिटीजन केन' बनी थी और उसका खरबपति मालिक मीडियामेकर होने के बावजूद अपनी प्रेमिका को श्रेष्ठ गायिका नहीं बना सका था। इस पूरे के पूरे आधुनिक परिदृश्य में यदि ईमानदारी से देखा जाये तो कलाकार एक बाजारू जीव जैसा ही नजर आता है। इस बेचारगी को केवल रचनात्मक स्तर पर लिया जाना चाहिए, न कि आर्थिक और सामाजिक स्तर पर। आर्थिक स्तर पर वह पहले से शानदार हुआ है और सामाजिक स्तर पर वह सिलेब्रेटी भी तथा पेज-थ्री पर स्थान पाने की प्रतीक्षा कर रहा है और यह तभी सम्भव होगा जब पहले वाला उसके लिए कुछ जगह खाली करे।

निश्चित रूप से यह युग कला का एक शानदार, भव्य किन्त अत्यन्त बेचारगी का युग जान पड़ता है। नहीं मालूम कि ऐसे में ऐसा कौन-सा रास्ता निकलेगा या फिर ऐसा कौन-सा रचनात्मक विस्फोट होगा, जहाँ कला की नयी फुलझिड़याँ दिखाई देंगी। कला के इस भव्य समारोह में छोटी-छोटी फुलझिड़यों के लिए स्थान की गुंजाइश लगातार कम होती जा रही हैं।

बंसीलाल परमार

● जयप्रकाश चौकसे

जीवन की पाठशाला में संवाद ज़रूरी

शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों और आदर्श के हिमायती जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' की स्मृति में व्याख्यान माला की शुरुआत उनकी कर्मभूमि खंडवा में हुई। वनमाली सृजन पीठ के इस वैचारिक अनुष्ठान के प्रथम वक्ता प्रख्यात सिने आलोचक, पटकथाकार, उपन्यास लेखक जयप्रकाश चौकसे ने 'शिक्षा में मूल्य' विषय पर लंबा वक्तव्य दिया। प्रस्तुत है व्याख्यान के मुख्य अंशों का पाठ।

बात यहाँ से शुरू करता हूँ कि हर शिशु की पहली पाठशाला उसका परिवार होता है और पाठशाला 'घर से दूर घर' होता है। इन दो जगहों पर उसको शिक्षा मिलती है। सबसे पहली बात मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तानी समाज में परिवार नाम की संस्था खण्डित हो चुकी है। अब हमारे परिवारों में नैतिक मूल्य नहीं रह गये हैं। ये ही भारतवर्ष की सारी सामाजिक व्याधियों का कारण है। केवल घर मजबूत हो जाने से, केवल घर में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो जाने से पूरे देश में परिवर्तन आ सकता है। मैं इस बात के खिलाफ हूँ कि भ्रष्टाचार विरोधी कानून बना दो। कानून से कोई समाज सुधरता नहीं है। समाज में सुधार अन्दर से लाना पड़ता है और अन्दर से समाज में सुधार परिवार ही ला सकता है।

मैं आपको अपना उदाहरण देता हूँ। मैंने 1982 में राजकपूर की 'प्रेमरोग' मध्यप्रदेश में प्रदर्शित की। ये वही जमाना था, जब एशिया टूर्नामेण्ट होने वाला था और इन्दिरा गांधी ने कलर टेलीविजन भारत में इण्ट्रोड्यूज कर दिया था। मैं 45,000/- रुपये का टेलीविजन लेकर घर आया। मेरी पत्नी ने कहा, 'इस 45,000/- में अगर कुछ पैसा राजकपूर का लगा है तो पूरा परिवार इस टेलीविजन को देख सकता है, मैं नहीं देखूँगी।' उनका तात्पर्य राजकपूर के पैसे से चोरी की। याने कि 'प्रेमरोग' की कमाई में से चोरी करके मैंने टेलीविजन खरीदा है। इसलिए उन्होंने कहा कि मैं नहीं देखूँगी, आप लोग देखिए। मैं अपने कमरे में बैठती हूँ। उस दिन मेरे मन में यह विचार आया कि केवल परिवार में एक व्यक्ति खड़ा हो जाये कि हम भ्रष्टाचारी के साथ नहीं हैं- चाहे वह हमारा पिता हो, चाहे वह हमारी माता हो, चाहे वह हमारा भाई हो, सुधार आकर रहेगा।

'परिवार' नामक संस्था का टूट जाना भारतीय समाज की सबसे बड़ी त्रासदी है। भारतीय परिवार का टूटना इस तरह से शुरू हुआ कि आज़ादी के बाद महानगरों की तरफ पलायन शुरू हुआ क़स्बों से और छोटे शहरों से लोगों का। इससे संयुक्त परिवार नाम की संस्था टूट गयी और एकल परिवारों का उदय हुआ।

संयुक्त परिवार के क्या लाभ हैं, क्या हानियाँ हैं– यह हमारा आज का विषय नहीं है, पर एक लाभ डेफिनेटली था कि दादा–दादी, नाना–नानी बैठकर शाम को बच्चों को जातक कथाओं के माध्यम से, रामायण के माध्यम से नैतिकता सिखाते थे और चार–पाँच भाइयों और बहनों के बीस–पच्चीस बच्चे एक ही परिवार में पलते थे। तो साथ में रहना, साथ में झगड़ना, साथ में खेलना, उठना, बैठना– ये एक बहुत बड़ी शिक्षा थी जो अपरोक्ष रूप से संयुक्त परिवार में मिलती थी। लेकिन नौकरी की तलाश में जब कोई युवक महानगर गया और उसके साथ केवल पत्नी और बच्चा है, तो इस परिवार में बच्चे ने अपना पहला झूठ अपने पिता से सीखा। जब पिता ने कहा, घंटी बज रही है, आने वाले को कह दो कि पिताजी घर पर नहीं हैं। यह पहला झूठ बच्चा अपने पिता के मुँह से सुनता है।

मैं यहाँ एकल परिवारों की बुराई करने के लिए नहीं आया हूँ, न संयुक्त परिवार की गरिमा–गाथा कहने आया हूँ, मैं सिर्फ़ यह बता रहा हूँ कि शिक्षा की हानि किस तरह से होना शुरू हुई है, कि परिवार में नैतिक मूल्य टूट गये। फिर आर्थिक उदारवाद के बाद बाज़ार और विज्ञापनों की ताक़तों ने परिवार पर इतने दबाव पैदा किये हैं कि उसका बिखरना निश्चित हो गया। क्योंकि सन् 1991 के बाद बाजार की ताक़तों ने और विज्ञापन की ताक़तों ने सुविधाओं के सपने जगाये, उन्होंने लोगों के मन में सुविधाओं का एक स्वर्ग रच दिया और सब लोग सुविधाभोगी हो गये।

आज भारतवर्ष में क्रान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि क्रान्ति हमेशा मध्यम वर्ग, मजदूर वर्ग या कृषक वर्ग करता है। ये तीनों वर्ग के लोग अपनी–अपनी आय की सीमा में ऐय्याश हो चुके हैं। रु. 3,000–4,000/– कमाने वाला आदमी रु. 800/– का मोबाइल ख़रीदता है। जिस आदमी की इनकम रु. 7,000–8,000/– पहुँच जाती है तो वह सबसे पहले रेफ़िजरेटर ख़रीदता है, एसी ख़रीदता है, कार उसके सपने में हमेशा बसी रहती है। तो हम लोगों का सारा ध्यान अब सुविधाओं की तरफ़ चला गया। बाज़ार अपनी कूटनीति में सफल हो गया, उसने इन तीनों वर्ग के मन से क्रान्ति का भाव मिटा दिया हमेशा के लिए। कोई उम्मीद नहीं है कि मध्यमवर्ग क्रान्ति करेगा, कोई उम्मीद नहीं है कि मजदूर क्रान्ति करेगा, कोई उम्मीद नहीं है कि कृषक वर्ग क्रान्ति करेगा, उनको आत्महत्या से फ़ुर्सत नहीं है। कैसे होगा इस देश में? मेरा ऐसा सोचना है, जो बहुत बुरी तरह से गलत भी हो सकता है, कि अगली क्रान्ति पूँजीपति को करना पड़ेगी। मैं बताता हूँ उसका कारण क्या है?

मेरे एक दोस्त हैं विनोद खेमकर, इन्दौर में। वह ओएनजीसी के कान्ट्रेक्टर हैं समुद्र से तेल निकालने वगैरह के। बहुत अमीर व्यक्ति हैं। उनको सफाई का बहुत शौक है। हर 10 मिनट में हाथ धो लेते हैं। उनकी गाड़ी में 10–12 थर्मस रहते हैं। एक ही टेम्प्रेचर का पानी पीते हैं। और मैं जब भी उनके घर जाऊँ तो बड़े गर्व से अपना 20 बाय 20 का एक बाथरूम दिखाते हैं। उनके घर में 16 सेवक हैं। ये सुबह सब आते हैं, गर्म पानी के फुव्वारे से नहाते हैं, साफ़–सुथरी वर्दी पहनते हैं और उनकी सेवा करते हैं।' मैंने कहा, 'खेमकर साहब, आप बहुत मूर्खता की बातें कर रहे हो। ये जो कीटाणु अपने शरीर के अन्दर लेकर आयेगा, ये आपके डिटाल साबुन से नहाकर मिटने वाला नहीं है, गर्म पानी के शावर से मिटने वाला नहीं है। अगर आप सचमुच चाहते हैं कि आपका जीवन सुरक्षित रहे तो एक दिन जाकर देखो कि आपके 16 सेवक कहाँ किन परिस्थितियों में रहते हैं।' 6 महीने बाद उन्होंने मुझे फोन किया कि– तुम्हारे कहने के दूसरे ही दिन मैं नीचे गया और देखा कि वो लोग झोपड़पट्टी में रहते हैं, गंदे मकानों में रहते हैं। मैंने एक ठेकेदार को बुलाकर उन 16 मजदूरों के मकानों को पक्का बनवाया, उसमें फर्शी लगवायी, उनमें टायलेट बनवाया कि ये वहीं से साफ–सुथरे होकर आयें।'

देखिए, पाली हिल पर रहने वाला आदमी या बम्बई के श्रेष्ठीवर्ग में रहने वाला आदमी, जब उसका बेटा कार से किसी को ठोककर घर आता है तो वह पुलिस वाले को 5.00 लाख रुपये देकर भगा देता है, लेकिन जब धारावी की झोपड़पट्टी में प्लेग फैलेगा और प्लेग के कीटाणु उसकी संगमरमरी हवेली के पास आयेंगे तो 5.00 लाख रुपये लेकर लौटने वाले नहीं हैं। वो रिश्वतखोर नहीं हैं, क्योंकि वो मनुष्य नहीं हैं, वो कीटाणु हैं, वो अन्दर घुसकर रहेंगे।

मैं निरन्तर यह प्रयास करता हूँ कि अमीरों को समझाता रहूँ कि आप अपनी रक्षा के लिए कुछ हद तक गरीबी मिटाइये। हमारी रक्षा करने के लिए हमारे ऊपर दया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दया का गुणगान करके सदियों तक हमको गुलाम बनाकर रखा है। हमको दया नहीं चाहिए, भिक्षा नहीं चाहिए,

आप हमको हमारा हक़ दीजिये। और ये आज नहीं तो कल, अगले 25 वर्षों में होकर रहेगा। क्योंकि भारतवर्ष इस समय बहुत बड़ा कारखाना है जहाँ धड़ल्ले से अमीर लोग पैदा हो रहे हैं। इस समय दुनिया के जो 20 सबसे अमीर आदमी हैं, उनमें 7 अमीर भारत के हैं। मैं कहता हूँ खाली 2-3 औद्योगिक घराने मुम्बई में ऐसे हैं, कि यदि वो अपना आधा पैसा भी देश के विकास में लगा दें तो विदेशों से सहायता माँगने की आवश्यकता नहीं है। इस देश में धन की कमी नहीं है। इस देश के मन्दिरों में, गुरुद्वारों में, गिरिजाघरों में अथाह सम्पत्ति है। आप क्या समझते हैं, चैन्नई के एक टेम्पल में क्या चढ़ावा आता होगा! 7-8 करोड़ रुपये प्रतिदिन। शिर्डी साइर्बाबा के यहाँ क्या चढ़ावा आता है! आप ब्लैकमनी ढूँढने स्विट्जरलैण्ड के बैंकों में जा रहे हैं। अपने मन्दिरों में जाओ, गुरुद्वारों में जाओ, आपको अथाह धन मिलेगा।

गाँधी जी की सारी शिक्षा हम लोग भूल गये हैं। गाँधी जी का 'स्वदेश' क्या था? अपने देश का धन, अपने देश के लोगों की मेहनत से देश बनाना है, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। अहमदाबाद से 35 किलोमीटर दूर 'सातरा' नामक एक छोटा-सा कस्बा है, जहाँ गाँधी जी ने 1920 में पहले विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। गुजरात विद्यापीठ के अन्तर्गत पहला शिक्षा केन्द्र सातरा में सन् 1920 में खुला है। मैं वहाँ लेक्चर देने जा चुका हूँ। आप जरा इस पर गौर कीजिए, वहाँ पर संगमरमर में अक्षरों से लिखा है- 'महात्मा गाँधी कथन'- 'जो शिक्षण संस्थाएँ अपने पाठ्यक्रम में नैतिकता का समावेश नहीं करेंगी और व्यवहारिक जीवन में कैसे जीना है इसको शामिल नहीं करेंगी, वो शिक्षण संस्थाएँ मृत समान हैं।'' ये 1920 में गाँधी जी का संदेश था।

श्रीमान् जी, आज शिक्षा में मूल्य का संकट बड़ा संकट नहीं है, इससे बड़ा संकट ये पृथ्वी है। पिछले 5 हजार सालों में इस पृथ्वी से 10 प्रतिशत खनिज पदार्थ मनुष्य ने निकाले थे, लेकिन पिछले डेढ़ सालों में 40 प्रतिशत खनिज वो धरती से निकाल चुका है। आपकी नदियाँ सूख रही हैं, आपके पहाड़ वृक्षविहीन हो रहे हैं, आपके खाने की हर चीज़ में मिलावट है, आपकी औषधि में मिलावट है। हम कहाँ जा रहे हैं, यार? किस तरफ जा रहे हैं हम, ये बहुत गम्भीरता से सोचने का है।

मैं फिर कहता हूँ कि केवल परिवार में नैतिक मूल्यों की स्थापना होते से ही ये देश बदल जायेगा। कोई कानून इस देश को बदल नहीं सकता। ये बड़े आस्थावान लोगों का देश है। बड़े ही प्रेमिल हृदय लोगों का देश है। ये बदलेगा प्रेम से। बड़ी-बड़ी बातों से कुछ नहीं होने वाला है कि विदेशों से धन आ जायेगा, विकास कर लेंगे।

1922 में पराढ़करजी- जो तिलक जी के 'केशरी' में सह-सम्पादक थे, ने इस पर एक फिल्म बनायी। फ़िल्म का नाम था- 'वन्देमातरम आश्रम'। वह फिल्म गाँधी जी के एक वाक्य से शुरू होती है। उस फिल्म का कथानक जैसा भी था, जो भी था, उसी को आपने बहुत सुघड़ रूप में 2010 में 'थ्री इडियट्स' में देखा है। वो वही फिल्म है जो 1922 की फिल्म है, जिसको नये रूप में, नये परिवेश में, बड़े सितारों के साथ 'थ्री इडियट्स' के नाम से बनाया गया है। 'थ्री इडियट्स' का पहला मॉडल, असल में क्या है, कि वह आदमी अपने नाम से डिग्री लेता ही नहीं है। उसने किसी और के नाम से डिग्री ली है। वह तो ज्ञान अर्जित करने आया था। डिग्री उसने किसी और को दे दी।

तो, घर नामक संस्था, परिवार नामक संस्था टूट गयी। पाठशालाओं का क्या हाल है? पाठशालाएँ गोडाउन बन चुकी हैं, जहाँ बच्चे ठूँस-ठूँसकर भरे हुए हैं और एक चेहराविहीन, नामरहित कक्षा में एक शिक्षक पढ़ाने का स्वाँग करता है, जिसके पास अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और इतनी बड़ी कक्षा में उसका कोई भावनात्मक तादात्म्य छात्र के साथ नहीं है। तो शिक्षा का पहला घाटा हुआ कि वह इम्पर्सनल हो गयी- पहले वो पर्सनल थी।

वनमाली जी को अपने विद्यार्थियों के नाम याद रहते थे। वे चेहराविहीन, नामरहित कक्षा को नहीं पढ़ाते थे। उनको मालूम था कि विष्णु खरे यहाँ बैठता है, राधेश्याम यादव यहाँ बैठता है, पहारे वहाँ बैठता है। वे तो विद्यार्थी को घर जाकर देखते थे कि वह तीन दिन से नहीं आया है तो सचमुच टाइफाइड हुआ है या बहाना करके घर पड़ा है। कहाँ है वो शिक्षक वनमाली की तरह, जो विद्यार्थी के घर जाकर मालूम करें कि बीमार है या नहीं है? किधर है, मुझे बताइये।

1963 में डा. के.के. खेमकर ने मुझे अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाया था। तीस साल बाद 1993 की बात

है। यशवन्त कॉलेज के सामने वाकिंग ट्रेक है। सुबह 6.00 बजे ठण्ड के दिन कोहरा छाया हुआ था। मैंने दूर से खेमकर साहब को पहचान लिया, क्योंकि उनकी हाइट 6 फुट 4 इंच थी। मुझे लगा कि इतने कोहरे में मैं जाकर कहूँ कि सर मैं जयप्रकाश चौकसे, 63 के बैच में मुझे आपने पढ़ाया है, तो यह उनके लिए असुविधाजनक होगा। थोड़ी देर और घूमते हैं, जब कोहरा छँट जायेगा तब जाकर उनसे मैं बात करूँगा। श्रीमान् जी, मैं उनके पास से ऐसे गुज़रा और उनकी गरज़दार आवाज़ गूँजी- 'चौकसे हो न!' मैं पलटा, मैंने चरण छुए। बोले, 'देखो 80 वर्ष की आयु में मेरी दृष्टि और स्मृति कमजोर नहीं हुई है। मैं अपने हर भूतपूर्व विद्यार्थी को उसके नाम से जानता हूँ और वह इस समय कहाँ पर क्या कर रहा है इस सबकी जानकारी मेरे पास है।' छात्र और शिक्षक के बीच की यह आत्मीयता किधर से लाइयेगा?

आपने बच्चे में कैसी मानसिकता भर दी है, कि प्रथम आने के लिए वह हत्या तक करने को तैयार हो गया। ये क्या बात है? क्या दो नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? तीन नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? ये जो जीवन के मूल्य बदले हैं, ये जो परिवार के मूल्य बदले हैं, उसकी कमीज मेरी कमीज से उजली क्यों है, इस समय यह सिण्ड्रोम चल रहा है और इसमें शिक्षा को कोई लाभ नहीं है, यह हानि है।

जब दिल्ली में सत्ता के दो केन्द्र थे- मनमोहन सिंह जी कुछ कहते थे और सोनिया गांधी जी कुछ कहती थीं। उस जमाने में शिक्षा मंत्री जी ने यू.जी.सी. नामक संस्था के समानान्तर नेशनल नॉलेज कमीशन की स्थापना की। यानी पालिटिकल सत्ता के दो केन्द्र थे। उन्होंने शिक्षा के भी दो केन्द्र कर दिये। लगातार नेशनल नॉलेज कमीशन और यू.जी.सी. में झगड़े होते रहे और एक मॉड्यूलर एजुकेशन सिस्टम निकाला गया। उस सिस्टम के तहत एक विशेष योग्यता प्राप्त शिक्षक दो महीने जाकर अपना विषय पढ़ायेगा और फिर दूसरे कॉलेज में चला जायेगा। एक विजिटिंग प्रोफेसर की तरह वह घूमता रहेगा। अब कैसे पर्सनल जान-पहिचान हो? मॉड्यूलर सिस्टम आफ एजुकेशन में आपने शिक्षक को व्यक्ति की जगह एक साया बना दिया, जो डॉक्टर की तरह विजिटिंग है। बीमार हुए आप तो वह आ गया, इंजेक्शन लगा दिया और वह फीस लेकर चला गया।

सच मानिये, शिक्षा में पर्सनल टच का होना बहुत ज़रूरी है, छात्र और शिक्षक के बीच में भावनात्मक तादात्म्य होना बहुत ज़रूरी है अन्यथा शिक्षा पूरी नहीं होगी। आज इसका अभाव है। भारत के प्रमुख अर्थशास्त्री खण्डू रांगड़ेकर का कहना है कि इस समय भारत में सबसे अधिक मुनाफ़ा देने वाला व्यवसाय शिक्षा है। नतीजा क्या है? नेताओं और पूँजीपतियों की श्रृंखला खुल गयी है। किसी के पास 100 कॉलेज हैं, किसी के पास 70 कॉलेज हैं। कोई प्राइवेट मेडिकल कॉलेज है, कोई प्राइवेट इंजीनियरिंग कॉलेज है या प्राइवेट डेन्टिस्ट कालेज है। पूरी शिक्षा पूँजीपतियों और नेताओं के हाथ में चली गयी है।

अगर आप भारत के नक्शे पर इस समय कहाँ-कहाँ शिक्षण संस्थाएँ हैं, काले-काले डाट बनायें तो पूरा देश आपको काले धब्बे के रूप में नजर आयेगा। कोई विदेशी देखे तो- अरे, भारत इतना शिक्षित देश है, इतनी सारी संस्थाएँ खुली हुई हैं। लेकिन हमने एक नयी जाति पैदा की है शिक्षित जहालत। शिक्षित व्यक्ति की मूढ़ता, ये हमने एक नयी जाति पैदा की है और ये जाति सारे भ्रष्टाचार की जड़ में है। यूँ गाट टु बी एजुकेटेड टु बी करैप्ट। कागजों की हेराफेरी गाँव का आदमी क्या करेगा, मामूली आदमी क्या करेगा? बड़ी बुद्धि लगती है हेराफेरी करने में। ये हमने पैदा कर दिया है। वह शिक्षित है पर बिल्कुल जाहिल है, बिल्कुल गँवार है। उससे तो अनपढ़ आदमी अच्छा है।

पाठशालाओं के पतन के कारण यह है कि वो पूँजीपतियों के हाथ में चली गयी हैं। इस समय पाठशालाओं में एक चीज बड़ी खतरनाक हो रही है, बच्चों में प्रतिस्पर्धा करायी जाती है। जो लड़का सबसे अव्वल आयेगा कक्षा में उसे पुरस्कृत किया जायेगा। आपको एक सत्य घटना बता रहा हूँ लखनऊ की। एक विधवा अपने बच्चे को बचपन से कान में मंत्र देती है कि तुम्हें हमेशा नम्बर एक आना है, नम्बर दो नहीं। वह माँ डिवोटेड है। रात में बच्चा पढ़ रहा है, तो वह एक-एक घण्टे में उसको गर्म दूध देती है, काफ़ी देती है और वह भी जागती है रातों में। बच्चा भी रात पर पढ़ता है, माँ भी जागती है रात भर। अब ये भावना ऐसी कूट-कूटकर भर दी है, नवीं क्लास तक वह प्रथम आता है, दसवीं कक्षा में ट्रांसफर पर उस शहर में कोई लड़का आया और वह उसको बीट कर देता है। वह नम्बर दो आता है और नया लड़का नम्बर एक आता है। ग्यारहवीं में भी यही होता है। अब माँ बहुत दुखी है। नम्बर एक आना है, नम्बर एक आना है। तो

बारहवीं परीक्षा के पन्द्रह दिन पहले वह नम्बर एक आने वाले लड़के की यह सोचकर हत्या कर देता है, कि इसकी हत्या किये बगैर मैं नम्बर एक नहीं आ सकता। बाद में खोजबीन में पुलिस उसको और उसकी माँ को अरेस्ट कर लेती है। यह सत्य घटना है।

होता यह है, कि आपने बच्चे में कैसी मानसिकता भर दी है, कि प्रथम आने के लिए वह हत्या तक करने को तैयार हो गया। ये क्या बात है? क्या दो नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? तीन नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? ये जो जीवन के मूल्य बदले हैं, ये जो परिवार के मूल्य बदले हैं, उसकी कमीज मेरी कमीज से उजली क्यों है, इस समय यह सिण्ड्रोम चल रहा है और इसमें शिक्षा को कोई लाभ नहीं है, यह हानि है।

मैं आपके सामने बड़ी डींगें हाँक रहा हूँ। ये काम मैंने भी किया है। जब मैं शिक्षक केंडीडेट के रूप में हिन्दी में एम.ए. कर रहा था, डी.के. जैन साहब हमारे हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे, मैंने उनसे जाकर पूछा कि अच्छे नम्बर कैसे आयेंगे? उन्होंने कहा, बहुत सरल है। एम.ए. फ़ाइनल में एक पेपर है, जो पूरा संस्कृत ग्रामर पर आधारित है। तो 50 पेज की संस्कृत ग्रामर की किताब घोंट लो, उसमें 80 नम्बर मिल जायेंगे। फ़र्स्ट क्लास आ जायेगा। और वो मैंने किया। मुझे आज भी संस्कृत का एक भी शब्द नहीं आता, पर वो संस्कृत की किताब घोंटकर पी गया। ये घोंटकर पीना ही गलत है। आप विषय को समझें या नहीं समझें, हमने कक्षाओं में प्रश्न पूछने से लोगों को हतोत्साहित किया है। लड़का घबराकर प्रश्न नहीं पूछता। नहीं मालूम है तो चुप रह जाता है। बाकी लड़के हँसने लगते हैं कि इस मूर्ख को ये भी नहीं आता। बच्चे बहुत निर्मम होते हैं। बच्चे भोले हैं, आप यह भूल जाइये। उनको मखौल उड़ाने का बड़ा शौक होता है।

एक दूसरी घटना है। प्रोड्यूसर प्रकाश मेहरा के पार्टनर थे सत्येन्द्र पाल चौधरी। उनका एक इकलौता बेटा था और वह पढ़ने में ब्रिलियेण्ट था। जब उसका बारहवीं में रिजल्ट आया और वह फेल हो गया तो उसने आत्महत्या कर ली। जब हम लोग उसकी शवयात्रा लेकर निकल रहे थे तो यूनिवर्सिटी का एक ऑफ़ीसर दौड़ते हुए आया, कहा कि रिजल्ट देने में हमसे त्रुटि हो गयी, ये फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट है। ये फैक्ट है। ये दोनों घटनाएँ मैंने देखी हैं। आपने शिक्षा का क्या कर दिया? कोई हत्या कर रहा है, कोई आत्महत्या कर रहा है? सत्येन्द्र पाल चौधरी अभी जीवित हैं, दिल्ली में हैं। लड़के की मृत्यु के बाद उन्होंने सारी फ़िल्मों के अधिकार बेच दिये। दिल्ली में उनका फ़ार्म हाउस है, अब उसमें अकेले रहते हैं। हमारे मंत्री जी दिल्ली में कहते हैं कि किसानों की आत्महत्या का कारण गरीबी नहीं है, उनकी नपुंसकता है। शर्म आना चाहिए! आप धरती पुत्र को नपुंसक कह रहे हैं? आप बीज डालकर धरती पर सोना निकालने वाले को नपुंसक कह रहे हैं? क्या बात है! बेवकूफ़ सरकारें हैं, अर्थहीन जीवन प्रणाली है। ये सब घटनाएँ एक के बाद एक होती जा रही हैं।

अब आपकी शिक्षा इस कदर सफलता केन्द्रित हो गयी है तो शिक्षा का उद्देश्य क्या रह गया है? सफलता पाना या छात्र के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। वह कला में भी निपुण बनें। सबसे बड़ी बात वो स्वतंत्र विचार शैली को जन्म दे। किसी बात पर वह यकीन नहीं करेगा, तर्क से तौलेगा– हाँ, ये ठीक है, ये ठीक नहीं है। लेकिन जो व्यवस्था है, जो बाजार है, वो चाहते नहीं कि स्वतंत्र विचार शैली का विकास हो, क्योंकि स्वतंत्र विचार शैली के विकास से उनका साम्राज्य डगमगा जायेगा। आदमी सोचने लगेगा, समझने लगेगा तो उसको समझ में आयेगा कि मैं लूटा कहाँ जा रहा हूँ। आप क्या समझते हैं, गरीबी कोई नैचुरल प्रोडक्ट है? ईश्वर के द्वारा बनायी हुई है गरीबी? नहीं। गरीबी इज मैन्यूफैक्चर्ड। इण्डिया और दुनिया में लार्ज स्केल पर गरीबी बढ़ायी जाती है, अन्यथा हमारे लिए सेवक कहाँ से आयेंगे, अर्दली कहाँ से आयेंगे, कारकून कहाँ से आयेंगे, बिज़नेस मैनेजर कहाँ से आयेंगे?

विजय सिंघानिया बहुत बड़े कैपेटिलिस्ट हैं। मेरे अभिन्न मित्र हैं। एक बार हम लोग दिल्ली गये थे। उनको 77 हजार फीट पर वैलून ले जाने का पुरस्कार मिलना था। हम उनके पर्सनल जेट में गये थे। उनके जेट में उनको टेलीफोन पर बात करने की सुविधा है। जब हम लौट रहे थे। कोई आधा घण्टे तक वह कुछ औरतों से बात करते रहे। मैंने कहा, सिंघानिया साहब, आप अरबपति हैं और विमान में मैं देख रहा हूँ कि आधे घण्टे से आप लड़कियों से बात कर रहे हैं। आपको लड़कियों से फुर्सत कभी मिलती है? आपने धन कैसे कमाया? उन्होंने कहा, 'अभी बताता हूँ।' इन्टरकाम पर कहा, दोनों पायलट अन्दर आये। दोनों अन्दर आये और मेरे को इण्ट्रोड्यूज़ किया, फिर वो चले गये। बोले, 'दोनों पायलट अन्दर आये थे तो हवाई जहाज कैसे चल रहा था? मशीन में आटो पायलट सिस्टम होता है। आटो पर डाल दो, वह चलता रहेगा।' कहने लगे, 'सारे उद्योगपतियों के बिज़नेस आटो पायलट पर चलते हैं। हम अच्छे मैनेजर चुन लेते हैं, वो धन्धा करते हैं, हम लड़कियाँ खोजते रहते हैं। हमको कोई ज़रूरत नहीं है धन्धा करने की।' दिस इज हाऊ दिस कण्ट्री इज वर्किंग?

अब मैं इस सफ़लता पर केन्द्रित शिक्षा के बारे में आपको महाभारत की एक छोटी-सी घटना सुनाना चाहता हूँ। भीष्म पितामह ने द्रोणाचार्य को गुरु नियुक्त किया और द्रोणाचार्य पाँच पाण्डव और सौ कौरवों को लेकर जंगल की तरफ चले गये। थोड़ी दूर जाने के बाद विद्यार्थियों ने पूछा कि आपका आश्रम कहाँ है? उन्होंने कहा, 'मेरा कोई आश्रम नहीं है। यहाँ पर अच्छा है, हरियाली है, पास में नदी है। यहाँ आश्रम बनाते हैं। आप लोग मिलकर बनाओ। लकड़ियाँ काटो, बाँस काटो, घास लाओ, बनाओ।' बेचारे बच्चे छः महीने तक परिश्रम करते रहे और आश्रम बन गया। शिष्यों ने कहा, 'महाराज, अब तो शिक्षा शुरू करो।' उन्होंने कहा, 'आधी शिक्षा तो हो गयी। जिस मूवमेन्ट में आपने झाड़ काटे वह तलवार चलाने का है, जिसमें आपने मिट्टी खोदी वह गदा चलाने का है। आधी शिक्षा हो गयी, अब मैं बाकी की शिक्षा दूँगा।' बाक़ी शिक्षा दी उन्होंने। जब पूरा कार्यक्रम ख़त्म हो गया 10 वर्ष का तो उन्होंने कहा- 'दुर्योधन, तुम अपने सौ भाइयों से कहो कि मशालें जलाकर इस आश्रम को जला दें।' उसने कहा, 'ये क्या कह रहे हैं आप? हमने इतने परिश्रम से बनाया और आप उसको जलाने का कह रहे हो? हम नहीं जलायेंगे।' फिर उन्होंने पाण्डवों से कहा कि आप लोग जला दो। पाण्डवों ने जाकर जला दिया। बोले, 'ये मेरा अन्तिम पाठ है। जब तक आप वस्तुओं का मोह नहीं त्यागेंगे तब तक आप अच्छे छात्र नहीं बनोगे।' यह कितना बड़ा लेसन है।

ग़रीबी कोई नैचुरल प्रोडक्ट है? ईश्वर के द्वारा बनायी हुई है गरीबी? नहीं। गरीबी इज मैन्युफेक्चर। इण्डिया और दुनिया में लार्ज स्केल पर गरीबी बढ़ायी जाती है, अन्यथा हमारे लिए सेवक कहाँ से आयेंगे, अर्दली कहाँ से आयेंगे, कारकून कहाँ से आयेंगे, बिज़नेस मैनेजर कहाँ से आयेंगे?

मैं आपको बताऊँ, दुनिया के सारे ग्रन्थों का सार महाभारत में है, लेकिन समस्या यह है कि महाभारत की विश्वस्त कॉपी हाथ नहीं लगती है। बाज़ार में जो उपलब्ध है वह कचरा है। वह असली महाभारत नहीं है। मैंने जीवन के बारह वर्ष इसमें लगाये हैं। मेरे पास महाभारत विषय से जुड़ी दो हजार किताबें हैं। मैंने उनका अध्ययन किया है। लेकिन बाज़ार में गलत महाभारत प्रचारित हो चुकी है और वो कितनी गलत है, मैं आपको इसका छोटा उदाहरण देता हूँ।

जब मैं टेलीविजन शो 'दस का दम' लिख रहा था। सोनी टीवी के ऑफ़ीसर मुझसे बड़े प्रभावित थे कि आप बहुत अच्छा काम रहे हो। आपके पास कोई मसाला है सीरियल का? मैंने उनको चार घण्टे में अपनी महाभारत का विवरण दिया, कि ये है। बोले, 'हम कल फिर विचार करेंगे।' दूसरे दिन मैं अपने साथ मनमोहन शेट्टी को ले गया। शेट्टी ने कहा, 'मैंने चौकसे की महाभारत पढ़ी है। इसको बनाने में 500 करोड़ रुपये मैं लगाता हूँ। आपको 500 करोड़ में पूरी महाभारत बनाकर देंगे, आप टेलीकास्टिंग के बाद हमको पैसा देना। देखिए, मैंने उनको पटकथा दी। मैंने उनको पूँजी लगाने वाला दिया। एक हफ्ते बाद उन्होंने रिजेक्ट कर दिया कि- 'ये महाभारत लोग स्वीकार नहीं करेंगे। महाभारत की जो छवि लोगों के दिमाग में बैठ गयी है, उस छवि को कैसे बदलेंगे आप? आप तो कह रहे हैं द्रौपदी के चीरहरण के बाद वह दुर्योधन कहलाया, उसके पहले वह सुयोधन था। आप तो कथा कुछ और कह रहे हैं।' मैंने कहा, मैं आपको चार महाभारत के संस्करण देता हूँ, चार टेलीविजन सीरियल पर चलाइये, चारों अलग-अलग हैं। ग्रीक राइटर होमर ने कहा था कि महाभारत एक बहुत बड़ा घने वृक्ष वाला बहुत अँधेरे से भरा हुआ जंगल है। उसमें आप जितने गहरे जायेंगे, उतनी आप नई-नई चीज़ें पायेंगे। ये है नहीं। मैं पूना गया था एक बार जब सलमान खान की 'बॉडीगार्ड' लिख रहा था। पूना में बहुत बड़े पहाड़ के ऊपर संस्थान है। सारी ग्रेनाइट, मार्बल की बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें, 40-40 फीट चौड़ी सीमेण्ट की विशाल सड़कें। मैंने उनकी लाइब्रेरी जाकर देखी, बमुश्किल पाँच सौ किताबें हैं। वो भी घटिया! किसी शिक्षण संस्थान की गुणवत्ता उसकी लाइब्रेरी पर आधारित है।

सन् 2002 में मैं जवाहरलाल यूनिवर्सिटी गया था। मेरे लेक्चर की एक हफ्ते भर की श्रृंखला थी। जवाहरलाल यूनिवर्सिटी 800 एकड़ में बसी हुई यूनिवर्सिटी है। इतिहास की इमारत के बाद 2 किलोमीटर तक जंगल है, फिर आपको भूगोल की इमारत मिलेगी, फिर 4 किलोमीटर जंगल है, फिर साहित्य की इमारत मिलेगी। जब हम सुबह वाक पर जाते थे वहाँ पर हमने हिरण देखे, खरगोश देखे, मयूर को नाचते हुए देखा। वो ऐसा प्रकृति के बीच में है। मैं वहाँ की लाइब्रेरी में गया। उन दिनों मैं 'ताजमहल' के निर्माण पर काम कर रहा था। मैंने कहा, 'शाहजहाँ से सम्बन्धित कितनी किताबें हैं?' उन्होंने कहा, 'आप दूसरे माले पर कक्ष क्र. 12 में जाइये। 'यहाँ जितनी

किताबें आप देख रहे हैं सब शाहजहाँ की हैं। आप 5-7 साल यहाँ रहिये, हम किताबें देते रहेंगे। टेबल-कुर्सी है, चाय-काफी है, पढ़िये, नोट्स बनाइये और चले जाइये।' ये होते हैं शिक्षा संस्थान! किधर है? अब आपने ग्रेनाइट की इमारतें खड़ी कर दी हैं।

श्रीमान, मुम्बई में एक हायर सेकेण्डरी स्कूल है, जिसमें पढ़ाने वाले 20 के 20 शिक्षक फ्रांस से आये हैं। वहाँ फ्रांस भाषा में अध्यापन किया जाता है। पहले दो साल विद्यार्थी को फ्रेंच भाषा सिखायी जाती है। वहाँ बहुत धनाढ्य परिवारों के लड़के इसलिए जाते हैं कि उस स्कूल से शिक्षित लड़के को आसानी से सोल्वोन यूनिवर्सिटी-पेरिस में एडमिशन मिल जाता है। इस स्कूल की 24.00 लाख रुपये सालाना ट्यूशन फ़ीस है, अन्य ख़र्चे अलग। इससे बड़ा मुकेश अम्बानी का स्कूल है। अब पूँजीपतियों के हाथ में शिक्षा है या नेताओं के हाथ में है। उन्होंने वो सब महँगा कर दिया।

पहले से ये देश दो हिस्सों में बँटा है- बेहद अमीर और बेहद गरीब। अब वह खाई और बड़ी होती जा रही है। लेकिन ये सिलसिला कहाँ से शुरू हुआ? इसके तीन पक्ष हैं। मैं अपनी बात संक्षेप में कहूँगा। साहब, तीन महत्तवपूर्ण घटनाएँ हैं। एक घटना 1969 की है, जब इजराइल के शिक्षाविद डेविड साहब वाशिंगटन गये और उन्होंने अमेरिकन सरकार को कनविन्स कर दिया कि आपकी जितनी यूनिवर्सिटीज हैं, सबमें साहित्य, दर्शन, इतिहास, के बजट 20 प्रतिशत कर लो और इनके बचे हुए पैसे में मार्केटिंग और बिज़नेस मैनेजमेन्ट की संस्थाएँ खोलो। अमेरिकन प्रेसीडेंट ने पूछा- ये क्यों? उन्होंने कहा, इतिहास, साहित्य अगर आप पढ़ाते रहेंगे तो कुछ बड़े सोचने-समझने वाले विद्यार्थी बाहर निकलेंगे जिनसे पूँजीवाद को भी ख़तरा होगा और इजराइल को भी ख़तरा होगा। इसलिए आप शिक्षा का कार्यक्रम बदल दीजिये।' इसीलिए इज़राइल का जन्म कई मायनों में बहुत महत्तवपूर्ण है।

डेविड साहब की शिक्षा पद्धति अमेरिका में जारी हो गयी। अब इससे हमारा क्या रिश्ता है? वह तो अमेरिका है, हमारा रिश्ता क्या है? आज़ादी के पहले हम सब लोग शिक्षा के लिए आक्सफ़ोर्ड जाते थे, केम्ब्रिज जाते थे और स्वतंत्रता संग्राम के महान योद्धा डॉ. अम्बेडकर, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू- ये सब इंग्लैण्ड में पढ़े हुए हैं। आज़ादी मिलने के बाद हमें इंग्लैण्ड से नफ़रत थी क्योंकि दो सौ साल उन्होंने हम पर बहुत ज़ुल्म किया था। हमने इंग्लैण्ड जाना छोड़ दिया और अमेरिका की तरफ़ जाने लगे और इसमें हॉलीवुड सिनेमा ने बहुत प्रभाव डाला। उन्होंने अमेरिकन जीवन शैली की जो चमक-दमक दिखायी, उसने बहुत प्रभाव डाला। इसके बाद भी हमारा कोई नुकसान नहीं हो रहा था। डेविड साहब की वजह से हमारा कोई नुकसान नहीं हो रहा था।

आज जितनी प्राइवेट यूनिवर्सिटीज हैं, ये सब अमेरिका का सिलेबस ही फ़ॉलो कर रही हैं। कुछ भी इण्डियन नहीं है। मैं बहुत हैरान हूँ और बहुत दुखी हूँ कि मेरी 5 हजार साल की उदात्त संस्कृति है, फिर हम उसके वारिस इस क़दर कमीने क्यों हैं, इस क़दर छोटे और तुच्छ क्यों हैं? मैं इसका भी आपको जवाब दूँगा। मुझे इस बात का घोर दुख है।

तो अमेरिकन कैरिकुलम लागू हो गया, हमारी उदात्त संस्कृति हाशिये पर फेंक दी गयी। कोई नहीं पढ़ाता, न कोई पढ़ता, वह केवल चुनाव जीतने के लिए काम में आती है, अब उसका और कोई काम नहीं रह गया। यह एक बहुत बड़ी धारा है कि दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम हमारे यहाँ लागू हो गये हैं। मुम्बई जैसे शहर में एक स्कूल में फ्रेंच टीचर फ्रेंच भाषा सिखा रहे हैं, क्योंकि उनके माता-पिताओं को अपने बच्चों को सोल्वोन यूनिवर्सिटी-पेरिस भेजना है। ये क्या हो रहा है? ये आप क्या पैदा कर रहे हैं?

मैं अपने ग्राण्ड चिल्ड्रन को स्कूल जाते हुए देखता हूँ, जितना उनका वजन है उतना तो बस्ते का वजन है। मैंने उनके माँ-बाप को कहा कि इन बच्चों की कमर झुक जायेगी। बस्ते का वजन इतना क्यों है? क्योंकि इनको आगे ऐसे नागरिक चाहिए जो झुककर चलें, आँख झुकाकर बात करें। इसीलिए गुलामों की पैदावारी की जा रही है। मैं आपको सत्य बात कह रहा हूँ।

हमने शिक्षक पद की गरिमा खो दी है। पहले शिक्षक माने गुरु। हम 'गुरु पूर्णिमा' तो रखते हैं, पर सूखी गुरु पूर्णिमा रखते हैं। हमारे पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन के जन्मदिवस पर 5 सितम्बर को 'शिक्षक दिवस' भी मनाते हैं। अरे भाई, ऐसे तो हम 'मदर्स डे' भी मनाते हैं। ये 'डे' मनाने से कुछ नहीं होता। शिक्षक की गरिमा आपने छीन ली, आजादी के बाद तो बिल्कुल छीन ली। इस समय आप बिहार जाइये, वहाँ दहेज का 'रेट कार्ड' लगा रहता है। फारेस्ट ऑफ़िसर 3 करोड़ दहेज, डिप्टी पुलिस आफीसर 1.50 करोड़ दहेज, इंजीनियर 1 करोड़ दहेज, डॉक्टर 4 करोड़ दहेज। मैंने पूछा, 'शिक्षक?' जवाब मिला- 'अरे कोई विधवा-इधवा से शादी करा देंगे।' अब बताइये आप? मैं हर छः महीने में बस में बैठकर किसी न किसी गाँव में चला जाता हूँ दो-चार दिन रहने के लिए। मेरा देश वहीं है। मैं अपनी कार लेकर नहीं

जाता। आधा दर्जन कारें हैं मेरे पास। एक बार मैं नदी के किनारे एक गाँव में था, महिलाएँ सुबह लोटा लेकर झाड़ियों के पास दैनिक कार्यक्रम के लिए बैठती थीं। किसी ने कहा- देखो-देखो, गाँव का पटेल आ रहा है। सब औरतें सम्मान में खड़ी हो गयीं। वैरी गुड! थोड़ी देर बाद उधर से कोई और आ रहा था- 'अरे एक निगाह दे दो, मास्टर साहब आ रहे हैं।' सबने कहा, 'बैठे रहो, इसके लिए क्या खड़े होना है।' ये आपने देश के शिक्षक की हालत बना दी है? किधर से आपको गुरु द्रोणाचार्य मिलेंगे? कहाँ से मिलेंगे भाई? आपने शिक्षक पद का पूरी तरह से सम्मान लूट लिया है। वह सबसे गरीब आदमी है। वह आर.के. लक्ष्मण के कार्टून कोने में मिलता है और कहीं नहीं मिलता। अब पूँजी कमाना, पैसे कमाना- मैं इसको बुरा नहीं मानता हूँ। लेकिन उसका मोह करना, उसको एकत्रित करना, उस पर साँप बनकर बैठ जाना, ये गड़बड़ है। देखिए, आप दुनिया की किसी भी समस्या पर बात करें, आपको घूम-फिरकर अर्थशास्त्र पर आना ही पड़ेगा। उसके सिवाय कोई चारा नहीं है। आपको यह भी बता दूँ कि चाणक्य ने अपनी राजनीति की जो किताब लिखी है उसका नाम राजनीति नहीं है, उसका नाम 'अर्थशास्त्र' है। पिछले 40-50 सालों से नियो क्लासिकल ऑफ़ इकानॉमिक्स है। ये कहते हैं कि हर चीज़ के आँकड़े की गणना करना है और उसके आधार पर लाभ और हानि का आकलन करना है। आँकड़ों के अतिरिक्त-गणित के अतिरिक्त- कुछ भी सत्य नहीं है। दिस इज़ नियो क्लासिकल। इसके अपोज़िट एक स्कूल है- हेट्रोडेक्स स्टूडेण्ट एसोशिएशन ऑफ़ इकानामिक्स। उसकी थ्यौरी यह है कि नियो क्लासिकल ने गणित और आँकड़ों पर आधारित रहकर कभी भी आने वाली मंदी के दौर की फोरकास्ट नहीं की है, मंदी से निपटने की भी फोरकास्ट नहीं की है। क्योंकि केवल गणित और आँकड़ों से आप कभी भी सम्पूर्ण सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। हेट्रोडेक्स के अर्थशास्त्र में लाभ-हानि के साथ सम्रग मानवता का लाभ, इतिहास और साहित्य बोध का समावेश है।

अब इसके बारे में आपको एक बात और कहना चाहता हूँ। 1989 में वाशिंगटन में बैठकर फैसला किया गया कि भारत जैसे जितने देश हैं, जहाँ बहुत आबादी है, बहुत खनिज पदार्थ हैं, उन सबको फोर्स किया जाये कि वह आर्थिक उदारवाद और भौगोलिकीकरण को अपनायें, ताकि हमारा बाजार वहाँ पहुँच सके और 1991 में हमने आर्थिक उदारवाद को अपना लिया। पर आप अपने असली धर्म से विमुख हो चुके हैं। वापिस लौटिये। गो बैक टु योर रूट्स, यू विल फाइण्ड दि आन्सर्स।

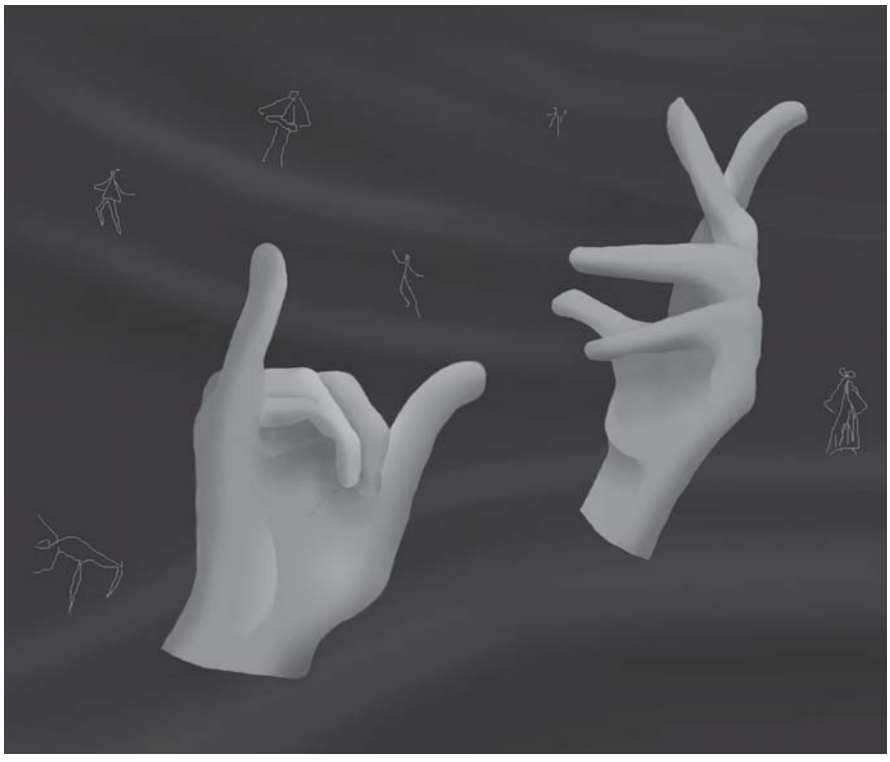

● इलाशंकर गुहा

गाँधी का कला बोध

कई बार यह बात भी मन में उठती है कि इतनी राजनीतिक व्यस्तता और लगभग अनथके जीवन में गांधीजी ने कभी कलाओं के बारे में कभी कुछ सोचा भी था या नहीं। उनका भावनाओं का संसार रूखा भी नहीं था और कलाओं से दूर भी नहीं। जिस आदमी की तीक्षा पारखी बुद्धि चालक ब्रिटिश राजनयिकों को आगे पीछे के सारे मनोभावों को पल में ताड़ लेती थी– क्या इतना चैतन्य मन कला बोध या संगीतबोध से अछूता था।

''मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर दीवारों से घिरा रहे और खिड़कियाँ बंद रहे। मैं चाहता हूं कि सारी दुनिया की संस्कृति हवा की मानिंद मेरे घर में चारों ओर बहा करे, कोई एक संस्कृति मेरे पैर उखाड़ दें– मुझे पसंद नहीं''

विश्व की भारत की विविध संस्कृतियों के प्रति आदर और प्रेम प्रदर्शित करती महात्मा गांधी की ये पंक्तियां आकाशवाणी भोपाल के मुख्य भवन के द्वार से ही देखी जा सकती है। आकाशवाणी ने अपनी प्रसारण संस्कृति का विकास भी लगभग इन्हीं विचारों की छत्रछाया में किया।

कई बार यह बात भी मन में उठती है कि इतनी राजनीतिक व्यस्तता और लगभग अनथके जीवन में गांधीजी ने कलाओं के बारे में कभी कुछ सोचा भी था या नहीं। उनका भावनाओं का संसार रूखा भी नहीं था और कलाओं से दूर भी नहीं। जिस आदमी की तीक्षा पारखी बुद्धि चालाक ब्रिटिश राजनयिकों को आगे पीछे के सारे मनोभावों को पल में ताड़ लेती थी–क्या उसका इतना चैतन्य मन कला बोध या संगीतबोध से अछूता था। वो कहते थे कि मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि आधुनिकता के भंवर में लोग अपनी प्राचीन परंपरा की अवहेलना करते है, उपेक्षा करते हैं।

महात्मा गांधी कला और कलाकारों को अपने जीवन दर्शन के आधार पर पहचानते थे। 'कला, कला के लिए' इस उक्तियों में वे विश्वास नहीं करते थे। गांधीजी प्रकृति की विराट सुंदरता और उसके वैश्विक प्रभाव का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि सच्ची कला वही है जिसे लाखों लोग देखें, समझें और उससे आनंद को प्राप्त कर सकें। याने कला जनोन्मुखी हो और आनंद की सर्जना करती हो। अपने फ़कीरी लिबास और कृशकाय शरीर के बावजूद गांधीजी दुनिया भर के चित्रकारों और फ़ोटोग्राफर्स के लिए आकर्षण का केन्द्र थे। ये आकर्षण आज भी बरकरार है और रहेगा। गांधी

गांधीजी कलाकारों का बहुत सम्मान करते थे किंतु वे कला में आध्यात्मिक ऊंचाइयों और गहन आस्था के दर्शन चाहते थे। उन्हें अपने फोटो खिंचवाना अधिक पसंद नहीं था, फिर भी चित्रकारों द्वारा बनाई गई कलाकृति पर तारीख सहित अपने हस्ताक्षर करने के बाद वे संदेश लिखते थे, जैसे– ''ट्रूथ इज़ गॉड''

जी कला को बहुत गहरे से समझते थे और उसे मनुष्य की आत्मा और उसके बाहरी व्यक्तित्व के बीच एक समन्वय के रूप में देखते थे।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जो राजनैतिक कमेटी के सम्मेलन होते थे उनमें हर प्रदेश के लोग अपने–अपने प्रदेश की संस्कृति के अनुरूप द्वार आदि के साथ सुंदर सजावट करते थे। सूरत जिले में 1938 में हरिपुरा गांव में कांग्रेस का सम्मेलन हुआ। शांति निकेतन से आए महान चित्रकार नंदलाल बसु ने यहां आकर्षक साज सज्जा की, सुंदर तोरण द्वार बनाए, चित्रों की प्रदर्शनी की। गांधीजी ने इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की। इन्हीं नंदलाल बसु का 12 अप्रैल 1930 को एक रेखा में बनाया गया लाठी लेकर चलते हुए गांधी का रेखाचित्र पूरे विश्व में उनकी पहचान बन चुका है। जबलपुर के शहीद भवन स्मारक में भी नंदलाल बसु ने दीवारों पर चित्र बनाए है। भारतीय संविधान की मूल प्रति पर पन्नों के किनारों पर स्वर्ण रंगों से भारतीय संस्कृति के विभिन्न चित्रांकन भी नंदलाल बसु ने ही किए है।

टैगोर के शिष्य थे नंदलाल बसु, अवनीन्द्रनाथ और आधुनिक चित्रकला के आरंभिक कलाकार। उन्होंने बंगाल शैली की चित्रकला को पारंपरिक भारतीय चित्रकला अंजता शैली के समन्वय से विकसित किया। शांति निकेतन में गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें कला भवन में आचार्य का पद दिया।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान स्वदेशी आंदोलन को और अधिक प्रभावशाली बनाने में कलाकारों ने अपना बड़ा योगदान दिया। वस्तुतः कला की केन्द्रीय पहचान महात्मा गांधी और नेहरू जी के चित्र थे। विदेशी चित्रकार की आंदोलन के दौरान गांधीजी की विभिन्न कवियों और ऐतिहासिक पलों को चित्रांकित कर रहे थे। गांधीजी अपने व्यस्त समय के बावजूद इन चित्रकारों को समय देते थे। नंदलाल बसु ने अपने संस्मरण में लिखा कि 'महात्मा गांधी' हम जैसे चित्रकार तो नहीं है, किंतु मैं उन्हें सच्चा कलाकार मानता हूं क्योंकि उन्होंने अपने अलावा, अपने आदर्शों के अनुरूप अन्य लोगों को गढ़ने में कौशल प्रदर्शित किया है।

1918 में शांति निकेतन में गांधीजी की मुलाकात मुकुल डे से हुई। सरोजिनी नायडू भी मुकुल डे के साथ थी। मुकुल ने गांधीजी से उनका पोर्ट्रेट बनाने के लिए अनुमति मांगी। गांधी जी बोले कुछ नहीं केवल मुस्कुराये। मुकुल गांधी जी की सादगी भरी वेशभूषा और सरलता पर मुग्ध थे। चित्रांकन पूरा हुआ और पेन्टिंग गांधी जी के सामने रखी गई। गांधीजी हंसकर बोले– वाकई क्या मैं ऐसा दिखता हूं। मैं उस एंगल से अपना चेहरा नहीं देख सकता। फिर मुकुल की प्रार्थना पर उन्होंने तारीख सहित गुजराती में पेन्टिंग पर हस्ताक्षर किये।

दस वर्ष बाद सीएफएन्ड्रयूज ने मुकुल का परिचय गांधी से करवाया– गांधीजी तुरंत मुकुल को पहचान गये और उन्होंने साबरमती आश्रम में उनके रहने खाने की व्यवस्था कर दी और पेन्टिग बनाने की अनुमति भी दी। मुकुल डे ने वहां चार महत्वपूर्ण पेटिंग बनाई। कुछ रेखांचित्र भी बनाये थे और कस्तूरबा का एक पोर्टेट भी तैयार किया। गांधीजी ने उनकी कला का सूक्ष्म निरीक्षण किया–फिर प्रसन्न होकर साबरमती आश्रम की स्कूल का आधा हिस्सा–वहां चित्रकला की कक्षाएं चलाने के लिए दे दिया।

शांति निकेतन में दक्षिण से आए युवा कलाकार के. वेंकटप्पा ने भी चित्रकला सीखी थी। उन्होंने विभिन्न मौसम और हालातों में उटी पर बहुत सारे चित्रांकन किये। गांधी जी ने इन चित्रों को देखकर एक सधे हुए कला समीक्षक के रूप में 'यंग इंडिया' में टिप्पणी लिखी। एक साधारण आदमी भी के. वेंकटप्पा द्वारा बनाई गई पेटिंग्स में प्रकृति के सूक्ष्म चित्रण और सधी हुई लाइनों और रंग संयोजन की तारीफ किए बना नहीं रह सकता। उनके चित्रों में सुबह, शाम और रात्रि में शांति, प्रकृति की सुरम्यता बादलों के गहरे प्रभाव और वातावरण की सौम्यता का चित्रण–प्रकृति के साथ उनके मन के एकाकार होने की अनुभूति प्रदान करता है। गांधी जी ने फिर के. वेंकटप्पा को कहा कि मैं प्रसन्न हूं आपको मेरा आशीर्वाद है किंतु यदि आप जीवन पर चरखे के प्रभाव को दर्शाती हुई पेन्टिंग बना सकें तो मुझे अधिक खुशी होगी। हां, यदि ये आपको आकर्षित करता हो

महात्मा गांधी के लिए ईश्वर, सत्य और सुन्दरता परस्पर आश्रित रहे। उनके अनुसार– जब तक किसी भी कला में स्वयं की छाप नहीं होती उसमें रस नहीं पैदा होता, सौन्दर्यबोध नहीं जागता। वे कला और कलाकारों के संरक्षक थे। वे कला में विविधता के पक्षधर थे, पर कला में जीवन बोले, आनंद हो और सबके लिए हो–यही उनका मत था। कला में मन–आत्मा और शरीर एक होकर प्रगट हों, बापू की यही कामना रही।

तो अन्यथा कोई बात नहीं। गांधी जी कला को अपने उद्देश्यों और आदर्शों के अनुरूप देखना चाहते थे– क्योंकि उनका ध्येय स्पष्ट था।

दांडी मार्च के समय गांधी पर सबसे अधिक चित्र बनाये गये। अलग–अलग कलाकारों द्वारा तैयार ये पेन्टिंग्स किसी शैली विशेष से संबंधित नहीं थी– वरन उसमें तथ्य और मनोभावों का चित्रण था। दांडी मार्च में गांधी जी के आधी रात में गिरफ्तार हो जाने पर कलाकार विनायक एस मासोजी ने उनकी एक पेंटिंग बनाई–जिसमें उनकी तुलना ईसा मसीह को गेथास्मेने बागान के प्रसंग से की गई– उस पेटिंग का नाम था– 'दि मिडनाइट अरेस्ट'। बाद में गांधीजी और राजकुमारी अमृतकौर ने उस पेंटिंग को कांग्रेस की आर्ट गैलेरी में देखा। राजकुमारी ने पूछा कि क्या वास्तव में रात को ऐसा ही हुआ था या ये कलाकार की कल्पना मात्र है। गांधीजी बोले हां–हां ऐसा ही हुआ था। वे ठीक वैसे ही मुझे गिरफ्तार करने आये थे।

1930 में गोलमेज कान्फ्रेंस के समय गांधीजी लंदन में थे। तब एक प्रसिद्ध अमरीकी शिल्पकार जो डेविड सन ने उनका शिल्प बनाया। जो अपने बनाये बहुत से शिल्पी के चित्र गांधीजी को दिखाने लाए थे। गांधी जी ने उन्हें देखकर कहा था– 'अच्छा आप मिट्टी से हीरो बनाते है'। डेविडसन ने लिखा– गांधीजी चुपचाप प्रकृतिस्थ होकर बैठ गये। उन्होंने एक बार भी मिट्टी या मेरी ओर नहीं देखा, वे लगभग आत्मस्थ थे।

गांधीजी कलाकारों का बहुत सम्मान करते थे किंतु वे कला में आध्यात्मिक ऊंचाइयों और एक आस्था के दर्शन चाहते थे। उन्हें अपने फोटो खिंचवाना अधिक पसंद नहीं था, फिर भी चित्रकारों द्वारा बनाई गई कलाकृति पर अपने तारीख सहित हस्ताक्षर करने के बाद वे संदेश जैसे 'ट्रूथ इज गॉड' आदि अवश्य लिखा करते थे।

1936 में गांधीजी ने स्वयं नंदलाल बसु को लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस पेवेलियन की साज सज्जा करने बुलाया। नंदलाल ने अपने सहयोगी कलाकारों के साथ आकर बांस, लकड़ी आदि देशज सामानों से भारत के इतिहास और परंपरा पर चित्र बनाकर अविस्मरणीय सज्जा की। सम्मेलन में अपने भाषण में गांधीजी ने कहा– ''पहली बार एक ग्राम्य कला की प्रदर्शनी बनी है– ऐसा सामान जो हम शहरी पसंद नहीं करते उससे गांव वाले कितना सृजन करा सकते है– ये एक उदाहरण है–यहीं उन्होंने ग्रामीणों की कला को संरक्षित करने, उनके जीवन आर्थिक अवस्था आदि की पड़ताल करने और उनके उद्योगों को विकसित करने की आवश्यकता पर भी बल दिया।

प्रदर्शनी हाल में एक टेबिल के नीचे वाली छूट गयी थी। किसी ने ध्यान नहीं दिया– गांधीजी बोले क्या इससे आपका सौन्दर्य बोध विकृत नहीं होता

इसके बाद के अधिवेशनों में गांधीजी नंदलाल बसु को बुलाते रहे एक बार पूछा भी कि आप मुझे बताओ ये सामान कहां से कैसे इकट्ठा करते हो– फिर बाद में उन्होंने नंदलाल के लिए 200 रूपए प्रतिमाह शांति निकेतन आर्ट स्कूल भेजने की व्यवस्था कर दी।

अपने संस्मरणों में नंदलाल बसु ने लिखा कि एक बार बापू का आदेश हुआ कि अधिवेशन में ऐसी प्रदर्शनी करो, जिससे गाँव को रास्ते चलते कलाकृतियों को देखने का अवसर मिले। सारा नगर कलाकृतियों से ढंग दो–प्रसंग इदिपुरा सम्मेलन का था– कई छात्रों के साथ मैंने पर को ढंग पर बहुत सारे चित्र बनाकर चारों ओर तोरण द्वार स्वयंसेवकों बापू, नेताजी सुभाष के रहने की जगह पर लटका दिया। चित्रों की प्रदर्शनी भी की। जिस दिन बापू प्रदर्शनी देखने आए पहले मुझे देखा फिर हंस पड़े– बोले अभी भी ज़िंदा हो– मैं बोला यहां आकर और स्वस्थ हो गया हूं असल में उन दिनों हरिपुरा में मलेरिया फैला हुआ था– बापू ने इसी को लक्ष्य कर मुझे कहा था– ये उनके आतंरिक प्रेम के सूचक थे।

नंदलाल वसु बापू के निर्मल मन और स्वभाव से बहुत प्रभावित थे। उनका कहना था कि भारतीय

गांधीजी कलाकारों का बहुत सम्मान करते थे किंतु वे कला में आध्यात्मिक ऊंचाइयों और एक आस्था के दर्शन चाहते थे। उन्हें अपने फोटो खिंचवाना अधिक पसंद नहीं था, फिर भी चित्रकारों द्वारा बनाई गई कलाकृति पर अपने तारीख सहित हस्ताक्षर करने के बाद वे संदेश जैसे 'ट्रूथ इज गॉड' आदि अवश्य लिखा करते थे।

कलाकार यदि चाहे तो कलाकार के अपने संस्कार के लिए ऐसा ही चरित्र अनुकरणीय है– महात्मा जी मशीनों से बनी चीजों के पक्ष में इसलिए नहीं थे क्योंकि वे कलात्मक आनंद देने में असमर्थ होती है। जिस कला में व्यक्ति के हाथ और मन का योग नहीं होता वह अच्छी रस सृष्टि करने में समर्थ नहीं होती। कला की अभिव्यक्ति वैश्विक नहीं है, केवल उसका तत्व विश्वव्यापी है। ईश्वर की सृष्टि में कितना वैचित्र्य है! यह भगवान रूपी कलाकार की विशेषता है, यही मनुष्य रूपी कलाकार की विशेषता है। रस सदा एक रहा है, पर नाना कलाकारों ने उसे नाना रूप से व्यक्त किया है और उसी में आनंद प्राप्त होता है। महात्मा गांधी के लिए ईश्वर, सत्य और सुन्दरता अन्योन्याश्रित है। उनका कहना है कि जब तक किसी भी कला में स्वयं की छाप नहीं होती उसमें रस नहीं पैदा होता, सौन्दर्यबोध नहीं जागता। वे कला और कलाकारों के संरक्षक थे, वे कला में विभिन्नता के वैविध्य के पक्षधर थे– पर कला में जीवन बोले, आनंद हो और सबके लिए हो–यही उनका मत था कि कला में मन–आत्मा और शरीर एक होकर प्रगट हों।

शाँति निकेतन में स्वाधीनता के शिल्पी गाँधी और कला गुरु टैगोर

● आशुतोष राणा

प्रकृति में लयबद्ध होना ही संस्कृति है

फ़ैशन जल्दी–जल्दी बदलता है। सभ्यता देर से बदलती है लेकिन ध्यान रखें, संस्कृति बदलती नहीं है, लेकिन धँसकती है और जिस पल संस्कृति धँसकती है तो सिर्फ़ राष्ट्र ही नहीं, आने वाली पीढ़ियाँ भी ध्वस्त हो जाती हैं। संस्कृति का धँसकना मतलब होश–हवास में कार्य करने की जगह अगर हम गफ़लत में, मुगालते में या तमाम सत्कर्मों को हम बिना जाने–माने, जागरूक हुए बिना करते रहें तो यह मानकर चलिये कि ये बदलेगी नहीं, संस्कृति है।

हर समय की संस्कृति अलग हो सकती है। पहले की पीढ़ी के लोग धोती–कुर्ता पहनते थे, आज पेंट–शर्ट और जैकेट पहनने लगे। हो सकता है कि आप सूट धारण करने लगें। यूँ परिवेश भी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है या महत्वपूर्ण अंग होता है। आपकी भंगिमा बदल सकती है, आपकी दृष्टि बदल सकती है लेकिन उसके अन्दर निहित जो भाव होता है, जो सृष्टि होती है वह एक सूत्रीय कार्यक्रम ही कर रही है कि आप भी निर्माण कार्य में लगे थे व्यक्तियों के, समाज के और आप भी उसी निर्माण कार्य में लगे हुए हैं।

संस्कृति, नारियल फोड़ना या घण्टा बजाना या हाथ उठाना नहीं, ये परम्पराएँ हो सकती हैं, उसके मूल में सिर्फ़ एक ही बात है कि अच्छी तरह से देखभाल कर किया जाने वाला कार्य। अर्थात आप जो भी कार्य करें, अगर आप सजग होकर जागरूक अवस्था में करेंगे तो आपको उसके परिणाम निश्चित रूप से मिलेंगे। इसका मतलब है कि जो आपको जीवित रखने वाली चीज़ है, समय भी जिसके अन्तर्गत आ रहा है वो संस्कृति है। फ़ैशन जल्दी–जल्दी बदलता है, सभ्यता देर से बदलती है लेकिन ध्यान रखें, संस्कृति बदलती नहीं है, धँसकती है और जिस पल संस्कृति धँसकती है तो सिर्फ़ राष्ट्र ही नहीं आने वाली पीढ़ियाँ भी ध्वस्त हो जाती हैं। संस्कृति का धँसकना मतलब होशहवास में कार्य करने की जगह अगर हम गफ़लत में, मुगालते में या तमाम सत्कर्मों को हम बिना जाने–माने, जागरूक हुए बिना करते रहें तो यह मानकर चलिये कि ये बदलेगी नहीं। हमारे बुज़ुर्ग जानते थे कि आने वाले समय में बच्चे इतने गफ़लती हो जायेंगे कि इनके अज्ञान में भी इनसे विज्ञान होते रहेंगे। तो इन्होंने इन तमाम चीज़ों को

कर्मकाण्ड में बाँध दिया ताकि हम अज्ञानवश भी विज्ञान के भाव से भरे रहें। क्यों? क्योंकि लय से लय मिलाकर न चलना ही प्रलय होता है। हम प्रकृति की लय के साथ लय मिलाकर चलते रहें, अज्ञान में भी चलते रहें तो हम प्रलय के भागी नहीं बनेंगे और मुझे लगता है कि यह चीज़ संस्कृति है।

हम सबकी एक प्रकृति और प्रवृत्ति होती है कि हम अक्सर अपने बीते हुए समय को बड़ा स्वर्णिम मानते हैं, वर्तमान समय को बड़ा संकटपूर्ण मानते हैं और आने वाले समय के प्रति हम घोर चिन्ता से भरे होते हैं। भारत सोने की चिड़िया हुआ करता था, अब वर्तमान में बड़ी विकट स्थितियाँ हैं और आने वाले समय में बड़ा संकट है साहब। लेकिन मैं इसको संकट के रूप में नहीं मानता। मैं इसको चुनौती के रूप में मानता हूँ कि हर समय की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति का समय नहीं होता। जब समय बदलता है, समय की चाल बदलती है, वातावरण बदलता है तो उस चीज़ के बारे में लोगों के दृष्टिकोण बदलते हैं। दृष्टिकोणों के बदलने का अर्थ ये नहीं होता कि आने वाले समय में हम संकट में हैं।

हर समय की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति का समय नहीं होता। जब समय बदलता है, समय की चाल बदलती है, वातावरण बदलता है तो उस चीज़ के बारे में लोगों के दृष्टिकोण बदलते हैं। दृष्टिकोणों के बदलने का अर्थ ये नहीं होता कि आने वाले समय में हम संकट में हैं।

मेरे दादाजी के घर का जो दरवाज़ा है उसकी जो आज टूटी हुई सी चौखट है, ये दादाजी ने लगवायी थी और वो उसको झाँसी से लेकर आये थे, उनको लक्ष्मीबाई ने दी थी। अब ये दरवाज़ा टूट चुका है, दरक गया है, अगर मैंने ये चौखट नहीं बदली तो मेरा पूरा का पूरा घर गिर जायेगा और मैं अपनी सिर्फ़ इस जिद्द के चक्कर में, उस चौखट के प्रति सिर्फ़ अतीत भाव से भरा रहूँ, मुझे लगता है कि मुझसे उस समय अगर कोई बदलने वाला आदमी बात करेगा तो वह कहेगा कि ये बागी हैं, इनको संस्कृति और सभ्यता की कद्र नहीं है और जो नहीं बदलने वाला है उनके पक्ष में कुछ लोग खड़े जायेंगे कि नहीं ये बिल्कुल संस्कृति और सभ्यता के रक्षक हैं।

मेरा यह मानना है कि समय के साथ चीज़ों को बदलने का मतलब ध्वस्त होना नहीं होता। बदलने का मतलब संकट नहीं होता। सिर्फ एक्लेमिटाइज़ नहीं होते। आप लेह चले जाइये। लेह-लद्दाख में 60 प्रतिशत ऑक्सीजन है। उतरने के साथ ही 48 घण्टे आपको बिस्तर पर लिटा दिया जायेगा। क्यों? आपसे ये कहा जायेगा कि आप एक्लेमिटाइज़ हो जायें। एक अच्छा-भला आदमी जो दिल्ली से, बम्बई से दौड़ते-भगाते जा रहा था, लेह में पहुँचा और उसको बिस्तर पर लिटा दिया गया तो उस अच्छे-भले आदमी को वो 48 घंटे का समय संकट काल लग सकता है कि यार, अब मैं कुछ नहीं कर पा रहा, मुझसे ये कहा जा रहा है- वॉक लाइक ए याक। याक के जैसे धीरे-धीरे चलो, बिस्तर पर ही रहो।

तो एक्लेमिटाइज़ करने के लिए, अपने आपको उस परिवेश में समाहित करने के लिए अगर कोई शिथिलता आती है तो मैं उसको मूल्यों के ह्रास के तौर पर नहीं देखता, मैं उसको भिन्न दृष्टिकोण के रूप में मानकर चलता हूँ। क्योंकि आवश्यक नहीं है कि जो मैं कह रहा हूँ वो आपके लिए कल्याणकारी हो, पर ये भी उतना आवश्यक नहीं है कि जो आप कहें वो मेरे लिए कल्याणकारी हो। कोई व्यक्ति झूठ नहीं बोलता, क्यों, क्योंकि हर व्यक्ति का अपना एक सत्य होता है। लेकिन अब उनका सत्य और मेरा सत्य आपस में मैच नहीं करता और हम इस विवाद में लग जाते हैं कि कौन सही बोल रहा है, इस चक्कर में एक पक्ष खड़ा हो जाता है। कोई व्यक्ति विपक्ष में नहीं होता। हर व्यक्ति का अपना एक पक्ष होता है।

मैं नहीं मानता कि मूल्यों का ह्रास हो रहा है। मेरा यह मानना है कि दृष्टि बदलती है। दृष्टि के विस्तार भी होते हैं, दृष्टि के निस्तार भी होते हैं और हम और आप कहीं न कहीं समय के हिसाब से उन चीज़ों को अपने हिसाब से एक्लेमिटाइज़ कर रहे हैं।

कबीरदास जी ने ये कहा कि 'चिन्ता से चतुराई घटे, दुख से घटे शरीर और लोभ से लक्ष्मी घटे कह गये दास कबीर।' लेकिन हमने क्या किया-चिन्ता बिना चतुराई नहीं और दुख बिन नहीं शरीर, और लोभ बिना लक्ष्मी नहीं सोचो दास कबीर।

सोशल मीडिया का क्या दोष!!

सोशल मीडिया का बहुत हो-हल्ला है इन दिनों। मैं सोशल मीडिया को या किसी भी क़िस्म के मीडिया को, चाहे उसको आप डिज़ीटल मीडिया कहें या उसको प्रिंट मीडिया कहें या किसी भी क़िस्म का मीडिया कहें, मैं इसको इस तरीके से लेता हूँ कि ये एक मीडियम है। एक बन्दूक होती है, वही बन्दूक

जब सैनिक के हाथ में होती है तो वो हमारे अन्दर सुरक्षा का भाव पैदा करती है और जब डकैत के हाथ में हो जाती तो वही बन्दूक हमारे अन्दर असुरक्षा का भाव पैदा करती है। तो दोष बन्दूक में है कि हाथ में है? हथियार दोषी है या हाथ दोषी है?

मेरा यह मानना है कि मीडियम का दोष नहीं है, दोष उस मीडियम को संचालित करने वाले का होता है। अगर आप उसका कल्याणकारी इस्तेमाल करना चाहें तो आप उसका कल्याणकारी इस्तेमाल कर सकते हैं। आप उसके ऊपर जीवन उपयोगी मंत्रों का संवाहक बनाना चाहें तो जीवन उपयोगी मंत्र बनाइये और यदि आप चाहें तो उसको गालियों का संवाहक बना दीजिये। वो तो एक ट्रक है, उसमें आप केला लादो या मैला लादो, वो अपना काम करता है। बिचारे ट्रक को क्या पता कि ट्रक के अन्दर क्या लादा जा रहा है और हम और आप हमेशा ट्रक को यानी कैरियर को गाली देते रहते हैं या उसको दोषी बनाते हैं कि साहब इसने सत्यानाश कर दिया।

जब से सोशल मीडिया ज़्यादा चर्चित हुआ है, अगर आप देखें तो बेरोज़गारी की माँग उठी क्या। हमने तो कोई आन्दोलन नहीं सुने। इतना व्यस्त है आदमी! सोशल मीडिया जब से एक्टिव हुआ, मुझे लगता है कि वृद्ध आश्रम भी कम हो गये। व्यस्त हैं रात के ढाई-ढाई, तीन-तीन बजे तक। वो अकेलेपन की जो अनुभूति हुआ करती थी दादाजी को, दादीजी को, वो अपने सोशल मीडिया पर किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ कॉन्टेक्ट में लगे हुए हैं। साथ में जो बातें हम घर में नहीं कह पा रहे थे लेकिन कहना चाहते थे, उन बातों को हम अब समाज से या दुनिया से कह रहे हैं। पढ़ें या न पढ़ें लेकिन हम तो लिखकर फ़ुर्सत। तो निस्तार के रास्ते भी आपको मिल गये। आप कुछ पुराने लोगों के भी सम्पर्क में आ गये। पता लगा हमदर्द आपको मिल गये। अरे भैया, तुम भी पिटे, हम भी पिटे। तो अकेला जो अब तक अपना ही दर्द सबसे बड़ा दर्द नज़र आता था, लगा कि न भाई हम से भी ज़्यादा दर्दनाक स्थितियाँ हैं।

ये निर्भर करता है कि मीडियम का कैसे हम और आप इस्तेमाल करते हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं सोशल मीडिया को बहुत धन्यवाद देता हूँ। क्योंकि इसमें हमने एक प्रयोग किया था कि मैं अपने फेसबुक एकाउण्ट के ऊपर परिचित मित्रों को नहीं रखूँगा या उन व्यक्तियों को नहीं रखूँगा जिनको मैं जानता हूँ। मैंने यह विचार किया कि मुझे सर्वथा अपरिचित लोगों को अपने इस एकाउण्ट में रखना है। तो अपरिचय को परिचय में बदलना, परिचय को सुपरिचय में बदलना और सुपरिचय को बन्धुत्व में बदलना- ये बिल्कुल संसार में आने के जैसा है। आभासों की दुनिया के अन्तर्गत वे एहसास होते हैं जो कभी दिखाई नहीं देते, वो सिर्फ़ महसूस किये जा सकते हैं। अब ये हमारे आपके ऊपर निर्भर है कि हम कितना महसूस करें।

भाषा का क्षरण आचरण का क्षरण

मैं भाषा का बड़ा प्रबल पक्षधर हूँ। मेरा मानना है कि शब्द में शक्ति होती है बशर्ते कि वे शिद्दत से बोले जाएँ। अगर हमें कोई व्यक्ति गाली देता है दस फीट दूर से, तो उसके द्वारा दस फीट दूर से दी गयी गाली से, दस फीट दूर खड़े होकर हमारा रक्तचाप बढ़ जाता है, हम क्रोध से लाल हो जाते हैं, पसीना निकलने लगता है और हमारा निष्क्रिय शरीर अचानक सक्रिय होता है और हम दस फीट दूरी से उचक कर, जबकि नॉर्मल कोर्स से हम दस फीट की छलाँग नहीं मार सकते, उसके गले पर चढ़ जाते हैं और पीटने लगते हैं।

मैं भाषा का विकट पक्षधर हूँ और मेरा यह मानना है कि अगर भाषा का क्षरण होता है तो हमारे और आपके आचरण का भी क्षरण होता है, क्योंकि हम और आप भाषा से ही पहचाने जाते हैं। हमारी ध्वनि, हमारी भाषा ही हमारी पहचान होती है। हम भाषा की रक्षा करते हैं तो भाषा हमारी रक्षा करती है, यदि हम भाषा को उसकी गरिमा प्रदान करते हैं तो भाषा अपनी गरिमा हमें प्रदान करती है और इसका जीता-जागता उदाहरण मैं अपने आपको मानता हूँ।

तो वो कौन-सी चीज़ थी जिसने एक व्यक्ति को जो नॉर्मल कोर्स में दस फीट कभी छलाँग नहीं लगा सकता, वह बैठा-बैठा उछल कर ठीक गर्दन पर चढ़ जाता है? अगर साहब, गाली आपके निष्क्रिय शरीर को सक्रिय कर सकती है, आपके अक्षम शरीर को सक्षम कर सकती है तो फिर मंत्र भी कर सकते हैं। मंत्र क्यों नहीं करते हैं? हमें ज़िन्दगी हो गयी साहब ओम नमः शिवायः कहते हुए या गायत्री मंत्र करते हुए या महामृत्युंजय का जाप करते हुए, राम-राम बोलते हुए और फिर हम कहें कि साहब ये सब फले नहीं। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि जो गाली दी गयी थी वो मन वचन कर्म से बिल्कुल पूरी आत्मा से,

वर्तमान में स्थित होते हुए पूरी ताकत से वो शब्द बोला गया था इसलिए उसका प्रभाव पड़ा और जो मंत्र है, पता लगा राम-राम कर रहे हैं लेकिन अन्दर ही अन्दर ये चिन्ता चल रही है कि पता नहीं वो फ़िल्म मुझे मिलेगी कि नहीं मिलेगी और बच्चे ने क्या किया, यार बताओ फलाँ एक्टर को तो इतना पैसा मिलता है उसी रोल के लिए मुझे इतना पैसा दे दिया। स्थितियाँ जब ये बनती हैं तो फिर वो मंत्र अपने असर की शक्ति हमारे लिए खो देता है।

मैं भाषा का विकट पक्षधर हूँ और मेरा यह मानना है कि अगर भाषा का क्षरण होता है तो हमारे और आपके आचरण का भी क्षरण होता है, क्योंकि हम और आप भाषा से ही पहचाने जाते हैं। अगर शेर दहाड़ता है, हाथी चिंघाड़ता है, कुत्ता भौंकता है। शेर अचानक कुत्ते जैसा भौंकने लगे तो शेर के व्यक्तित्व के ऊपर प्रश्नचिह्न लग जायेगा और हाथी अचानक सुअर के जैसे कीं-कीं-कीं करने लगे तो? हमारी ध्वनि, हमारी भाषा ही हमारी पहचान होती है। हम भाषा की रक्षा करते हैं तो भाषा हमारी रक्षा करती है, यदि हम भाषा को उसकी गरिमा प्रदान करते हैं तो भाषा अपनी गरिमा हमें प्रदान करती है और इसका जीता-जागता उदाहरण मैं अपने आपको मानता हूँ। इस देश में मुझसे भी अच्छी हिन्दी बोलने वाले लोग मौजूद हैं लेकिन जब भी कभी हिन्दी की बात आती है तो मुझे जानने वाले लोग यह कहते हैं कि यार बड़ी प्यारी, मन को आनन्द देने वाली हिन्दी आशुतोष बोलते हैं। तो भाषा ने अपनी गरिमा मुझे प्रदान कर दी। क्यों, क्योंकि मैंने भाषा की गरिमा का रक्षण रोकने का प्रयास किया।

हम आज के दौर में अशिष्टता को असहमति मान बैठे हैं और असहमति को अशिष्टता मान बैठे हैं। मेरा यह मानना है कि शिष्टतापूर्वक असहमति अधिक कल्याणकारी होती है बनिस्बत एक अशिष्टतापूर्वक की गयी सहमति के। मैं आपसे कह दूँ कि 'आदरणीय विनय जी मेरा इस विषय पर एक भिन्न दृष्टिकोण है, मैं आपके दृष्टिकोण पर विचार अवश्य करूँगा, लेकिन मेरी अपनी मान्यताएँ हैं, मेरे अपने सत्य हैं। मुझे उम्मीद है, मैं आपके सत्य का आदर करता हूँ लेकिन आप भी मेरे सत्य का आदर करेंगे। मैं आपसे असहमत हूँ।' आप मेरे मित्र हो जायेंगे। असहमत होते हुए भी आप मेरे मित्र हो जायेंगे। लेकिन हो क्या रहा है कि अशिष्टता को हमने असहमति मान लिया और असहमति को हमने अशिष्टता मान लिया। आप क्या बोल रहे हैं, इससे अधिक महत्तवपूर्ण होता है कि आप कैसे बोल रहे हैं।

मेरा यह मानना है कि अगर किसी की सृजन-क्षमता को ख़त्म करना है तो उसकी भाषा को ख़त्म कर दीजिये। उसकी भाषा का जो सॉफ़्टवेयर है उसको समाप्त कर दीजिये। आप ये देखेंगे कि धीरे-धीरे आपके भाव का सॉफ़्टवेयर बदलता जायेगा और जैसे ही भाव का सॉफ़्टवेयर- आपके प्रभाव का, आपके अभाव का, आपके दबाव का बदलेगा, निश्चित रूप से ये तमाम अलग-अलग परिणाम आपको मिलने लगेंगे। जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति अपनी भाषा में कर सकते हैं, क्या सीखी हुई सिद्ध भाषा में कर सकते हैं? दार्जलिंग में चाय की पैदावार बहुत शानदार होती है, आप श्रेष्ठतम चाय के बीज खण्डवा की भूमि पर लगा दीजिए, क्या वो वही पैदावार देगा? क्यों, क्योंकि बीज तो है लेकिन क्लाईमेट वो नहीं है। उसका जो चिन्तन है, उसका जो चित्त है वो यहाँ पर नहीं लग रहा है।

आपको अपनी भाषा को निश्चित रूप से बचाना चाहिए। इसलिए नहीं कि हमारी भाषा सबसे श्रेष्ठ है। मेरी भाषा मेरी श्रेष्ठता का कारण है इसलिए मैं इसको बचाना चाहता हूँ, किसी दूसरी भाषा को सीखने के लिए मेरी भाषा में मुझे सिद्ध होना परम आवश्यक है। क्यों, क्योंकि वो मेरी श्रेष्ठता को बढ़ाने का कार्य करेगी। लेकिन हम किसी द्वन्द्व में उलझ जाते हैं कि हिन्दी मन की है तो अंग्रेज़ी धन की भाषा है। हम एक दूसरे के ऊपर अपनी श्रेष्ठता साबित करने लगते हैं। तो भाषा जो संवाद के लिए बनती थी वो विवाद का कारण हो जाती है और हम अपने मूल लक्ष्य से भटक कर अन्यत्र कहीं और पहुँच जाते हैं और संवाद को ही विवाद में बदलने के कारण हो जाते हैं।

हमारे बुज़ुर्गों का तो हम धन्यवाद मानें कि उन्होंने हमें बहुत अच्छा परिवेश दिया। लेकिन क्या मैं अपने बच्चों को वह परिवेश, वह स्थिति- परिस्थिति दे पाऊँगा? निश्चित रूप से मेरा जीवन अपने बच्चों के लिए या तो चेतावनी हो सकता है या उदाहरण। या तो वार्निंग हो सकता है या एग्ज़ाम्पल। तो हमारा प्रयास है कि हम उसको उदाहरण के रूप में बच्चों के सामने पेश करें और हम और आप ये कह सकते हैं कि हम वाहक हैं संस्कृति के या हम वाहक हैं किसी कृति के। लेकिन संस्कृति हो, सभ्यता हो, ये तमाम चीज़ें अपने वाहकों को ढूँढ़ ही लेते हैं। इनकी शुचिता को हम बरकरार रखें, इस मुगालते को मैं नहीं पालता। मेरा यह मानना है कि इनकी शुचिता मुझे बरकरार रखे हुए है। तभी आज के दौर में भी आप प्रांजल भाषा बोलने के पक्षधर हैं। नहीं तो किसने रोका है आपको तुर्की बोलने में? हमको मुम्बई में किसने रोका है अंग्रेज़ी बोलने में? जैसी मन लगाकर हमने हिन्दी

सीखी है वैसी मन लगाकर हम अंग्रेज़ी सीख लेंगे। जब हम तमिल, तेलुगु के डॉयलॉग बोल सकते हैं तो अंग्रेज़ी नहीं बोल सकते? किसने रोका है? किसी ने नहीं रोका।

रचनात्मक गुणवत्ता पर ध्यान

किताब श्रेष्ठ है या अश्रेष्ठ, फ़िल्म श्रेष्ठ है या अश्रेष्ठ, इसका फैसला अब किस चीज़ से हो रहा है? 'धड़क' सौ करोड़ पार कर गयी तो और किसी फ़िल्म ने दो करोड़ नहीं किया तो? मैंने 'तिकड़म' नाम की एक फ़िल्म की जिसमें मैंने कॉड्रियल रोल किये, चार रोल, जो एक एक्टर के रूप में मेरी बहुत बड़ी उपलब्धि है और लोगों को बहुत पसन्द आयी। क्या पता है आपको? आयी है वो फ़िल्म। मेरे लिए जो अच्छा था या जिसमें आपको एक एक्टर का परिष्कार देखने को मिलता है, उसका क्या हुआ? तो हमारी सफलताओं के मापदण्ड क्या यही रह गए कि आपने कितना कमाया! देखिए, क्या है कि हिन्दी किताबें जो हैं। उसके पाठक कम हैं तो प्रकाशक कम हो गये। क्या पाठक कम हैं? और जब प्रकाशक कम हो गये तो कोई व्यक्ति अपने सृजन को क्यों वहाँ पर जन्म देगा? मुझे पता है कि मेरी किताब छपनी ही नहीं है तो मैं क्यों जाऊँगा? क्यों, क्योंकि हम नम्बर्स ऑफ बुक गिन रहे हैं कि किताब कितनी सेल हुई।

इसका पूरा का पूरा जो सम्बन्ध है वो बाज़ार से है, व्यापार से है। धन की शक्ति ही इस समय बोल रही है, मन की शक्ति कहीं न कहीं पीछे है, लेकिन इसका ये मतलब नहीं है कि मन की शक्ति समाप्त हो गयी। सुनाई न देने और बोल न पाने में अन्तर है। आज के दौर में कोई चीज़ अगर सोयी हुई है, इसका ये मतलब नहीं है कि वो चीज़ खोयी हुई है। वो जिस दिन जागेगी उस दिन परिस्थितियाँ बदल जायेंगी। हिन्दी में ही किताबें छापी न! मेरी भी एक किताब 'मौन मुस्कान की मार' प्रभात प्रकाशन ने छापना स्वीकार किया। उसका वेल्यूशन भी इस बात से नहीं होगा कि वो 27 कहानियाँ, 27 व्यंग्य है। किस रुतबे के, किस क़िस्म के, किस क़िरदार के व्यंग्य लिखे गये हैं। इसे जाने बगैर वेल्यूशन इस बात से होगा कि कितनी प्रतियाँ बिकीं और वही वेल्यूशन मेरी दूसरी किताब की सफलता या असफलता का प्रमाण होगा।

इस दिशा में बिना निराश हुए हमको-आपको अपनी रचनात्मक गुणवत्ता पर ही ध्यान देना चाहिए।

क्या कारण है जो संगीत हमारे शोर को शान्त करता था, आज वही संगीत हमारे शोर का कारण हो गया लेकिन उसके बाद भी चल रहा है। संगीत को भी हमने क्या मान लिया, अब ये मौसम या मिज़ाज़ के जैसे हो गया है। पहले संगीत के माध्यम से हम अपना मिज़ाज़ बदल देते थे, अब आज की तारीख में हमने संगीत को ही मिज़ाज़ बना दिया है।

क्योंकि बाज़ार तो बनाये जाते हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी जब यहाँ आयी तो उन्होंने हिन्दी और यहाँ की बोली जाने वाली भाषाएँ सीखीं। पहले उन्होंने ग्राहक की भाषा सीखी और फिर ग्राहक को अपनी भाषा (अंग्रेज़ी) सीखने पर मजबूर कर दिया और ग्राहक से कह दिया कि साहब यही एकमात्र भाषा है जो आपका कल्याण करेगी और साहब, हम और आप भी उस लपेटे में आते चले गये।

हिन्दी को राजरानी बना दिया

और हमने क्या किया? अपनी भाषा को हमने महारानी-राजरानी बनाकर बैठा दिया। राजभाषा है न? तो हर पन्द्रह दिन में, जब सितम्बर का महीना आता है तो राजरानी झरोखे पर निकलती हैं, हाथ हिलाती हैं। पूरे देश में पन्द्रह दिन उनकी पूजन होती है, क़िस्म-क़िस्म के आयोजन होते हैं, फिर एक दिवस मनाया जाता है, उस दिन राजरानी का अभिषेक होता है, बड़े-बड़े मूर्धन्य महान पुरोहित आते हैं, कुछ घंटियाँ बजाते हैं, कुछ नयी-नयी आरतियाँ लिखकर सजाते हैं, उसके पश्चात राजरानी से कहा जाता है कि देव सो गये, अब अगले साल मिलेंगे।

पतन और चिंतन के बीच फ़र्ज

हम तो किसान के बच्चे हैं, हम ये जानते हैं कि वही पेड़ अंधड़ में भी खड़ा रहता है जो अपनी जड़ों से जुड़ा रहता है। हम युवा पीढ़ी के ऊपर भी व्यर्थ आरोप लगाते हैं, कहते हैं कि उनकी जड़ें मजबूत नहीं हैं। उनकी जड़ें कौन हैं? मेरी जड़ें बाबूजी हैं तो उनकी जड़ें कौन हैं। हम ही, आप ही लोग हुए न! तो मजबूत हम नहीं हैं और हम कहते हैं कि उनका फाउण्डेशन करैक्ट नहीं है और उनका फाउण्डेशन करैक्ट करने की ज़िम्मेदारी किसकी है, हमारी। तो हम यह कहकर मुक्त नहीं हो सकते कि वो दोषी हैं और हम निर्दोष हैं। हमारी ये सामूहिक ज़िम्मेदारी होती है। अगर मान लीजिये कि हमारे घर में कोई बच्चा है, उसके निर्माण से लेकर, उसके संरक्षण से लेकर, उसके संवर्धन से लेकर ये हमारी, आपकी, सबकी नैतिक ज़िम्मेदारी है। पतन के मार्ग पर जा रही पीढ़ी को चिन्तन के मार्ग पर ले जाने की ज़िम्मेदारी किसकी है? सृजन के क्षेत्र में कुछ अल्टीमेट नहीं होता। इसको अगर आप ये कहें कि यही एक सिद्ध चीज़ है और ये एक मानक है जो तय हो गया है तो

ये फिर सृजन नहीं वो प्रोडक्शन होगा, क्रियेशन नहीं वो प्रोडक्शन है। जैसे लक्स की बट्टी का हमने फार्मूला बना दिया और हमने यह कह दिया कि अब लक्स की बट्टी इस फार्मूले पर बननी चाहिए। ये मानक नहीं होते सृजन में। सृजन एक सतत चलते रहने वाली प्रक्रिया है और जब प्रक्रियाएँ बढ़ती जाती हैं तो उसमें कई पड़ाव, अंधे मोड़ आते हैं, कई लम्बे प्रशस्त राजमार्ग आते हैं, कई पहाड़ी ढलानें आती हैं। ये जीवन की एक यात्रा होती है, जिससे रोमांचक दौर से हम और आप गुज़रते जाते हैं।

हर दौर की अपनी कसौटियाँ

अब हम ये कहें कि पुरानी पटकथाएँ क्या सबकी सब अच्छी थीं, नहीं। फ़िल्म साल में हज़ार बनती थीं। अगर हम और आप ये कहें तो हम सिनेमा करने वाले और आप सिनेमा देखने वाले दस श्रेष्ठ फ़िल्मों के नाम न गिना पायेंगे कि ऐसी फ़िल्म बनना चाहिए। साल में हज़ार फ़िल्म बनती थीं तब भी दस और पन्द्रह फ़िल्में ही अच्छी की श्रेणी में गिनी जाती थी। ये हो सकता है उस समय सौ फ़िल्में अगर बन रही हैं तो उसमें से तीस फ़िल्में बड़ी अच्छी हों। दस प्रतिशत का ऊपर-नीचे हो सकता है, लेकिन उस दौर के रसिक हम थे। अब आज के बच्चों को ये पता नहीं कि क्या पसन्द आ रहा है? मतलब हम सबरी के बेर खिलाने की प्रक्रिया में हैं कि मीठा मुझे लगा तो आपको लगना चाहिए।

दुर्योधन ने अपनी भाभी का चीरहरण फ़िल्म देखकर नहीं किया था। रावण फ़िल्म के प्रभाव से प्रभावित होकर मातेश्वरी जगत जननी माँ सीता को उठाकर नहीं ले गये थे, साधु बनकर ले गये थे। दुष्कृत्य या तमाम घटनाएँ-दुर्घटनाएँ पहले भी होती रहीं। हम रोज प्रवचन-कथाएँ सुनते हैं तो उन प्रवचन-कथाओं का, स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली पढ़ायी का हमारे ऊपर इतना प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन उस तीन घण्टे की फ़िल्म के लिए हम अपनी तमाम सीखी हुई व्यवस्थाएँ भूल जाते हैं! कितना चमत्कार है, कितना जादू है, कितनी ताकतवर चीज़ें हैं!

क्या कारण है जो संगीत हमारे शोर को शान्त करता था, आज वही संगीत हमारे शोर का कारण हो गया लेकिन उसके बाद भी चल रहा है? संगीत को भी हमने क्या मान लिया, अब ये मौसम या मिज़ाज के जैसे हो गया है। पहले संगीत के माध्यम से हम अपना मिज़ाज बदल देते थे, अब आज की तारीख में हमने संगीत को ही मिज़ाज बना दिया है। इसी शुरूआत हमारे और आपके दौर में हो गयी थी- बिनाका गीतमाला से जो पायदान तय करती थी। गीतों में आप पायदान बनाने लगेंगे, ये ठीक नहीं। हर गीत की अपनी लहर है, हर गीत की अपनी बहक है, हर चीज़ की अपनी एक निजता है। जब तुलनात्मक अध्ययन करके उसको पायदान बनाने लगोगे तो ये स्थितियाँ कुछ और होंगी।

मुझे यह लगता है कि हर दौर का अपना सिनेमा है। कभी किसी दौर के सिनेमा की तुलना किसी दौर के सिनेमा से नहीं करना चाहिए- अगर वो सृजन है तो। किसी दौर की पत्रकारिता की तुलना किसी दौर के पत्रकार से नहीं करना चाहिए। भाई उस समय नन्ददुलारे वाजपेयी जी पत्रकार हुआ करते थे, अब आप हम पूछ लें कि भैया आप तो नन्ददुलारे वाजपेयी जी नहीं हैं, कहाँ, कैसे सवाल पूछ रहे हो? तो हर सिनेमा की अपनी निजता होती है, अपना स्वरूप होता है और स्वरूपों में कहीं तुलनात्मक अध्ययन जब हम और आप करने लगते हैं, फिर उस चलती हुई प्रक्रिया को कहीं हम रोक रहे होते हैं, मेरा ऐसा मानना है।

संस्कृति कोई एक जगह रखा ख़जाना नहीं है। संस्कृति आप हैं, संस्कृति मैं हूँ। यहाँ जितने लोग बैठे हैं ये सब खण्डवा या देश की संस्कृति के बीज पुंज हैं। किस-किसको नष्ट करेंगे? किसी एक के नष्ट हो जाने से सब भ्रष्ट हो जायेगा? यदि सब भ्रष्ट हो जायेगा तो फिर सबकी शिष्टता प्रश्नचिह्न के दायरे में आती है। अगर हम ये कहें कि एक नहीं सब नष्ट हो गया है तो फिर जो अभी तक सब शिष्ट के नाम से प्रचलित थे, उनका क्या हुआ, क्या वे मजबूत शिष्ट नहीं थे? तो हम ही स्वयं कमजोर हैं और अचानक कहें कि वो ताकतवर क्यों हो गया और उसके धक्के से मैं गिर गया। मेरा यह मानना है कि उसके धक्के से अगर हम परेशान हैं तो स्वयं को मजबूत करें, स्वयं के विकारों को स्वीकारें और विकार को हमने स्वीकार लिया तो हम विकार से मुक्ति की दिशा में बढ़ जाएँगे।

हमारी फ़िल्म 'मुल्क' जिसमें गंभीर विषय की चर्चा है। एक कृत्य किसी एक व्यक्ति ने किया और पता लगा कि उस दुष्कृत्य का जिम्मेदार उसके सम्पूर्ण परिवार को मान लिया गया और ये साबित करने का प्रयास किया गया कि नहीं, एक व्यक्ति के द्वारा किया गया दुष्कृत्य परिवार की जानकारी में हो रहा है, परिवार की सहभागिता से हो रहा है, इसका सम्पूर्ण

परिवार इस दुष्कृत्य में शामिल है। ये क्या है? हम भी बैठे-बैठे अपने घरों में, आवश्यक नहीं कि हम चिल्लाकर बात करें, लेकिन बहुत शालीनता से भी हम अपनी कट्टरपंथी मानसिकता को घोषित करते रहते है। यह आवश्यक नहीं है कि हर चिल्लाने वाला, हर आक्रामक व्यक्ति दोषी हो और यह भी आवश्यक नहीं है कि हर चुप रहने वाला शान्त व्यक्ति निर्दोष हो। क्योंकि आइडियालॉजी और मानसिकता दो अलग-अलग चीज़ें हैं। मेन्टालिटी एंड आइडियालॉजी- विचारधारा और मानसिकता। दो समान विचारधारा के लोग अलग-अलग मानसिकता के हो सकते हैं और दो अलग-अलग मानसिकताओं के लोग समान विचारधारा के हो सकते हैं। ये जो द्वन्द्व है, ये मानसिकताओं का द्वन्द्व है, जो विचारधाराओं के नाम से प्रचारित किया जा रहा है और इसमें निश्चित लाभ-हानि के गणित होते हैं।

सेन्सेबल समाज में न्यूसेन्स ज़्यादा प्रखर होता है। जैसे सफेद कपड़े के ऊपर छोटा-सा भी काला दाग आपको दूर से दिखाई दे जाता है। साहब, सेन्सेबल सोसायटी में इतना सा भी न्यूसेन्स बिल्कुल वैसा ही है जैसे सफेद कपड़े पर, जगमगाते हुए कपड़ों पर उछला छींटा। तो ये काला छींटा दिखता ज़रूर है लेकिन स्वागत योग्य नहीं होता।

रूढ़ि, परंपरा और संस्कृति में फ़र्क

एक चीज़ और होती है रूढ़ि। कुछ ऐसे यम नियम जो वर्तमान में कारगर थे, हमारी तरक्की और विकास के सहयोगी थे, उन यम नियमों का लगातार पालन हमें आने वाले समय में भी करना होता हैं। समय के हिसाब से जब वो अप्रासंगिक हो जाते हैं, फिर भी हम उन नियमों का पालन करते रहते हैं तो वो रूढ़ि के अन्तर्गत आती है और यह रूढ़ि होती है जो कट्टर मानसिकता को जन्म देती है। अगर सूर्य के प्रकाश में दादाजी का स्वास्थ्य ठीक हो गया था और पत्थर रगड़ कर वो ठीक हो रहे थे तो हम और हमारे बच्चे भी पत्थर रगड़ कर ठीक हो जायेंगे। अगर बोध गया के वृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध को बोधत्व प्राप्त हुआ था तो हमको भी उसी बोधवृक्ष के नीचे बोधत्व प्राप्त होगा; जब हम यह मानकर चलने लगते हैं तो भ्रम का शिकार हो जाते हैं। बुद्ध तो किसी भी वृक्ष के नीचे बैठ जाते तो उनको बोधत्व प्राप्त होना ही था। ये उस वृक्ष का सौभाग्य था कि बाई-चांस वे उस वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे और उस समय उन्होंने घोषणा की अपने बोधत्व की।

दरअसल हमने बुद्ध से ज़्यादा बोधवृक्ष को महत्व दे दिया, कि साहब ये वही भूमि है जहाँ पर लाईट जली थी। इसलिए आउट ऑफ़ द बॉक्स हम भी करते थे और हमारे जो पूर्व की पीढ़ी के लोग थे वो बेचैन रहते थे, वो भी करते थे, उनकी पूर्व की पीढ़ी के लोग भी आउट ऑफ़ द बॉक्स रहते थे। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि एक जाग्रत दृष्टि रही उनकी। रूढ़ि, परम्परा और संस्कृति के इस भेद को ध्यान में रखते हुए अपने प्रभाव को, अपनी गति को, अपनी चाल को अनवरत जारी रखिये, आप जीवन में कभी भी नकारात्मक परिणामों के भागी नहीं होंगे।

रिमोट तो आपके हाथ में है!

फ़िल्में ही समाज को बना रही हैं और फ़िल्में ही समाज बिगाड़ रही हैं। इतनी सारी फ़िल्मों में हीरोचित कृत्य को क्यों समाज के लोग स्वीकार नहीं करते और विलेन-खलनायक के कृत्य को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? उस फिल्म में बोली गयी अच्छी भाषा स्वीकार नहीं की जा रही लेकिन गाली स्वीकार की जा रही है तो दोष फ़िल्म का? दुर्योधन ने अपनी भाभी का चीरहरण फ़िल्म देखकर नहीं किया था। रावण फ़िल्म के प्रभाव से प्रभावित होकर मातेश्वरी जगत जननी माँ सीता को उठाकर नहीं ले गये थे, साधु बनकर ले गये थे। दुष्कृत्य या तमाम घटनाएँ-दुर्घटनाएँ पहले भी होती रहीं। हम रोज प्रवचन-कथाएँ सुनते हैं तो उन प्रवचन-कथाओं का, स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली पढ़ायी का हमारे ऊपर इतना प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन उस तीन घण्टे की फ़िल्म के लिए हम अपनी तमाम सीखी हुई व्यवस्थाएँ भूल जाते हैं! कितना चमत्कार है, कितना जादू है, कितनी ताक़तवर चीज़ें हैं!

इसके लिए बहुत ईमानदारी से स्वयं की ज़िम्मेदारी। स्वयं ज़िम्मेदारी लेने की आदत हमको-आपको डालनी होगी। क्योंकि सिनेमा हो, समाचार हो, साहित्य हो, ये समाज के प्रतिनिधि नहीं हैं, ये समाज के प्रतिबिम्ब होते हैं। प्रतिबिम्ब का महत्व इसलिए होता है कि अपना प्रतिबिम्ब देखकर हम अपना बिम्ब सुधार लें, न कि प्रतिबिम्ब के साथ कम्पीट करना शुरू कर दें, उस प्रतिबिम्ब के जैसा बनना शुरू कर दें।

'दुश्मन' का 'गोकुल पण्डित' रेपिस्ट था, वह आपको क्या बताये जा रहा है? आपको रेप करने के लिए प्रेरित किया जा रहा है या आपको ये बताया जा रहा है कि एक सामान्य व्यक्ति जो रोज आपके घर के दरवाज़े पर आता है, हो सकता है आप उसकी शक्ल भी न जानें, लेकिन वह दुष्टतम प्रकृति का व्यक्ति हो सकता है। तो व्यक्ति को उसकी चाल, उसके चलन, उसके टच से पहचानने की आदत डालिये। क्योंकि वह हमारी और आपकी ज़िन्दगी में बहुत आमूलचूल परिवर्तन ला सकता है। फ़िल्म की मूल बात क्या थी, कि गंदी चीज़ें उस आदमी को भी दिखती हैं जो देख नहीं सकता। मुझे लगता है कि हम एकदम फ़िल्मों और सीरियल के पीछे कुल्हाड़ी लेकर न पड़ जाएँ। चैनल आपको हाथों में है, रिमोट से बंद कर दो न!

● देवेन्द्रराज अंकुर

रंगमंच का समाजशास्त्र

देश में पिछले दिनों घटित सांप्रदायिक दंगों, तनावों और हिंसा के परिप्रेक्ष्य में यह सवाल बार-बार उठ रहा है कि ऐसी स्थिति में क्या रंगमंच की कोई सार्थकता बची है और रंगकर्मी की अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता अथवा सरोकार क्या होने चाहिए? क्या वह सिर्फ अपने माध्यम से ही जुड़ा रहे या कि उसे भी एक जागरूक नागरिक की तरह कार्यक्षेत्र में कूद कर अपनी सही भूमिका का निर्वाह करना चाहिए? रंगमंच ही अकेला ऐसा माध्यम है जो अपने उद्‌भव से लेकर आज तक सबसे ज़्यादा समाज के निकट है।

विभिन्न कला माध्यम अपनी सामग्री समाज से लेते हैं और उसे एक नया रूप देकर वापस लौटा देते हैं। लौटाने की प्रक्रिया अलग-अलग होती है। कहीं वह पाठक के रूप में, कहीं श्रोता के रूप में और कहीं दर्शक के रूप में समाज को लौटाई जाती है। इस निकटता के कारण रचना और समाज के रिश्ते भी अलग-अलग स्तर पर स्थापित होते चलते हैं। उदाहरण के लिए साहित्य में रचनाकार और पाठक का रिश्ता अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ता, टूटता और बनता है। ललित कलाओं में भी दर्शक और कलाकार के बीच लगभग यही स्थिति कायम रहती है। जहां श्रोता और दर्शक के रूप में कला और समाज की आपस में जुड़ने की बात है, उसके अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दोनों रूप एक साथ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए गीत, संगीत को रचनाकार की जीवंत उपस्थिति के साथ भी सुना जा सकता है और यदि रचनाकार सामने उपस्थित नहीं है तो भी रचना का आस्वाद उतनी ही गहराई से महसूस किया जा सकता है। यही बात रेडियो जैसे ध्वनि माध्यम पर भी लागू होती है। अंततः दर्शक की दृष्टि से देखें तो वहां भी ये दोनों विकल्प मौजूद हैं।

फिल्म और दूरदर्शन का रिश्ता अप्रत्यक्ष है यानी दर्शक जीवंत है और उसे रचना का अवलोकन एक निर्जीव छोटे या बड़े पर्दे पर चलती-फिरती छवियों के रूप में करना पड़ता है। यहां तक कि नृत्य जैसी विधा को भी पर्दे पर देखते हुए उसकी बारीकियों को समझा और सराहा जा सकता है। दूसरी तरफ रंगमंच और समाज की एक-दूसरे से लेने और लौटाने की प्रक्रिया बिल्कुल अलग है और इसीलिए एक स्वतंत्र अध्ययन की मांग करती है। दरअसल यहां अभिनेता ही साधन है और वही साध्य है जिसे अंततः समाज पाना चाहता है लेकिन रंगमंच और समाज के रिश्ते की निजता और विशिष्टता यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जिस क्षण से रचनाकार अपनी कृति की रचना के लिए तैयार होता है तभी से समाज का यह जुड़ाव

उसके साथ कई रूपों में घटित होने लगता है। सबसे पहले एक नाटककार और उसकी रचना के बीच और आखिर में दर्शक, समाज और प्रस्तुति के बीच। जहां तक नाटककार और उसकी रचना का ताल्लुक है, वहां संबंध सभी कलाओं में लगभग एक जैसा है लेकिन अगले दो चरणों में अलग होने लगता है।

एक प्रस्तुति की तैयारी में बहुत से अभिनेता, निर्देशक और दूसरे नेपथ्य कर्मियों का एक छोटा-बड़ा समूह आकर जुड़ता है। सभी वैयक्तिक स्तर पर समाज के अलग-अलग वर्गों, व्यवसायों, धर्मा, संप्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी सामूहिक रूप से एक ही लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध होते हैं कि मिल-जुलकर प्रस्तुति को साकार किया जाए। रंगमंच के समाजशास्त्र की पहली शर्त यही है कि उसमें सम्मिलित हर व्यक्ति को अपने निजी और व्यक्तिगत से अलग होना पड़ता है और फिर उसे सामूहिक और सामाजिक बनकर दर्शकों के सामने प्रस्तुत होना पड़ता है। यही बात दर्शकों पर भी लागू की जा सकती है जब वे नाटक देखने आते हैं। प्रेक्षागृह में बैठा हर दर्शक एक वैयक्तिक इकाई के रूप में होता है लेकिन जैसे-जैसे नाटक आगे बढ़ता है दर्शकों की प्रतिक्रियाएं किसी क्षण विशेष में एक जैसी होने लगती हैं। इस अवस्था को काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की अवस्था भी कहा गया है।

रंगमंच को लेकर प्रायः कहा जाता है कि उसमें विचार की भूमिका गौण होती जा रही है। कथा और उससे जुड़े दूसरे मोहक और आकर्षक तत्व जैसे गीत, संगीत और नृत्य उस पर ज्यादा हावी होते जा रहे हैं। ऐसा मत व्यक्त करने वाले यह भूल जाते हैं कि किसी भी कला का पहला उद्देश्य लोकानुरंजन करना है और फिर उसी के भीतर से गुज़रते हुए विचार तक पहुंचना होता है। नाटक और रंगमंच में विचार के लिए अलग से प्रावधान नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो यह मान लेना चाहिए कि वह एक कमज़ोर नाटक है। उसकी रचना बेशक संवाद शैली में हुई हो लेकिन अपने मंचन में वह किसी गहरे रंगमंचीय अनुभव को संप्रेषित करने में कामयाब होगा ऐसा हरगिज़ नहीं कहा जा सकता है। यही बात रंगमंच को लेकर उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता के विषय में भी कही जा सकती है।

देश में पिछले दिनों घटित सांप्रदायिक दंगों, तनावों और हिंसा के परिप्रेक्ष्य में यह सवाल बार-बार उठ रहा है कि ऐसी स्थिति में क्या रंगमंच की कोई सार्थकता बची है और रंगकर्मी की अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता अथवा सरोकार क्या होने चाहिए? क्या वह सिर्फ अपने माध्यम से ही जुड़ा रहे या कि उसे भी एक जागरूक नागरिक की तरह कार्यक्षेत्र में कूद कर अपनी सही भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि रंगमंच ही अकेला ऐसा माध्यम है जो अपने उद्भव से लेकर आज तक सबसे ज्यादा समाज के निकट है। समझ में नहीं आता हम उससे किस अतिरिक्त सामाजिक प्रतिबद्धता की मांग कर रहे हैं! क्या अपनी एक नाट्य प्रस्तुति को दर्शकों के बीच लेकर जाना अपने आप में सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रमाण नहीं है? यदि तात्कालिक समस्याओं की बात भी की जाए तो इधर 'कोर्टमार्शल' 'जिस लाहौर नहीं देख्या...' जैसे नाटकों को रंगमंच पर मिली सफलता क्या सूचित करती है?

नाटक और रंगमंच में विचार के लिए अलग से प्रावधान नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो यह मान लेना चाहिए कि वह एक कमजोर नाटक है। उसकी रचना बेशक संवाद शैली में हुई हो लेकिन अपने मंचन में वह किसी गहरे रंगमंचीय अनुभव को संप्रेषित करने में कामयाब होगा ऐसा हरगिज नहीं कहा जा सकता है। यही बात रंगमंच को लेकर उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता के विषय में भी कही जा सकती है।

दूसरी तरफ शाश्वत और सार्वकालिक विषयों पर लिखे गए नाटकों का भी दर्शकों से वैसा ही अटूट रिश्ता रहा है। मसलन 'राजा इडिपस', 'अंधेर नगरी चौपट राजा', 'ध्रुवस्वामिनी' इत्यादि। नाटक चाहे किसी भी युग में लिखा गया हो और किसी भी समय विशेष की कथा का बयान करता हो वह घटित हमेशा वर्तमान में ही होता है। दर्शक उस काल और समय के ही तात्कालिक और समकालीन समाज से जुड़े होते हैं जिस समय विशेष में वह नाटक उनके समक्ष मंचित हो रहा होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि वे नाटक की कहानी और उसमें निहित विचार को एकदम अपने समय से जोड़कर देखने लगते हैं। इस तरह जो नाटक जितना ज्यादा समकालीन होगा वह उतना ही शाश्वत और सार्वजनिक होगा। नाट्य साहित्य में ऐसे बहुत से नाटकों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिन्होंने अपने मंचन के अवसर पर हर बार अपनी सामाजिक प्रासंगिकता स्वयं प्रमाणित की। किस नाटककार का कोई भी नाटक समाज से अलग अपने

किसी काल्पनिक संसार में स्थित है। यह स्वयसिंद्ध है कि रंगकर्मी अपने माध्यम में रहकर भी सबसे ज्यादा समाज की समस्याओं पर उंगली रख सकता है। उनके समाधान दे सकता है और जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी कोई न कोई विकल्प या रास्ता सुझा सकता है। नुक्कड़ नाटक जैसी विधा ने तो बार बार यह प्रमाणित किया ही है। नाटक की दूसरी विधाएं भी पीछे नहीं रही हैं। शायद समस्या तब पैदा होती है जब हम तात्कालिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में रंगमंच को लेकर इस तरह की अपेक्षाएं करने लगते हैं। क्या रंगमंच की सामाजिक प्रतिबद्धता तभी स्थापित होगी जब उसमें भूख, गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी जैसी समस्याओं को उठाया जाए/ इसमें कोई संदेह नहीं कि ये समस्याएं अपनी जगह उतनी ही महत्वपूर्ण हैं लेकिन संयुक्त परिवारों का टूटना, आदमी और औरत के संबंधों में तनाव, औरतों की सामाजिक स्थिति क्या ये समस्याएं उस सामाजिक प्रतिबद्धता के दायरे में नहीं आतीं जिसकी चर्चा हमारे यहां गाहे-बगाहे होती रहती हैं। आज देश में जो हालात हैं उन्हें देखते हुए रंगमंच की क्या कोई भूमिका रह गई है? यदि हां, तो वह क्या होनी चाहिए अथवा क्या हो सकती है? कहा जा सकता है कि रंगकर्मी अपनी अलग दुनिया में काम कर रहे हैं, उनका समाज और उसकी समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं है। अब समय आ गया है कि वे अपने इस बने-बनाए काल्पनिक संसार से बाहर आएं और समाज के सभी समुदायों, संप्रदायों और वर्गों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर एक सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका में उतरें।

सभी कला माध्यमों में रंगमंच सबसे ज्यादा कठिन और जटिल माध्यम है। दरअसल रंगमंच और समाज के आपसी रिश्ते उतने सीधे और सपाट नहीं होते जितने बाहर से दिखाई पड़ते हैं। समाज में रंगकर्म करने वालों की स्थिति तलवार की धार पर चलने के समान है यानी अपने अभिनय और मंचन के माध्यम से कलाकार समाज के लिए जिन ऊंचे मानकों और आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं यदि वे अपने वास्तविक जीवन में स्वयं ही उनसे डिग जाएं तो उन्हें कोई क्षमा नहीं करेगा। रंगमंच और समाज के रिश्तों की आदर्श स्थिति यही है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक बनें।

जो लोग रंगकर्मी से इस तरह की अपेक्षाएं कर रहे हैं लगता है कि रंगकर्मी से ज्यादा वे स्वयं अपनी ही अलग दुनिया में लीन हैं, उनका रंगमंच के व्यवहारिक पक्ष से कोई लेना-देना नहीं है। उनसे पूछा जाना चाहिए कि ये सारी अपेक्षाएं मात्र रंगकर्मी से क्यों की जा रही हैं जबकि रंगकर्मी का तो पहले से ही समाज से सबसे ज्यादा गहरा रिश्ता है। उनसे यह सवाल भी पूछा जाना चाहिए कि उन्होंने स्वयं रंगकर्म करने वालों को समाज में क्या स्थान दिया है? क्या यह सच नहीं है कि आज भी रंगकर्म करने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता है और उसे समाज में वह स्थान तो हरगिज प्राप्त नहीं है जो एक वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर और इसी तरह की दूसरी विधाओं से जुड़े लोगों को मिलता है? यहां तक कि गायक, नर्तक, संगीतकार, चित्रकार, मूर्तिकार, शिल्पकार, वास्तुकार और साहित्यकार को भी बहुत ऊंचे धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाता है और नाटक करने वालों की जगह इस क्रम में सबसे नीचे अथवा लगभग हाशिए पर है।

ऐसा भी नहीं है कि रंगकर्म के बारे में यह धारणा इधर ही पैदा हुई है। सच्चाई तो यह है कि जब से रंगमंच का जन्म हुआ तब से रंगकर्मियों को समाज में शूद्रों के समकक्ष रखकर ही देखा जाता रहा है। 'नाट्यशास्त्र' के लिखे जाने के पीछे भी भरत ने इसी सत्य को सामने लाने की कोशिश की है कि बाक़ी चारों वेदों का पाठ और अध्ययन केवल ब्राह्मण कर सकते थे, इसलिए नाट्यशास्त्र के रूप में पांचवे वेद की रचना की गई जिसे शूद्र लोग भी पढ़ सकें। कहने को बेशक यह संदर्भ मात्र एक कहानी और मिथक हो सकता है। लेकिन क्या इससे समाज में व्याप्त शुरू से ही रंगकर्म और रंगकर्मी के बारे में बने हुए पूर्वाग्रह का संकेत नहीं मिलता? दूसरी तरफ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस धारणा के प्रमाण उपलब्ध हैं, जब हम देखते हैं कि चाणक्य जैसे विचारक और राजनीतिज्ञ (चौथी शताब्दी से पूर्व) के अनुसार कलाकारों के लिए आवास की व्यवस्था शहर की सीमा से बाहर होनी चाहिए, अगर ये लोग नगरवासियों के साथ रहेंगे तो समाज को नैतिक रूप से भ्रष्ट कर डालेंगे। आखिर ऐसा क्यों हुआ कि जो कला समाज को उन्नत बनाने में सबसे ज्यादा सहयोग करती है उसी के प्रयोक्ताओं को इतनी हेय दृष्टि से देखा जाता है। यदि इसके कारणों की गहराई से जांच-पड़ताल की जाए तो कुछ ठोस सूत्र पकड़े जा सकते हैं। सबसे पहले तो यही धारणा बनी रही कि रंगमंच अपने-आप में एक शुद्ध और स्वतंत्र कला न होकर विभिन्न कलाओं का संगम है और इसीलिए उसे हमेशा से मिश्रित या संकीर्ण कला का दर्जा दिया गया है। दूसरे, उसके प्रयोक्ता हमेशा से समाज के उस वर्ग से आते हैं जो आर्थिक रूप से कभी भी सम्पन्न नहीं

था। यह स्थिति सिर्फ हमारे ही देश में रही हो ऐसा नहीं है। प्राचीन और मध्यकाल में इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी जैसे देशों में जो लोग रंगमंच पर काम कर रहे थे, वे गुलाम होते थे या समाज के निचले तबकों से जुड़े व्यवसायों से संबद्ध होते थे, जैसे मोची लोहार, सोनार इत्यादि। देखा जाए तो एक और कारण भी प्रस्तुत किया जा सकता है, वह यह कि रंगमंच का मूल उद्देश्य मनोरंजन प्रदान करना है। इसलिए यह काम शुरू से ही ऐसे लोगों को सौंप दिया गया जो अपनी कला और कारीगरी से समाज को प्रसन्न कर सकें यानी समाज के उस वर्ग ने अपने-आप को पहले से ही उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर लिया जिसे दर्शक वर्ग कहा जाता है और उन्हें प्रसन्न करने वाले उनसे नीचे ही रहे। मदारी और सर्कस के कलाकारों के प्रति समाज के रवैए के पीछे क्या यही धारणा काम नहीं करती रही है? समाज में रंगमंच को लेकर ऐसी धारणाओं के पीछे एक बड़ा मनोवैज्ञानिक कारण भी है।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया रंगमंच एक सामूहिक माध्यम है। इसमें स्त्री-पुरुष की खुली भागीदारी होती है। कहीं न कहीं रंगकर्म की प्रक्रिया से गुजरते हुए, विभिन्न चरित्रों को जीते हुए, अभिनीत करते हुए और चौबीस घंटे एक साथ रहते हुए उसमें शामिल स्त्री-पुरुष कलाकार समाज द्वारा स्वीकृत उन मर्यादाओं और सीमाओं को अनजाने या अनायास ही बात समाज को स्वीकार नहीं होती। इसीलिए कहा भी गया है कि सभी कला माध्यमों में रंगमंच सबसे ज्यादा कठिन और जटिल माध्यम है। दरअसल रंगमंच और समाज के आपसी रिश्ते उतने सीधे और सपाट नहीं होते जितने बाहर से दिखाई पड़ते हैं। समाज में रंगकर्म करने वालों की स्थिति तलवार की धार पर चलने के समान है यानी अपने अभिनय और मंचन के माध्यम से कलाकार समाज के लिए जिन ऊंचे मानकों और आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं यदि वे अपने वास्तविक जीवन में स्वयं ही उनसे डिग जाएं तो उन्हें कोई क्षमा नहीं करेगा। रंगमंच और समाज के रिश्तों की आदर्श स्थिति यही है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक बनें। रंगमंच के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक पहलू यह भी है कि समाज में जिस तरह की राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियां मौजूद होती हैं, ऐसे ही कथ्यों पर बहुत से नाटक एक साथ लिखे जाते हैं और उनका मंचन भी होता है।

इतिहास में हम उन परिस्थितियों के संदर्भ में उपलब्ध नाट्य रचना को आधार बनाकर अपने निष्कर्ष की पुष्टि कर सकते हैं। जब भी समाज में अमन चैन की स्थितियां रहीं उन्हीं दिनों में प्रायः शाश्वत कथ्यों वाले नाटक सामने आए। जब भी समाज में अव्यवस्था का माहौल रहा तो नाटकों के कथ्य भी उसी के अनुरूप दिखाई पड़ते हैं।

मात्र एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा आजादी के केवल पंद्रह वर्षों बाद 1962 में चीनी आक्रमण के बाद जब सब तरह के आदर्शों, सपनों और आकांक्षाओं से हमारा मोहभंग हुआ तो उसके परिणाम समाज में भी दिखाई पड़े जैसे संयुक्त परिवार के टूटने की शुरुआत, निजी और स्वतंत्र व्यक्तित्व की तलाश, उनके बीच बढ़ते हुए तनाव। क्या उस दौर में हिन्दी में लिखे गए बहुत से नाटक इन्हीं कथ्यों के इर्द-गिर्द नहीं घूमते? यह सहज और स्वाभाविक है कि नाटक और रंगमंच, जीवंत दर्शक, इनके आपसी तालमेल, लेन-देन और टकराव के जितने भी आयाम हो सकते हैं उन सबके भीतर से गुजर कर ही रंगमंच के समाजशास्त्रीय अध्ययन की एक ठोस भूमिका तैयार की जा सकती है।

● विलास गुप्ते

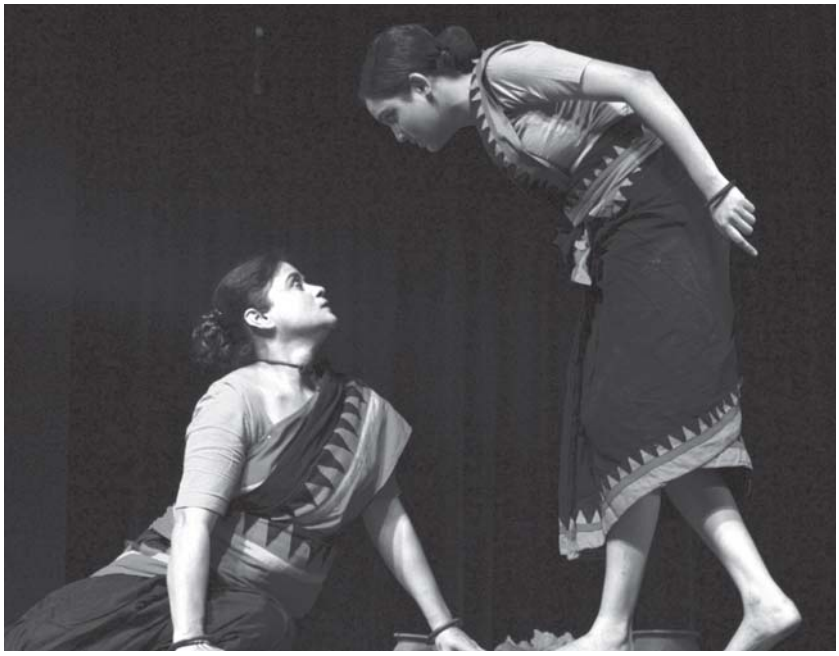

भविष्य का नाटक

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की आरंभिक स्थिति में कुछ तुनकमिज़ाज या आत्ममोहित निर्देशकों ने यह शगल बना रखा था कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं पाये जाते। हिन्दी नाटक की वर्तमान स्थिति का परीक्षण करने पर हम यह पाते हैं कि अब हिन्दी रंग-जगत में सीधे हिन्दी से जुड़े निर्देशकों का प्राधान्य है। हिन्दी-धारा से जुड़े रंगमंच को कितना ही भाषा-निरपेक्ष बताने की कोशिश करें हक़ीक़त यह है कि अभिनय का भाषिक पक्ष दर्शकों को सर्वाधिक प्रभावित करता है।

भविष्य को लेकर चिंतन सिर्फ़ ज्योतिषी ही नहीं करते, वैज्ञानिक और शास्त्रज्ञ भी करते हैं। ये लोग आकाशगामा कल्पना नहीं करते, ठोस ज़मीन पर पैर रखकर यथार्थ का अनुशीलन करते हैं। अध्ययन-मनन-निष्कर्ष उनकी कार्य-पद्धति है। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह किया ही जाता है, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि ज्ञान की शाखाओं में भी वर्तमान स्थिति का विभिन्न कोणों से अध्ययन कर उसके भविष्य के बारे में बताया जाता है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में समायोजन करते हुए वर्तमान के भावी स्वरूप को बताने वाला शास्त्र भविष्य-शास्त्र (futurology) कहा जाता है। इसके अंतर्गत वर्तमान स्थिति के भौतिक-विकास, शैली, वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रभाव आदि का विस्तृत अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। फिर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि काल-गति के हिसाब से आग चलकर कैसे-क्या परिवर्तन हो सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की आरंभिक स्थिति में कुछ तुनकमिज़ाज या आत्ममोहित निर्देशकों ने यह शगल बना रखा था कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं पाये जाते। हिन्दी नाटक की वर्तमान स्थिति का परीक्षण करने पर हम यह पाते हैं कि अब हिन्दी रंग-जगत में सीधे हिन्दी से जुड़े निर्देशकों का प्राधान्य है। हिन्दी-धारा से जुड़े रंगमंच को कितना ही भाषा-निरपेक्ष बताने की कोशिश करें हक़ीक़त यह है कि अभिनय का भाषिक पक्ष दर्शकों को सर्वाधिक प्रभावित करता है। संस्कृत नाटककारों ने वाचिक- अभिनय का पूरा ध्यान रखा, इसा कारण संस्कृत रंगमंच समृद्ध बना। हिन्दी के नाटककार भी नाट्य भाषा को मांज कर चमका चुके हैं व हिन्दी निर्देशकों की उनके साथ समुचित जुगलबंदी की परंपरा विकसित हो चुकी है। हिन्दी रंगमंच को अनुवाद का रंगमंच के ठप्पे से बचाने में दोनों की साझेदारी उल्लेखनीय रही है। पहले नामी गिरामी निर्देशक हिन्दी नाटक को एहसान की मुद्रा में उठाते थे। अब यह स्थिति बन रही है कि

हिन्दी नाटक रंगमंच पर सिर ऊँचा कर विचरण कर सकते हैं। उसी के साथ यह भी दृष्टव्य है कि साक्षरता के विकास के बाद अखबारों के माध्यम से लोगों में सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक जागृति आयी। गांधीजी ने 'कोऊ नृप होऊ हम का हानि' के मिथक को तोड़ा तो स्वतंत्रता के बाद राजनीति के क्षेत्र में खुलते वेश्यावृत्ति के अड्डों को देखकर जनता ने अपने पाँच साला हथियार का उपयोग करना सीखा। यह साक्षरता का ही परिणाम था कि अखबार भरे पेट वालों की सुविधा की वस्तु न बन कर, आम जनता के संघर्षों के प्रतिबिंब बन गये। साक्षरता बढ़ी तो शिक्षा के विभिन्न चरणों का विकास हुआ। लोग शिक्षित हुए तो उनमें कलाओं के प्रति अभिरुचि जागृत हुई। नाटकों के प्रति रुझान भी इसी सांस्कृतिक यात्रा का एक चरण है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले हिन्दी नाटक कुछ प्रमुख शहरों तक ही सीमित थे, अब उनका विस्तार कस्बों तक हो रहा है। मेरे इस कथन से यह ख़ुशफ़हमी हो सकती है कि शहरों में हिन्दी रंगमंच स्थापित हो चुका है। इसलिए यह स्पष्ट करना जरूरी है कि शहरों में भी अभी नाटक मासिक अनुष्ठान नहीं बन सका है। वह अधिक मास की पूर्णिमा या सोमवती/शनिश्चरी अमावस्या की तरह साल-छह महीने में एकाध बार आने वाले अवसर की तरह बना हुआ है। अभी भी शहरों में ऐसे लोग मिल जायेंगे, जिन्होंने बरसों से नाटक नहीं देखा होगा। तसल्ली की बात यह है कि अब शहरों-कस्बों में नाट्यमंडलियों का विस्तार हो रहा है। मनोवैज्ञानिक तौर पर इसका कारण यही है कि सुशिक्षित वर्ग अब सांस्कृतिक रूप से जागृत हो रहा है। शायद वह भी इसमें वह खोज रहा है, जो उसे अन्य माध्यमों से नहीं मिलता।

कुछ अहितकर परिस्थितियों के बलवती होते जाने का लाभ भी नाटक को मिल रहा है। जैसा कि हम सब जानते हैं, वर्तमान में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद वेश बदल कर सामने आ रहे हैं। कहा जा सकता है कि रावण साधु के रूप में आ रहा है। वैश्विकता, आर्थिक विकास, मुक्त व्यवस्था, आनंदलोक का निर्माण आदि के नाम पर सर्वत्र स्वस्थ परंपराओं की हत्या की जा रही है। अपसंस्कृतिजन्य निरपेक्ष, व्यक्ति-केंद्रित सुख का उत्तर-आधुनिकता के नवीनतम संस्करण के नाम पर तिलक किया जा रहा है। विचार को ग़ैरज़रूरी बता कर सिर्फ़ भौतिक सुख पर बल दिया जा रहा है। विचारशून्यता एक ऐसी कोलाहल भरी अँधेरी सुरंग है, जहाँ दैहिक सहवास का सुख तो उठाया जा सकता है, पर पारिवारिक, सामाजिक, मानवीय मूल्यों से हाथ धोना पड़ता है। बहुत कोशिशों के बावजूद साहित्य तो इसकी पकड़ में नहीं आया, कि शासन के गैरजिम्मेदार रुख़ के कारण सिनेमा व टी.वी. माध्यम स्तरहीन सौदागरों की गिरफ़्त में आ चुका है। दरअसल, सत्ता पर क़ाबीज़ लोग जानते हैं कि यदि जनता में जागरूकता आयी तो वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जायेंगे और अपना हक मांगेंगे। एक बनी बनायी योजना के तहत जनता को नशे का आदी बनाया जा रहा है। जनता कहीं अपनी दुर्दशा के कारणों को खोज कर उसका निदान पाने के लिए सक्रिय न हो जाये, इसलिए मायावी जाल बिछाया जा रहा है। निम्नस्तरीय, कामोत्तेजक व असामाजिक सीरियलों व फ़िल्मों की भरमार जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाने का एक साधन है। इसमें कई गिरोह शामिल हैं। भ्रष्ट व्यवसायी, अफ़सर, राजनेता मिलकर हमें सांस्कृतिक तौर पर दिवालिया करने पर तुले हैं। यही स्थिति नाटक के पक्ष में जा रही है। चूंकि नाटक का क्षेत्र अभी भी धीर-गंभीर और समर्पित लोगों के हाथों में है, अत: विचारवान लोग इससे काफ़ी अपेक्षाएँ रखते हैं। यदि नाटक दर्शक को मनोरंजन के साथ-साथ वैचारिक ऊर्जा भी दे सके तो वह स्वागतयोग्य होगा। यह एक आशाजनक संकेत है कि नाटक अभी तक तो प्रलोभन से दूर न लाभ, न हानि के आधार पर चल रहा है। इसी आदर्श स्थिति के बलबूते पर भविष्य में नाटक द्विअर्थी संवादों एवं अशालीन प्रवृत्तियों से बचा रह सकेगा। समाज के प्रति ग़ैरज़िम्मेदार रुख़, कलात्मकता का ह्रास, अप-संस्कृति को प्रोत्साहन-संरक्षण आदि वायरस नाटक में पहुंचने की संभावना कम ही नजर आती है। इलेक्ट्रानिक माध्यमों की काँव-काँव लंबे समय तक नहीं चल सकती, क्योंकि समझदार लोग तोते पालना पसंद करते हैं, कौए नहीं।

समाज के प्रति गैरज़िम्मेदार रुख, कलात्मकता का ह्रास, अप-संस्कृति को प्रोत्साहन-संरक्षण आदि वायरस नाटक में पहुंचने की संभावना कम ही नजर आती है। इलेक्ट्रानिक माध्यमों की काँव-काँव लंबे समय तक नहीं चल सकती, क्योंकि समझदार लोग तोते पालना पसंद करते हैं, कौए नहीं।

दिन-रात मशीनों से घिरा रहने वाला मनुष्य अब मशीनीकृत सौंदर्य से ऊब चुका है। हस्त निर्मित वस्तुओं के प्रति उसका झुकाव बढ़ा है। नाटक एवं रंगमंच एक ऐसा क्षेत्र है, जो मुख्यत: मानव-आधारित कर्मों पर निर्भर है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की प्रस्तुत अपचन

की हद तक पहुंच चुकी है। नाटक में नवीनता के लिए गुंजाइश बनी रहती है। यह नावीन्य मनुष्यकृत होता है। वर्तमान में भौतिक 'प्रापर्टी' के स्थान पर अभिनयकर्मियों के शरीर को ही 'प्रापर्टी' के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में हस्त एवं पद मुद्राओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। इनसे विभिन्न दृश्य बंध एवं समूहन तैयार किये जा सकते हैं। उसी प्रकार लोक धारा के नाट्य मंच से भी काफी कुछ लेकर प्रस्तुत को अभिनव तथा प्रीतिकर बनाया जा सकता है। लोकनाट्य में झाड़ू, डंडा, तलवार आदि के माध्यम से कई तरह के दृश्यबंध तैयार किये जाते हैं। उसी तरह शारीरिक मुद्राओं को भी 'संवाद' बनाया जाता है। ऐसे प्रयोग दर्शकों को अपनी कल्पना-शक्ति को तौलने का आत्मिक आनंद देते हैं। भविष्य का रंगमंच स्थूल न होकर सांकेतिक होगा। अब दर्शकों के लिए इतनी पीठिका तो तैयार हो ही गयी है कि उनकी समझ पर भरोसा किया जा सकता है। इसका परिणाम नाट्य-निर्देशकों पर पड़ेगा, जो 'परदा हटाओ, परदा गिराओ' से काफी आगे चलकर द्विस्तरीय व त्रिस्तरीय दृश्य योजना तक का सफ़र पूरा कर लेंगे।

रुझान देखते हुए लग रहा है कि भविष्य में नाटकों में यांत्रिकी-उपकरणों का प्रयोग कम होगा। टी.वी.-सिनेमा के मुक़ाबले टिके रहने हेतु जरूरी है कि अलग हट कर कुछ बताया जाये। कथ्य में आत्मसाक्षात्कार तो रहेगा ही, साथ में दृश्यबंध, समूहन आदि के द्वारा नाटक कल्पनाशीलता से जुड़ेगा। टी.वी. के सीरियल जहाँ 'ममी' का आभास देते हैं, वहीं नाटक में जीवंतता का स्पर्श होता है। कलाविद् और कला-प्रेमी जानते हैं कि अपनी तमाम चमक धमक, साधन-सम्पन्नता व मायावी आकर्षण के बावजूद इलेक्ट्रॉनिक प्रस्तुतियों में प्राण नहीं होते। नाटक में अभिनयकर्मियों और दर्शकों के दृश्य साथ-साथ धड़कते हैं, जबकि इतर माध्यमों में दर्शक का उत्साह परदे के उस पार नहीं जा सकता। दर्शक की मनो-शारीरिक प्रतिक्रिया प्रस्तुति में समानांतर संवाद की भूमिका अदा करती है।

कलाभिरुचियों का अब सीधे-सीधे विभाजन हो चुका है। देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में कार्यरत, माल-संस्कृति के उपासक, गैर-कानूनी आमदनी के समर्थक, राष्ट्र व राष्ट्रभाषा (या मातृभाषा) को एक पिटा हुआ चुटकुला तथा करियर को अंतिम सत्य समझने वाले लोग एक तरफ हैं। दूसरी तरफ दलित पीड़ित वंचित वर्ग के साथ मानवीय संवेदनाओं से संलग्न, आम आदमी की दुर्दशा को लेकर क्रुद्ध, सामूहिक कल्याण के समर्थक और मायावी षडयंत्र का समझने और भेदने में बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न लोग हैं।

ऊपरी तौर पर यह कथन विवादास्पद लग सकता है, पर यह हक़ीक़त है कि कलाभिरुचियों का अब सीधे-सीधे विभाजन हो चुका है। देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में कार्यरत, माल-संस्कृति के उपासक, गैर-कानूनी आमदनी के समर्थक, राष्ट्र व राष्ट्रभाषा (या मातृभाषा) को एक पिटा हुआ चुटकुला तथा करियर को अंतिम सत्य समझने वाले लोग एक तरफ हैं। दूसरी तरफ दलित पीड़ित वंचित वर्ग के साथ मानवीय संवेदनाओं से संलग्न, आम आदमी की दुर्दशा को लेकर क्रुद्ध, सामूहिक कल्याण के समर्थक और मायावी षड्यंत्र का समझने और भेदने में बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न लोग हैं। बीच में अर्द्धशिक्षित या अशिक्षित और लाचारियों के चलते भ्रम में जी रहे लोग हैं। दिशा संकेत यह है कि आगे चलकर पहला वर्ग कुरुचिपूर्ण मनोरंजन को वरीयता देगा, जबकि दूसरा वर्ग (तमाम तरह की धोखाधिड़यों, बहकावों, कुशंकाओं के बावजूद) सुरुचिपूर्ण मनोरंजन से प्रतिबद्ध रहेगा। तमाम संस्कृतिकर्मियों और सामाजिक-राजनीतिक रूप से जागृत लोगों का यह सामूहिक दायित्व होगा कि न सिर्फ़ अपने वर्तमान और भावी आश्रयदाताओं का विश्वास बनाये रखें, बल्कि प्रथम श्रेणी के दर्शकों को मूर्खों की काल्पनिक दुनिया से बाहर लाने की कोशिश भी करें।

नाट्य प्रेमियों और नाट्य कर्मियों की तो विशेष ज़िम्मेदारी बनती है। नाट्य-प्रशिक्षण, परिसंवाद, नाट्य-प्रस्तुतियों के साथ साथ रंगमंचीय गतिविधियों में दर्शकों की समुचित भागीदारी की ओर भी ध्यान देना होगा। इसके लिए विशेष सर्वेक्षण तथा योजनाओं का आवश्यकता है।

नाट्यलेखन, नाट्यकर्म, नाट्यसमीक्षा को लेकर तो काफी कुछ होता रहता है, हमें अगला लक्ष्य दर्शक को बनाना है। उसे इस मानसिकता तक लाना है कि वह नाटक को सश्रम कारावास ता नहीं ही समझे, संवेदना के स्तर पर विचारात्मक भावात्मक आनंदानुभूति समझे।

● नंदकिशोर आचार्य

भाषा का अभिनय

कथाकार–उपन्यासकार संतोष चौबे के षष्टिपूर्ति प्रसंग के निमित्त भारत भवन भोपाल में कहानी और रंगमंच के अंतर्संबंधों पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संवाद में हिन्दी के वरिष्ठ नाटककार नंदकिशोर आचार्य की अध्यक्षता में देवेंद्र राज अंकुर, राजेश जोशी, संतोष चौबे, रामप्रकाश, आलोक चटर्जी, अशोक बुलानी, संजय मेहता, बालेन्द्र सिंह, विनय उपाध्याय आदि ने वैचारिक उपस्थिति दर्ज की। नंदकिशोर आचार्य का अविकल उद्‌बोधन।

मैं यह मानता हूँ कि कहानी का वाचन भी अगर आप आँख बंद करके सुनेंगे तो उसे देखना होता है। आपके भावना पटल पर वो घटनाएँ घटित होती दिखाई देती हैं अगर वाचन करने वाले व्यक्ति में भाषा के प्रति उतनी सजगता, उतनी संवेदनशीलता है तो। क्योंकि मुख्य तथा पारंपरिक रूप से देखें तो कहानियों को कहने के तीन ढंग अपने यहाँ दिखाई देते हैं। चाहे वो संस्कृत में लिखे नाटक हों या आज लिखे नाटक, वो कहीं ना कहीं कहानियों का नाट्य रूपांतरण है। यानि वो कहानी लेखक के अपने मन में है। या तो पौराणिक कहानी है या ऐतिहासिक घटना है तो उसको एक नाट्य प्रस्तुति के रूप में देखा जा सकता है। जैसे कल आपने देखा 'सुकरात'। अब 'सुकरात' एक कहानी है वो नाटक नहीं है।

आपने शाम को एक रूप और देखा। एक कहानी की वो नाट्य प्रस्तुति थी। दोनों के बीच फर्क आपको महसूस हुआ होगा कि आपने सुबह देखा तो लगा होगा कि नाटक देख रहे हैं और शाम को आपने देखा कहानी को घटित होता हुआ देख रहे हैं। दोनों में फर्क है। दोनों की मंचीय प्रस्तुति में और नाट्य रूपांतरण में लेकिन हमारे यहाँ पर और तीसरा जिसका जिक्र अंकुरजी ने किया। एक नैरेटर खुद ही अपनी कहानी पढ़ दे, आपके सामने सुना दे, ये तीनों ढंग हमारे यहाँ परंपरा में रहे हैं। पहला ढंग हमारा कि दुनिया भर के एपिक से लेकर के वहाँ के चरित्र से कोई कहानी उठा कर नाटक लिखे और प्रस्तुत किये। ये उप कहानियों का नाट्य रुपांतरण या लेखक के मन में जो आया जो कहानी उसने बुनी उसका नाट्य रूपांतरण था। दूसरे में नैरेटर खुद एक नाट्य पाठ करता है आपके सामने।

हमारे यहाँ एक परंपरा रही है। कथा वाचकों की और दास्तांगोई की परंपरा। वाकिफ हैं तो आप पायेंगे कि एक दास्तांगो एक आदमी या दो आदमी होते हैं और वो एक कहानी आपको सुना रहे होते हैं तो आपको

लगता है कि घटना आपके सामने घटित हो रही है। वो नाटक नहीं कर रहे वो अपनी आवाज़ से, अपने वाचिक से उसे संप्रेषित कर रहे हैं। जिसका ज़िक्र आलोक चटर्जी कर रहे थे। उन घटनाओं का होना उस वाचिक से आपका अनुभव होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो नाट्य शास्त्र में वाचिक को अभिनय का एक प्रकार क्यों माना गया होता?

इस बात पर गौर करिये कि हमारे यहाँ पर अभिनय के जितने प्रकार बताये गये हैं सभी दुनियाभर में वही प्रकार हैं। उसमें वाचिक एक प्रमुख प्रकार है। ये वाचिक है क्या? भाषा का ख़ुद अभिनय हो जाना। कुछ भी पढ़ देना वाचिक नहीं है। काव्य दृश्य बन जाता है। तो काव्य के दो प्रकार माने गये हैं। दृश्य और काव्य मूलत: एक ही हैं क्योंकि काव्य तो दोनों हैं। आप रेडियो नाटक में क्या करते हैं। आप सुनते हैं, देखते थोड़े ही हैं लेकिन सुनते हुये आपको ये लगता है कि आप नाटक देख रहे हैं। तो ये भाषा का अभिनय हो जाना यानी सुनने का देखना हो जाना होता है। इसीलिये अगर एक दास्तानगो जिसे हमारे राजस्थान में कहते हैं बातपोश। बात जो सुनता है तो बात वो रातभर सुनाते हैं। सैकड़ों की संख्या में लोग सुनते थे और लगातार उसको इस तरह सुनते रहते थे जैसे घटना उनके सामने घटित हो रही है। तो सुनाने की जो शैली है वो नाटकीय है।

तीसरा प्रकार है... जिसमें वो कहानी सुना रहा है और अभिनय भी कर रहा है। उसके पास कोई प्रापर्टीज नहीं होती। बीच में गा रहा होता है तो वह गायक भी है कथा वाचक भी है। वो अभिनेता भी है और नैरेटर भी। तीजन बाई की अगर आप बात करें तो वो जो प्रस्तुति देती हैं उसमें एक कथा सुनाई जा रही है और उसमें कई कैरेक्टर्स आते हैं जो वो स्वयं हो जाती हैं और एक तरीके से जो तंबूरा उनके हाथ में है उसकी गदा भी बना लेती हैं, उसी को धनुष भी बना लेती हैं, उसी से सारा काम चलाती हैं तो एक प्रकार से ये भी नाट्य का एक रूप है। तो मेरा कहने का तात्पर्य ये है कि हमारी अपनी परंपरा को देखें तो ये एक ऐसी परंपरा रही है जिसमें तीनों प्रकार हैं और ये तीनों कहानी को प्रस्तुत करने के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। अब सवाल इसमें सिर्फ़ ये उठता है कि भाषा अभिनय कब होती है। राजेश ने बहुत अच्छा निर्मलजी की कहानी को लेकर सवाल किया था कि वो तो नैरेशन ही है उसमें घटनायें नहीं हैं। अगर नेरेशन ही है और मेरे ख़्याल से 'तीन एकांत' नाम से तीन कहानियाँ अंकुरजी ने की थीं उसमें भी वैसी ही कहानियाँ हैं। इसे समझने की ज़रूरत है कि भाषा काव्य तभी होती है, शब्द काव्य तभी होता है जिसमें एक भावात्मक सघनता या एक भावात्मक आकुलता प्रकट हो। अगर वो नहीं है, केवल विवरण है तो वो काव्य का दर्जा हासिल नहीं करता। भाषा या शब्द भाव सघन रूप से प्रस्तुत हो। तो जहाँ भाव है, वहाँ अभिनय है। इस चीज को समझने की जरूरत है। इसीलिये नाट्यात्मकता को कोई अलग से ढूँढने की जरूरत नहीं है। अंकुरजी सहमत होंगे कोई भी अच्छी कहानी भाषा, भाव सघनता और द्वंदात्मकता के बीच प्रकट होती है। क्या रोमेंटिक ड्रामा नहीं लिखे गये हैं? क्या एक ही भाव को चित्रित करने वाले नाटक नहीं लिखे गये हैं? ऐसा नहीं है कि वो नाटक नहीं लिखे गये। द्वंद भी जीवन का एक हिस्सा है और दूसरे भी जीवन के बहुत से हिस्से हैं। मतलब द्वंदात्मकता नहीं है तो नाटक नहीं है। ये देखने की आवश्यकता है कि भावनात्मक सघनता यदि नाटक में है तो वो नाटक है और वो नाटक विशेष घटनाओं को लेकर के हो या सामान्य जीवन की घटनाओं को लेकर हो। जैसे चौबेजी की कहानियों के बारे में कहा गया कि वो सामान्य जीवन की घटनायें उठाती हैं। वे कहते हैं कि भावानुभूत ज्ञान ही साहित्य है। ये जो भावानुभूत ज्ञान है वो ही काव्य ज्ञान, साहित्य या कला है। यही मर्म समझने की ज़रूरत है।

भाषा या शब्द भाव सघन रूप से प्रस्तुत हो। तो जहाँ भाव है, वहाँ अभिनय है। इस चीज को समझने की जरूरत है। इसीलिये नाट्यात्मकता को कोई अलग से ढूँढने की जरूरत नहीं है। अंकुरजी सहमत होंगे कोई भी अच्छी कहानी भाषा, भाव सघनता और द्वंदात्मकता के बीच प्रकट होती है। क्या रोमेंटिक ड्रामा नहीं लिखे गये हैं?

कबीर के बारे में मुक्तिबोध कहते हैं कि जहाँ पर जीवन को मस्त होकर गाता है वहाँ तो वो कवि है और जहाँ वो दर्शन वगैरह में चला जाता है, वहाँ कवि नहीं है। दर्शन का एक अलग क्षेत्र है और उसका स्टैंडर्ड भी अलग है। इसीलिये हमें ये समझने की आवश्यकता होती है कि हर कहानी, हर कविता, हर उपन्यास नाटक है। उसको किया जाये या किया नहीं जाये ये अलग बात है। सारे चरित्र जो आपने देखे चौबे जी की जो कहानियों में ये सारे चरित्र नैरेटर भी हैं। वो चारों-पाँचों कथावाचक भी हैं और अभिनेता भी हैं। आजकल भी ऐसे नाटक लिखे जाते हैं जिसमें प्राचीन सूत्रधार जैसी परंपरा

नहीं रही है लेकिन एक चरित्र है जो आपको सब दिखा रहा है। और वो ख़ुद इसके अंदर है। एक पात्र भी है ये ठीक वैसा ही है जैसे रामायण और महाभारत में व्यास और वाल्मिकी पात्र भी हैं और नैरेटर भी। आप देखिये कि हर अच्छी कहानी नाटक है क्योंकि उसके मंच पर दिखाने का साहस उसकी भाषा, उसके वाचन में है। जब अभिनेता वाचक हो जाता है तो और भी अच्छा अभिव्यक्ति होता है।

जो कला अभिव्यक्ति हो रही है वो अभिव्यक्ति ही नहीं अन्वेषण भी है। अन्वेषण ही एक तरह का संप्रेषण है। यह सभी मिलकर कला का रूप धारण करते है। कम्यूनिकेशन भी तभी होता है। अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति तो अन्यथा आप कहें तो विज्ञान के लेख में भी होती है। उसमें एक विचार अभिव्यक्त किया गया होता है पर उसे हम कला नहीं कहते। किसी विधा में इसे डालना अनिवार्य नहीं है। आवश्यक है ये कि भावात्मक संप्रेषण करती है वो कृति आपके सामने नाट्य प्रस्तुति, पाठ्य प्रस्तुति के रूप में, एक काव्य प्रस्तुति के रूप में प्रकट होती है। और वो ऐसा करती है तो वो एक सफल कृति है। इसे नाम आप क्या दें?

उसको आप कहानी का रंगमंच कहें, कविता का रंगमंच कहें, रंगमंच कहें, कि कहानी का पाठ कहें इत्यादि। उससे कोई लंबा चौड़ा फर्क वास्तविक स्तर पर नहीं पड़ता है। इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि उसमें जो भावात्मक सघनता है उसको ना भूलें। अक्सर कहानीकारों या गद्य लेखकों के साथ होता है कि वे कोई निष्कर्ष देने के लोभ से नहीं बच पाते और एक विचार के रूप में निष्कर्ष के रूप में कुछ पंक्तियाँ देते हैं। आप देखेंगे महाभारत में कितनी नीतियाँ बताई गई हैं। वे सब काव्य नहीं हैं। काव्य वही है जहाँ पर भावनात्मक आकुलता और सघनता है। आप गीता को पढ़ेंगे तो जहाँ विराट पुरुष का वर्णन होता है वहाँ वो काव्य है, सारा वर्णन काव्य है। अभिभूत हो जाते हैं आप उसको पढ़ते हुये। बाकी जो उपदेश पढ़ते हैं वो काव्य नहीं है। दर्शन ऊँचा हो सकता है। जिस समय आप रामानुजाचार्य का दर्शन पढ़ते हैं या वल्लभाचार्य का, वो दर्शन होगा, सूरदास का काव्य होगा चाहे वो उस दर्शन से प्रभावित होकर लिखा गया हो। तो ये जो फ़र्क है, भावनात्मकता का, अनुभूति का और एक वैचारिक बहस का, तो विचार प्रकट करने के पचासों तरीके हो सकते हैं। उन दोनों में फ़र्क करें, तो जिन कहानियों में, जिस गद्य में, जिन कविताओं में ऐसा होता है, वो फिर वहाँ पर थोड़ा चूक जाती हैं उतनी श्रेष्ठ कृति बनने से जितनी वो हो सकती थी।

चौबे जी की कहानियाँ मैंने कुछ ही अरसा पहले पढ़ी हैं। यूँ समझिये कि इसी सप्ताह पढ़ीं। एकाध पहले कभी पढ़ी थी। लेकिन इतना गौर नहीं किया था और कल जब देखा तो मुझे ये लगता है कि जैसा कहा गया और सभी लोगों ने कहा उसमें कुछ अनुचित नहीं है कि उन कहानियों के अंदर एक भवात्मकता हर जगह मौजूद है और उसी के कारण से वो मंचीय कृति बनती है। लेकिन एकाध जगह पर ऐसा लगा कि कहीं-कहीं वे स्पष्टीकरण देने के लोभ से नहीं बच पाते या कहीं-कहीं वैचारिक बहस उसमें आ जाती है। जैसे कल की बात करें तो हम पायेंगे कि बहुत अच्छा सारा विवरण चल रहा है अभिनय भी हो रहा है और उसके बीच में वेजेटेरियनस्म को लेकर एक बहस आ जाती है। हमें मालूम है कि कहानी में विश्व मोहन एक भावात्मक स्तर पर शाकाहार से जुड़ गया क्योंकि जो घटना देखी उसने बचपन में एक मनोवैज्ञानिक गहरा प्रभाव उसके मन में पड़ा लेकिन जब हम ये कहते हैं कि साइंस ये बताता है, धर्म ये बताता है तो एक ये वैचारिक बहस बन जाती है और मेरी तुच्छ राय से ये थोड़ा उस प्रभाव को बढ़ाने की बजाय कम कर देती है।

हर अच्छी कहानी नाटक है क्योंकि उसके मंच पर दिखाने का साहस उसकी भाषा, उसके वाचन में है। जब अभिनेता वाचक हो जाता है तो और भी अच्छा अभिव्यक्ति होता है। जो अभिव्यक्ति हो रही है वो अभिव्यक्ति ही नहीं अन्वेषण भी है। अन्वेषण ही एक तरह का संप्रेषण है। यह सभी मिलकर कला का रूप धारण करते है।

नाट्य कृति के रूप में और मैं कहूँगा कि कथा कृति के रूप में भी ऐसी स्थिति में वो जो विवरण है वहीं पर अवांछनीय होता है जहाँ पर उसमें भावात्मक सघनता नहीं होती जहाँ वो केवल सूचनात्मक होता है केवल एक वैचारिक बहस तात्विक बन जाता है उस तरह का जो नैरेशन है वो कृति को नुकसान पहुँचाता है चाहे मंतव्य कितना ही महान हो लेकिन वो कृति को नुकसान पहुँचाने वाला होता है। अगर हम इस चीज़ का ध्यान रखें तो शायद ज्यादा बेहतर कहानियाँ हो पायेंगी, ज्यादा बेहतर कवितायें हो पायेंगी। तो ये समझना ज़रूरी है। इस चीज़ को अगर हम समझें तो हम कहानी के रंगमंच को लेकर के जो सवाल उठ रहे हैं उनको सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पायेंगे।

● आलोक चटर्जी

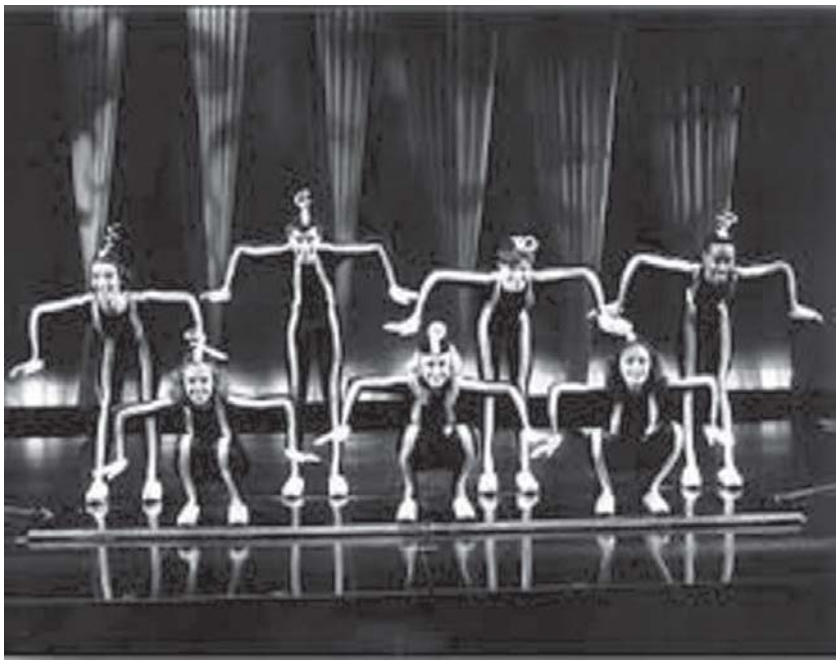

अमूर्त रंगमंच का औचित्य?

पिछले एक दशक में महानगरों और मेट्रो में प्रयोगवादी रंगमंच और अमूर्त रंगमंच का आयातित बोलबाला आज हमारी अपनी संस्कृति और रंगमंच की परम्परा को नष्ट करने का एक असफल प्रयास कर रहा है। ये प्रयोगवादी रंगमंच या अमूर्त रंगमंच आखिर है क्या?

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में जो भयानक मानवीय संकट उत्पन्न हुये, उसने साहित्य, कविता, पेंटिंग, फिल्म और रंगमंच के क्षेत्र में कई सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण कार्य किये। विशेष रूप से फ्रेंच दार्शनिक नाटककार ज्यां पाल सार्त्र, अलबेयर कामू और आयरिश नाटककार सैम्यूअल बैकेट एवं अमरीकी नाटकार आयनेस्को ने विश्व रंगमंच पर मैन विदआउट शेडोज, कलिगुला, वेटिंग फार गोडो, द लैसन जैसे नाटक प्रस्तुत किये। आलेख के स्तर पर ये अत्यंत चुनौतीपूर्ण थे और इनको प्रस्तुत करने की एक नई शैली ईजाद हुई, जिसे अस्तित्ववादी रंगमंच और एब्सर्ड थियेटर का नाम दिया गया। पौलेण्ड में ग्रोटोवस्की ने पुअर थियेटर और साइकोफिजीकल थियेटर यानि मनो शारीरिक रंगमंच को स्थापित किया जिसे उसने 'थर्ड थियेटर' कहा। अमरीका में रिचर्ड शेखनर ने ''एनवायरमेण्टल थियेटर'' को स्थापित किया, तो जर्मनी में बर्तोल्त बेख्त ने यर्थाथवादी शैली से अलग ''थ्योरी आफ ऐलियेनेशन'' और ''एपिक- थियेटर'' की स्थापना की।

ये सब युगांतरकारी नाट्य प्रयोग थे जिन्होंने समूचे विश्व के रंगमंच को एक समान रूप से प्रभावित किया। पर अभी जो विगत् वर्षों में हमारे यहां हो रहा है, वह अत्यन्त निकृष्ट, असामाजिक, अभारतीय, और अपनी जड़ों और परम्पराओं से कटा हुआ रंगमंच है। जो मात्र फैशन, प्रोजेक्ट ग्रांट आदि हासिल करने के लिए किया जा रहा है। छोटे शहरों से बड़े शहरों में गये रंगकर्मी अपने कॉम्प्लेक्स के कारण इनसे जल्दी प्रभावित हो जाते हैं और इनका अनुकरण करने लगते हैं। वे ये भी भूल जाते हैं कि वे कौन हैं? और कहां से आये? उनका परिवार कहां से आया है? वे किस समाज से आते हैं? इन सबका भान हुये बगैर वे किस दर्शक और समाज के लिये रंगमंच कर रहे हैं? विदेशों में आज से लगभग 30 वर्ष पहले जो ''रूम- थियेटर'' या ''स्टूडियो- थियेटर'' का प्रचलन था उसके बाद ''सपर

थियेटर'' आया जिसमें मंच पर खाना बनाते हुये कोई कहानी कहना या अभिनय करना होता है दरअसल यह यर्थाथवादी रंगमंच से ही लिया गया एक प्रयोग है। ऐसी प्रस्तुतियों को निर्देशित करने वाले भारतीय रंगकर्मी अधिकांशत: विदेशी भाषा और संस्कृति से आक्रान्त हैं, वे भूल जाते हैं कि हमारे यहां जितना विविधपूर्ण रंगमंच और नाट्य प्रयोग हैं वे अन्य किसी संस्कृति में नहीं। पाश्चात्य से उलट भारतीय कला और दर्शन अन्तत: स्वयं को जानने और समाज को एक बेहतर रूप देने के लिये है, जिसमें जीवन एक लयबद्धता लिये हुये हो और उसमें किसी प्रकार की कोई विकृति न हो। हमारे यहां भारतीय यर्थाथवादी नाटककार मोहन राकेश और विजय तेंदुलकर हैं तो प्रयोगवादिता में धर्मवीर भारती, भुवनेश्वर दूसरी ओर लोक संस्कृति की छटा, पारम्परिक रंगमंच, भागवत कथाएं, हितोपदेश, पंचतंत्र, जातक कथाएं आदि हैं। इसके अतिरिक्त कविता का रंगमंच, कहानी का रंगमंच, नृत्य नाटिकाएं भी उपलब्ध हैं। क्या ये सब एक साथ किसी दूसरी अन्य संस्कृति में हैं?

कुछ दर्शक खड़े हैं। अलग-अलग रंग गतिविधियां हो रही हैं। कहीं मकड़ी का जाला लटका है तो कहीं एक लड़की मेकअप कर रही है, एक आदमी खुद से बड़बड़ा रहा है, एक शीशे के सामने गुड़िया लटकी है, बीच में एक वीडियो चल रहा है, जिसमें युद्ध दृश्य दिखलाये जा रहे हैं। कानफोडू संगीत भी है, दर्शकों को बारी-बारी से प्रत्येक जगह जाना है और प्रस्तुति समाप्त। खर्चा लगभग 25 से 35 लाख रूपया। ये देश की जनता के टैक्स के पैसे का साफ-साफ दुरूपयोग है।

हमारे इतिहास में ही विभिन्न संस्कृतियों की इतनी कहानियां हैं कि शताब्दियां बीत जाएं फिर भी सम्भावनाएं समाप्त नहीं होंगी। आज छोटे शहरों के युवा रंगकर्मी अपने सीमित संसाधनों में असीमित संभावना उत्पन्न कर रहे हैं। हमें उनका सम्मान करना चाहिये, न कि अपने छद्म बौद्धिक आतंक से उन्हें डराने की चेष्टा करनी चाहिये। हीन वे नहीं आप स्वयं हैं फिर स्वयं को ही महत्वपूर्ण समझने की यह भूल क्यों? जिस देश में अधिकतर लोग अशिक्षित, अपोषित और रोजगार विहीन हैं, मात्र धर्म और संस्कारों की प्रेरणा ही उनका जीवन स्रोत है, उनके लिये आज का यह अमूर्त रंगमंच और तथाकथित प्रयोगवादी रंगमंच आखिर किस काम का है? उन्हें इनसे क्या लेना-देना? उनके जीवन से जुड़ा क्या है ऐसी कला में? जो उन्हें जोड़े बगैर रंगमंच करना ''एक बौद्धिक विलास है''।

प्रयोगवादी और अमूर्त रंगमंच की प्रस्तुतियों की कुछ झलक देखें- टैगोर के नाटक में ऊंचे स्लिपर पर नृत्य करती नृत्यांगना जिसके बदन पर कैबरे डांस के वस्त्र हैं। दूसरा दृश्य एक यथार्थवादी दृश्य में अभिनेता-अभिनेत्री प्रस्तुति के दौरान पूर्ण नग्न हो जाते हैं। तीन-कब दिखाने के लिये मैदान में बड़े-बड़े गड्ढे खोदकर उसमें से भूत निकालना वो भी मात्र दो मिनिट के लिये यह आधुनिक प्रयोगवादी सेट डिजाईन है। दृश्य चार कुछ दर्शक खड़े हैं, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रंग गतिविधियां हो रही हैं, कहीं मकड़ी का जाला लटका है तो कहीं एक लड़की मेकअप कर रही है, एक आदमी खुद से बड़बड़ा रहा है, एक शीशे के सामने गुड़िया लटकी है, बीच में एक वीडियो चल रहा है, जिसमें युद्ध दृश्य दिखलाये जा रहे हैं। कानफोडू संगीत भी है, दर्शकों को बारी-बारी से प्रत्येक जगह जाना है और प्रस्तुति समाप्त खर्चा लगभग 25 से 35 लाख रूपया। ये देश की जनता के टैक्स के पैसे का साफ़-साफ़ दुरूपयोग है। इनमें काम करने वाले नेपथ्यकर्मी अपने रहन-सहन और कपड़ों से और हेयर स्टायल से किसी अन्य ग्रह के प्राणी लगते हैं। समाज इन्हें जोकर की तरह देखता है, और ये स्वयं को बौद्धिक रंगकर्मी- जो समाज को बदलने चला है।

असल समस्या है, मूल विचार, शिक्षा और गहन प्रशिक्षण के अभाव की। इनसे कुछ विदेशी रचनाकारों के नाम तो सुनने को मिलेंगे पर भारतीय रचनाकार और उनके नाम तो छोड़ दें, वे तो अपनी धर्म, जाति, परम्परा और संस्कृति तक से अनभिज्ञ हैं। ऐसे में कुछेक वर्ष तथा प्रयोगशील रंगमंच में बिताने के बाद वे न तो महानगरों में स्वीकृत होते है, और न ही अपने घर या प्रदेश लौटने की कोई संभावना का द्वार उनके लिये खुला होता है। तो वे फिर छोटे और बड़े पर्दे की ओर चले जाते हैं, वहां के बारे में भी कोई ट्रेनिंग लिये बगैर अपना कैरियर बनाने की असफल कोशिश करते हैं, और मुंह की खाते हैं। भारतीय कला और संस्कृति में दासता, दीनता, अवसाद, अकेलापन नहीं है, वरन् यहां जीवन का उत्सव है। जहां मृत्यु भी जीवन का एक पुन: द्वार है और वो भी मात्र शरीर के लिये, आत्मा तो अजर अमर है। ये एक ऐसा तथ्य है जो अन्य किसी आयातित संस्कृति में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

● राजेश जोशी

क्या बदल रही है नाटक की भाषा?

प्रौद्योगिकी में आये परिवर्तनों और संचार की नई प्रविधियों के साथ लगता है कि प्रदर्शनकारी कलाओं की भाषा में कई तरह के बदलाव आये हैं। इस बदलाव ने रंग भाषा को कई स्तर पर बदल दिया है या बदलने की बाध्यता पैदा कर दी है।

आज के नाटक के लिये एक नई रंग भाषा को आविष्कृत करने की ज़रूरत है। नई रंग भाषा को हड़बड़ी में संभव नहीं किया जा सकता। दिक्कत यह है कि रंगकर्मियों और नाटक लेखकों के बीच ऐसा कोई संवाद पूरे दृश्य में मौजूद नहीं है, जिससे इस नई आवश्यकता को समझना संभव हो सके। नई रंग भाषा किस क़िस्म की चीज़ों के समायोजन और किस किस्म की प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिरोध से संभव हो सकेगी। इस पर विचार की कोई पहल ही दिखाई नहीं देती। एक कसमसाहटसी तो दोनों जगह दिखाई पड़ती है लेकिन एक गंभीर विचार विमर्श दृश्य से नदारद है। इसलिए या तो हड़बड़ी में कुछ सामान्यीकरण कर लिये जाते हैं या नाटक लेखक रंगकर्मियों पर और रंगकर्मी नाटक लेखक पर दोषारोपण करके पल्ला झाड़ लेते हैं। समस्या जहाँ की तहाँ बनी रहती है। दर्शक के चारों ओर अंधेरे का जो एक झीना सा ही सही पर ज़रूरी घेरा था, जो सिनेमा के स्क्रीन और दर्शक के बीच या नाटक के मंच और दर्शक के बीच एकाग्रता को सघन बना देता था, जो उसे उसके आसपास से अलग कर देता था, टेलीविजन ने उसे खत्म कर दिया है। दर्शक में एक अजीब सी कैजुअलनेस या कामचलाऊपन बढ़ा है। देखने की एकाग्रता ख़त्म हो गयी है, या ख़त्म हो रही है। टेलीविजन के दर्शक के आसपास पूरी रोशनी है। उसमें चीज़ों की और लोगों की उपस्थिति बनी रहती है। आसपास घटित होता कार्यव्यापार भी चलता रहता है। इसने हमारे देखने के पूरे व्यवहार को ही बदल दिया है। अब वह अंधेरे के घेरे में एक असुविधा महसूस करता है। उससे बार-बार कहना पड़ता है कि नाटक के दौरान वह अपना मोबाइल बंद रखें। पिछले दिनों एक नाटक के दौरान मैंने जब अपने बगल में बैठे एक दर्शक से मोबाइल बंद करने को कहा तो उसने उसकी घंटी को तो बंद कर दिया

पर मोबाइल के डायल पर लगातार एक हरी पीली रोशनी मेरी आँखों को तंग करती रही। मुझे तब और भी अधिक ताज्जुब हुआ जब मैंने जाना कि वह अमेच्योर थिएटर का एक युवा कलाकार था।

●●●

हिन्दी रंगमंच में अनेक निर्देशक पूरी तरह से प्रोफ़ेशनल है। उनके पास नाटक का तकनीकी ज्ञान है। वे बाक़ायदा नाट्य विद्यालय द्वारा प्रशिक्षित हैं। जबकि नाटककार की स्थिति इससे एकदम उलट है। ज्यादातर नाटक लेखकों के पास नाटक लेखन का किसी क़िस्म का तकनीकी ज्ञान नहीं है। इसे जानने के लिये किसी क़िस्म के प्रशिक्षण केन्द्र भी नहीं हैं। अध्ययन के आधार पर ही वह नाटक लेखन में प्रवेश करता है। इसलिए आधुनिक रूप से प्रशिक्षित रंगकर्मी और अप्रशिक्षित नाटककार के बीच संवाद से ज्यादा टकराव की स्थिति बन जाती है। साहित्य से नाटक लगभग एक बहिष्कृत विधा बन गयी है। इसलिए जिस तरह कोई कवि, कथाकार या आलोचक होता है उसी तरह हिन्दी में मुकम्मिल तौर पर कोई नाटककार ढूँढना मुश्किल है। नाटक लेखन वह सेकेण्ड्री काम की तरह ही होता है। रंगमंच और नाट्यालेख के बीच का टकराव आज का नहीं है। वह तो प्रसाद के समय में ही शुरू हो गया था। प्रसाद इस अर्थ में जिद्दी भी दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने लिखा था कि रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिये रंगमंच हो जो व्यवहारिक है। इसकी प्रतिक्रिया में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, राजकुमार वर्मा आदि नाटककार आते हैं जो रंगमंच के साथ संवाद और हस्तक्षेप का रिश्ता बनाने के बजाय उसके अनुरूप नाट्यालेख तैयार करने लगते हैं। यह स्थिति न तो नाट्यालेख को विकसित करती है न रंगमंच का विकास होता है। मोहन राकेश और ओम शिवपुरी के नाट्य ग्रुप में जब एक संवाद की स्थिति बनती है तो नाटक में बदलाव आता है। हिन्दी में नाटककार और रंगकर्मियों के बीच संवाद की स्थिति बीच बीच में बनती है। साथ काम करने के कई उदाहरण भी मिल जाते हैं लेकिन कभी निर्देशक के अपने अहं और कभी लेखक के अहं में यह संवाद टूट जाता है। मुझे कई बार लगता है कि निर्देशक का ज़्यादा ज़ोर और ज़्यादा ध्यान नाटक के प्रदर्शन पर होता है और लेखक का ज्यादा ध्यान या ज़्यादा जोर नाटक में व्यक्त विचार पर होता है। निर्देशक का पाठ और अभिनेता का पाठ कई बार अपने नाट्यकर्म के कारण और कई बार व्यक्त विचार के प्रति लापरवाही के कारण लेखक के इन्टरप्रिटेशन्स को बदल देता है। लेखक के लिये यह स्थिति पीड़ादायक होती है। तकनीक पर जोर विचार और विश्लेषण के प्रति बहुत बार लापरवाह बनाता है। तकनीक को जानना और उसे उपयोग करने में प्रशिक्षित होना निर्देशक को नाट्यालेख और उसमें आये विचार इन्टरप्रिटेशन के प्रति अहमन्य बना देता है। इस तरह के टकराव के चलते अक्सर नये नाट्यालेखों के प्रति अच्छे नाट्य समूहों और निर्देशकों में एक नकारात्मक रवैया दिखाई देता है। बहुत सारे नाटक जो

शब्द और आंगिक भाषा

पिछले दिनों अभिनेताओं, खासतौर से उन अभिनेताओं में जो टेलीविजन पर भी काम करते हैं और शौकिया रंगकर्मी भी हैं, के बारे में रंग निर्देशक बंसी कौल ने एक दिलचस्प बात कही थी। टेलीविजन के छोटे पर्दे पर दिखाये जाने वाले सीरियल्स में अधिकांश समय क्योंकि अभिनेता का चेहरा या धड़ ही दिखाई देता है, इसलिए जब वह वापस रंगमंच पर आता है तो आंगिक भाषा का व्यवहार करने और रंग गतियों से गुजरने में उसे असुविधा होने लगती है। वह लगभग स्टिक हो जाता है या होने लगता है। उसकी देहभाषा में लोच की कमी आने लगती है। इसलिए नाटक एक किस्म से स्पोकन ड्रामा में बदल रहा है। संवादोन्मुखता बढ़ रही है।

आत्यन्तिकता का दूसरा छोर भी है, जहाँ रंगकर्मी नाटक को मात्र एक तीव्र गतियों वाली गतिविधि में, देह भाषा के संयोजनों में, कम्पोजिशन्स में याने लगभग एक झाँकी में अवमूल्यित कर देते हैं कि किसी नाट्यालेख की आवश्यकता ही ख़त्म हो जाती है। वह एक अनुष्ठान की प्रस्तुति बन कर रह जाता है। ऐसे नाटक पिछले दशकों में कई महत्वपूर्ण युवा निर्देशकों ने किये हैं। ब्रेख्त ने कहीं लिखा है कि चाहे यह माना जाता हो कि थिएटर की शुरुआत अनुष्ठान से ही हुई है लेकिन थिएटर तभी थिएटर बनता है जब वह अनुष्ठान से अलग होता है। रंग भाषा के सामने यह एक दूसरी दिक्कत इस दौर में आयी है। उसमें शब्द बहुलता बढ़ रही है और आंगिक भाषा और गतियाँ सीमित हो रही हैं। मतलब यह कि शब्द और आंगिक भाषा का संतुलन गड़बड़ा गया है। आंगिक भाषा जो नाटक की स्वायत्तता की भाषा थी उसका सीमित होना नाटक की अपनी स्वायत्तता को भी सीमित कर रहा है। पिछले दिनों एक सेमीनार में कमलेश दत्त त्रिपाठी ने इस ओर इशारा किया था कि रीप्रेजेन्टेशनल थिएटर, प्रजेन्टेशनल थिएटर में बदल रहा है।

रंगकर्मियों और नाटककारों के बीच संवाद से बेहतर बनाये जा सकते थे, नहीं बनाये जा पाते और उनका मंचन भी नहीं होता। नाटकों की कमी का एक रोना सर्वत्र सुनाई देता रहता है। इस स्यापे का वास्तविकता से कोई लेना देना नहीं है।

●●●

बीच में एक स्थिति और दिखाई दी थी जिसमें भानु भारती, मोहन महर्षि, एम.के. रैना, प्रसन्ना आदि ने स्वयं ही नाट्यालेखों को तैयार किया था। इसमें कुछ नाट्यालेख ऐसे थे जो किसी न किसी नाटककार के साथ मिल कर तैयार किये गये थे। ऐसे आलेखों की प्रस्तुति और प्रकाशन के बाद कई तरह के विवाद भी सुनाई पड़े। ये आलेख अपनी प्रस्तुति में चाहे सफल रहे हों पर क्या नाट्यालेख के स्तर पर भी वे सफल नाट्यालेख कहे जा सकते हैं? अगर ऐसा होता तो उन आलेखों की दूसरे निर्देशकों और रंगसमूहों द्वारा भी प्रस्तुतियाँ की जानी चाहिये थीं या उन्हें नाट्य लेखन का एक मॉडल बनना चाहिये था। पर ऐसा हुआ नहीं। हबीब तनवीर इसके अपवाद हो सकते हैं। वे निर्देशक से अलग एक लेखक भी थे। इसलिए तकनीकी ज्ञान भर से एक मॉडल या महत्वपूर्ण नाट्यालेख तैयार नहीं किया जा सकता। प्रसाद ने अच्छे नाटक को शरीर में मस्तिष्क का स्थान दिये जाने की बात कही थी। ऐसा एक रिश्ता रंगकर्म और नाटक लेखन के बीच बनना चाहिये। हालांकि चाहिये तो बहुत कुछ पर हिन्दी में नाटक की स्थिति में स्पीड ब्रेकर बहुत हैं। एक समाज या जाति में नाटक की स्थिति इस बात को भी इंगित करती है कि वह आंतरिक रूप से अपने व्यवहार और विचार में कितना जनतांत्रिक हुआ है।

●●●

बंसी कौल के साथ एक लम्बे अर्से से काम करते हुए मुझे लगता है कि एक रंग निर्देशक के साथ जब आपकी पटरी कुछ ठीक ठाक सी बैठ जाती है तो वह विचार को विजुअल में रूपान्तरित करने में आपकी मदद करता है और लेखक निर्देशक के विजुअल को एक विचार के रूप में इन्टरप्रेट करने में उसकी सहायता करता है। अगर रंगमंच एक ताली है तो वह दो हाथों से ही बजेगी। एक हाथ निर्देशक का और एक नाटककार का।

प्रफुल्ल नागड़ा

● रमेश उपाध्याय

नए समीकरणों की दरकार

हिन्दी पिछड़ी हुई या दरिद्र भाषा है, उसमें कुछ भी अच्छा नहीं है और न हो सकता है, ऐसा सोचने वाले और अनुवादों से काम चलाने वाले रंगकर्मी हिन्दी में अच्छे नाटक लिखने वालों को आकर्षित करने के बजाय हतोत्साहित ही करते हैं और इस प्रकार स्वयं हिन्दी भाषा और रंगकर्म को दरिद्र बनाते हैं। यदि वे सचमुच चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे जायें, तो उन्हें चाहिए कि वे हिन्दी भाषा से प्यार करना और हिन्दी लेखकों का आदर करना सीखें।

मैं नितांत संयोगवश नाटक लेखन में प्रवृत्त हुआ। यह की बात है। दिल्ली की एक साहित्यिक संस्था ने मेरे कहानी पाठ का 1965 में आयोजन किया था। मुझ नवोदित लेखक की कहानी सुनने कुछ वरिष्ठ साहित्यकार भी आये थे। उनमें से एक थे कथाकार-नाटककार सत्येंद्र शरत्, जो उस समय आकाशवाणी की विविध भारती सेवा में प्रोड्यूसर थे। गोष्ठी के बाद चाय के समय उन्होंने मुझसे पूछा, ''कहानी लिखने के अलावा आप और क्या करते हैं?'' मैंने बताया कि मैं अभी तक दिल्ली प्रेस से निकलने वाली पत्रिका 'सरिता' के संपादकीय विभाग में था, लेकिन वहाँ काम करना मुझे अच्छा नहीं लगा, इसलिए मैंने नौकरी छोड़ दी है और फिलहाल स्वतंत्र लेखन करता हूँ। ''रेडियो के लिए नाटक लिखना चाहेंगे?'' उन्होंने पूछा। मुझे नाटक लिखने का कोई अनुभव नहीं था, फिर भी युवकोचित उत्साह के साथ मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने विविध भारती के लोकप्रिय कार्यक्रम 'हवा महल' के लिए पंद्रह-पंद्रह मिनट के हल्के-फुल्के नाटक लिखने के लिए कहा। और मैं शायद दूसरे या तीसरे दिन ही एक नाटक लिखकर उनके पास जा पहुंचा। उन्होंने कैंटीन में ले जाकर मुझे चाय पिलायी। मेरे सामने ही उन्होंने नाटक पढ़ा और शाबाशी दी, ''आप अच्छा लिखते हैं, हमारे लिए और लिखिए।'' मेरे उस पहले नाटक को उन्होंने अपने ही निर्देशन में प्रोड्यूस और प्रसारित किया।

अब याद नहीं कि मेरा पहला नाटक कौन-सा था और उसमें क्या था? लिखना शुरू करने के कई साल बाद तक भी मुझे यह शऊर नहीं था कि अपनी रचनाओं की प्रतिलिपियाँ अपने पास सँभालकर रखूँ। टाइपराइटर तब मेरे पास था नहीं और कार्बन लगाकर लिखना या अपने लिखे हुए को किसी और से टाइप कराना मुझे झंझट का काम लगता था, इसलिए मैं अपनी रचनाएँ हाथ से लिखता था और भेज देता था। फोटोकापी की तकनीक तब तक आयी नहीं थी और टेपरिकार्डर आज की तरह सस्ता और

सुलभ नहीं था कि नाटक जब रेडियो से प्रसारित हो, तो उस टेप कर लिया जाये। बहरहाल, 'हवामहल' कार्यक्रम के लिए हुए मेरे रेडियो नाटक खूब सराहे गये और बार-बार प्रसारित हुए। उनमें से कुछ यदा-कदा अब भी सुनने को मिल जाते हैं और मेरे बच्चे, जो अब खूब बड़े हो गये हैं, उन्हें टेप कर लेते हैं।

उन दिनों या तो आकाशवाणी में रेडियो नाटकों की माँग बहुत ज्यादा थी या रेडियो नाटक लिखने वालों की संख्या बहुत कम थी। सत्येंद्र शरत् ने मुझे नाटक विभाग के सुशील कुमार से, बच्चों का कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले बालकराम नागर से और महिलाओं के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाली सई परांजपे से मिलवाया, तो सभी ने मुझसे अपने-अपने कार्यक्रम के लिए नाटक लिखने को कहा। दूरदर्शन के वे शुरुआती दिन थे और वहाँ से भी नाटक प्रसारित किये जाते थे। वहाँ के अक्षोभ्येश्वरी प्रताप ने मुझसे दूरदर्शन के लिए भी कुछ नाटक लिखवाये।

उन सबकी माँग पूरी करने के लिए इतने मौलिक नाटक लिखना मुश्किल था, इसलिए मैंने देशी-विदेशी लेखकों की प्रसिद्ध रचनाओं के नाट्य रूपांतरण करने शुरू किये और ओ. हेनरी, चेखव, मोपासाँ, तोलस्तोय, मार्क ट्वेन, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी आदि की कहानियों के नाट्य रूपांतरण किये, जो आकाशवाणी और दूरदर्शन से प्रसारित हुए। साथ-साथ मैं अपने मौलिक नाटक भी लिखता रहा। उनमें से आधे घंटे का एक नाटक 'अपने-अपने दायरे' बहुत सराहा गया। उसे आकाशवाणी से वर्ष में प्रसारित नाटकों में सर्वश्री नाटक के रूप में चुना गया और आकाशवाणी के सभी केन्द्रों से प्रसारित किया गया। उस नाटक की मुझे सबसे अधिक रायल्टी मिली। देश भर के आकाशवाणी केन्द्रों से चेक आये।

जब मुझे 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादकीय विभाग में नौकरी मिल गयी और नाटक लिखकर पैसा कमाने की ज़रूरत नहीं रही, तब भी आकाशवाणी और दूरदर्शन के मेरे मित्रों का आग्रह बना रहा कि मैं उनके लिए नाटक लिखूँ। तब मैंने कुछ बड़ी रचनाओं के नाट्य रूपांतरण किये, जैसे दूरदर्शन के लिए मार्क ट्वेन की लंबी कहानी 'दि मैन दैट करप्टेड हैडलीबर्ग' का नाट्य रूपांतरण और आकाशवाणी के लिए यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' का तथा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'अपने खिलौने' का नाट्य रूपांतरण। उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण कई किस्तों में धारावाहिक रेडियो के रूप में प्रसारित हुए।

रेडियो पर 'मृच्छकटिकम्' : हिन्दी डाइजेस्ट 'नवनीत' का सहायक संपादक बनकर जब मैं बंबई गया, तब कवि नरेन्द्र शर्मा वहाँ के आकाशवाणी केन्द्र के निदेशक थे। मैं उनसे मिला, तो उन्होंने मेरे रेडियो नाटकों की प्रशंसा करते हुए अपने केन्द्र के लिए भी नाटक लिखने को कहा। उनके लिए मैंने शूद्रक के संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' का रेडियो नाट्य रूपांतरण किया, जो छह किस्तों में धारावाहिक रूप से प्रसारित हुआ। (उसमें फिल्म अभिनेत्री कल्पना ने वसंत सेना के चरित्र को अपना स्वर दिया था। इसी तरह फिल्म अभिनेत्री कामिनी कौशल ने एकालाप के रूप में लिखे गये मेरे मौलिक रेडियो नाटक 'लोक लाज' में अपना स्वर दिया था।)

बंबई से वापस दिल्ली आने पर मैंने अपना पहला मंचीय नाटक 'पेपरवेट' लिखा, जिसका पहला मंचन 'प्रतिबिंब' 1972 नामक नाट्य संस्था ने त्रिवेणी के मुक्ताकाशी रंगमंच पर किया। पहला शो देखने वालों में कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना भी थे। उन्हें नाटक इतना अच्छा लगा कि उन्होंने मुझे गले लगाकर बधाई दी और 'दिनमान' में उसकी विस्तृत समीक्षा लिखी। उन्हीं दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने इब्राहीम अलकाजी के निर्देशन में लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'सूर्यमुख' मंचित किया था। सर्वेश्वर जी ने दोनों नाटकों की तुलना करते हुए लिखा था कि 'सूर्यमुख' नाटक ''लेखक का न होकर निर्देशक का था और इस बात का गवाह था कि एक अपेक्षाकृत हल्के आलेख को भी एक कुशल निर्देशक कैसे वजनदार बना देता है।... दूसरी ओर 'पेपरवेट' था। एक नये लेखक रमेश उपाध्याय का पहला नाटक। आज की ज़िंदगी से जुड़ने की कोशिश और साधारण जन की पीड़ा को उभारने और उसकी समस्याओं को सही-सही रेखांकित करने का प्रयत्न। ...यह नाटक निर्देशक का नहीं, लेखक का था।

मेरा एक ओर नाटक था 'भारत-भाग्य-विधाता'। यह नाटक तेलुग कथाकार ईश्वर की कहानी 'आदमी' पर आधारित था और चुनाव से संबंधित था। उन दिनों नागार्जुन की कविता 'अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' बहुत प्रसिद्ध हुई थी। यह कविता उन्होंने में पश्चिम बंगाल के चुनाव में हुई भारी धाँधली से क्षुब्ध होकर 1972 लिखी थी। मैंने अपने नाटक में कुछ जगहों पर इस कविता के अंशा का उपयोग किया था।

... उस नाटक के दर्शक थे पैंतीस हज़ार!

कुछ जगहों पर हमें बहुत दर्शक मिले। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक शहर है अमरोहा। हम वहाँ सिर्फ एक रात के लिए प्रस्तुति करने के लिए गये थे। वहाँ दर्शक थे 15,000। हम इतनी ज़्यादा भीड़ के लिए तैयार नहीं थे। मंच कुछ खास ऊँचा नहीं था। वहाँ के लोगों ने ज़िद की कि हम एक रोज़ और ठहर जायें और एक और शो करें। तो हमने सोचा कि एक दिन और ठहरकर और कुछ ऊँचा मंच बनाकर नाटक करते हैं। अब एक बहुत ही मजेदार बात हुई। हमने अपने नाटक के प्रचार के लिए एक रिक्शे पर लाउडस्पीकर लगाकर कहना शुरू किया कि फलाने-फलाने समय पर हमारा नाटक फलानी जगह पर होगा। शहर में लगभग एक लाख की आबादी थी। हमने तीन रिक्शे भेजे थे। अब हुआ ऐसा कि अति दक्षिणपंथी राजनीतिक पार्टी ने भी अपने रिक्शे सड़कों पर भेज रखे थे और ऐलान करवा रहे थ कि आम जनता इस नाटक को देखने न जाये, क्योंकि यह नाटक कम्युनिस्ट करवा रहे हैं, जो अश्लील है और दिल्ली से वेश्याएँ लाये हैं नचवाने के लिए। जब हमने यह सुना, तो हमने अपने रिक्शे रुकवा दिये। हमें मालूम था कि अब तो लोग आयेंगे ही। शाम को नाटक देखने लगभग 35,000 लोग पहुंच गये। यह बिलकुल ही अप्रत्याशित था। हमने मंच ऊँचा तो किया था, लेकिन दूर से लोग उसे देख नहीं पा रहे थे। लोग पीछे से आगे आने की कोशिश करते थे, तो आगे वाले लोगों का एक हुजूम स्टेज से टकरा जाता था। दुबारा धक्का लगता, तो सौ-दो सौ लोग मंच पर आ गिरते थे।

...'सूर्यमुख' एक साफ-सुथरे चिकने मगर बंद रास्ते का नाटक था, जबकि 'पेपरवेट' उस खुरदरी पगडंडी का, जहाँ से एक नया रास्ता खुलता है, एक बने-बनाये राजमार्ग से हटकर वह एक नयी लीक बनाता है।'' फिर जब बंबई 'इप्टा' के एम.एस. सथ्यू, शमा ज़ैदी, आर.एम. सिंह, ए.के. हंगल, सुलभा आर्य, नितिन सेठा आदि की टीम ने मुंबई में 'पेपरवेट' का मंचन किया, तब तो इस नाटक की धूम ही मच गयी। शमा ज़ैदी ने हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराता और मराठी की पत्र पत्रिकाओं में छपी समीक्षाओं का पुलिंदा भेजते हुए मुझे बधाई दी थी और लिखा था कि मैं 'इप्टा' के लिए और नाटक लिखूँ। इसके बाद जगह-जगह 'पेपरवेट' के मंचन हुए। पंजाबी और तेलुगु भाषाओं में अनुवाद भी हुए।

मेरा दूसरा नाटक था 'भारत-भाग्य-विधाता'। यह नाटक तेलुग कथाकार ईश्वर की कहानी 'आदमी' पर आधारित था और चुनाव से संबंधित था। उन दिनों नागार्जुन की कविता 'अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' बहुत प्रसिद्ध हुई थी। यह कविता उन्होंने में पश्चिम बंगाल के चुनाव में हुई भारी धाँधली से क्षुब्ध होकर 1972 में लिखी थी। मैंने अपने नाटक में कुछ जगहों पर इस कविता के अंशों का उपयोग किया था।

यह नाटक मैंने लिखा था। संयोग से उसी समय 1973 दिल्ली में जन नाट्य मंच नामक एक नयी नाट्य संस्था का गठन हुआ, जिसमें मेरा मित्र सफ़दर हाशमी सक्रिय था। उसके कहने पर मैंने उसकी मंडली के बीच बैठकर नाटक का पाठ किया और सबने नाटक की प्रशंसा की। तत्काल तय हो गया कि जन नाट्य मंच का पहला नाटक 'भारत-भाग्य-विधाता' ही होगा। नाटक का पहला मंचन उसी वर्ष कविता नागपाल के निर्देशन में दिल्ली में हुआ।

जिन दिनों 'भारत-भाग्य-विधाता' की रिहर्सल हो रही थी, एक दिन सर्वेश्वर दयाल सक्सेना रिहर्सल देखने आये। नागार्जुन की कविता के अंशों की जगह उन्होंने स्वयं गीत लिखने का प्रस्ताव किया और इस नाटक के लिए नौ गीत लिखे। मोहन उप्रेती ने उन गीतों को संगीतबद्ध किया। उनमें से एक गीत 'अब तंग आ चुके हैं हम ऐस चुनाव से, आवाज़ आ रही है सुनो गाँव-गाँव से' काफ़ी लोकप्रिय हुआ था।

सफदर हाशमी का साक्षात्कार : सफ़दर हाशमी ने यूट्रैक्ट विश्वविद्यालय, हालैंड के 1988 थियेटर स्टडीज के प्राध्यापक यूजीन वैन अरविन को दिये एक साक्षात्कार में, जो पहले अंग्रेज़ी में 'दि राइट टु परफार्म' में छपा था और बाद में हिन्दी में अनुदित होकर 'नुक्कड़ जनम संवाद' में, 'भारत-भाग्य-विधाता' की प्रस्तुतियों का बड़ा रोचक वर्णन किया था।

एक बहुत प्रतिभाशाली गायक था, जो अब टी.वी. और फ़िल्म में एक मशहूर अभिनेता है, उसका नाम विनोद नागपाल है। उसकी पत्नी भी आ गयीं। वे एक मानी हुई नाट्य समीक्षक और निर्देशक थीं। एक नौजवान नाटककार रमेश उपाध्याय ने हमारे लिए एक नाटक लिखा 'भारत-भाग्य-विधाता'। नाटक का शीर्षक हमारे राष्ट्रीय गान से लिया गया है। शीर्षक विडंबनात्मक था और नाटक आम चुनावों पर आधारित

था। इसकी तैयारी हमने सितंबर में की। एक मशहूर संगीतकार और लेजेंडरी गायक मोहन उप्रेती ने इसका संगीत तैयार किया। वह एक अच्छा लिखा गया नाटक था, लेकिन श्रीमती नागपाल ने उसमें वाचक और प्रतिवाचक को जोड़ दिया। उनके पति वाचक का पात्र खेल रहे थे और मैं प्रतिवाचक का। यह एक प्रकार से ब्रेख्तियन तकनीक थी, जो होने वाली कार्रवाई पर टिप्पणी करती है और हम गानों द्वारा बताते थे कि आगे क्या होने वाला है। हम हर दृश्य की समीक्षा किया करते थे।

नाटक बहुत लोकप्रिय बन गया। आलोचकों ने भी इसकी बहुत प्रशंसा की। फिर हम इसे कालेजों और मजदूर बस्तियों में ले जाने लगे। हमने पार्क में भी प्रस्तुतियाँ कीं। जनवरी-फरवरी में हमने 1974 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश का दौरा किया। उन दिनों वहाँ चुनाव हो रहे थे। हमने उन शहरों में नाटक के शो किये, जहाँ सी.पी.आई. या सी.पी.आई.(एम.) के उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे थे। संदेश बिल्कुल साफ था- हम चाहते थे कि जनता कम्युनिस्टों को ही वोट दे। कम्युनिस्ट सभी जगह चुनाव हार गये, लेकिन यह एक अलग कहानी है। वे जीत ही नहीं सकते थे, क्योंकि उनका जन-संपर्क नहीं था। कोई भी नौजवानों या किसानों का आंदोलन नहीं था।

सुरीला ड्रायवर

इसी समय एक और अनहोनी बात हुई। गायक विनोद नागपाल कुछ पीने-पिलाने के शौकीन थे। शाम होते-होते कुछ मस्त हो जाते थे। हम एक बस में सफर कर रहे थे और बस का ड्राईवर कभी-कभार देसी शराब की बोतल खरीद लिया करता था। वह बोतल में नमक डाल दिया करता था, ताकि वह और भी तेज बन जाये। उस रात विनोद ने कम से कम आधी बोतल तो पी ही रखी होगी। तो इस सारी हबड़-तबड़ में हम नाटक नहीं शुरू कर सके और विनोद गाड़ी में लेटा हुआ था। उसने कहा कि वह आज प्रस्तुति देने की हालत में नहीं है। वह बहुत लंबा आदमी है, लगभग छह फुट दो इंच। बहुत ही ख़ूबसूरत भी और अच्छी काठी का। मैं उसके पास बस में गया, जो मंच के बिलकुल पीछे ही खड़ी थी। मैंने उससे कहा- 'तुम मंच पर जाओ'। वह मंच पर गया। कुरता-पाजामा पहने और कंधे पर शाल डाले। मैंने उससे कहा- 'कुछ भी गाओ'। उसने शास्त्रीय रूप में कुछ गाना शुरू किया, जिसे लोग पसंद नहीं करते हैं। उसने बड़ी ही सुंदर मुद्रा बनायी और मैंने हारमोनियम पर उसके लिए सुर साधा। शास्त्रीय गायन के बाद उसने क्रांतिकारी कवि फैज अहमद फ़ैज के गीत गान शुरू कर दिये।

भारत में शास्त्रीय गायन का एक ढंग है, जिसमें शब्दों तक पहुंचने से पहले सिर्फ़ सुर ही गाये जाते हैं। इसे आलाप कहते हैं। उसने पंद्रह मिनट तक सिर्फ आलाप ही किया। आलाप ने 35,000 के जनसमूह को, जिसमें बच्चे और औरतें भी थीं, मानो वशीभूत कर लिया। पहले की हबड़-तबड़ की जगह अब मुकम्मल शांति थी। वह फिर अपने आलाप को रोक नहीं पाया। वह एक कलाकार था और उसने महसूस कर लिया था कि उसके गायन से लोग मंत्रमुग्ध हो गये हैं। उसने 35 मिनिट तक गाया, मंच के बीचों-बीच खड़े होकर। वह अभी तक नशे में था और इसी वजह से झूम भी रहा था। वहाँ पर बिलकुल ख़ामोशी थी। जब उसने गाना बंद किया, तो दर्शक बहुत देर तक ताली बजाते रहे। इसके बाद हमने नाटक शुरू किया, जो सुबह होने तक चलता रहा, लेकिन बीच में कोई रुकावट नहीं आयी। काश, मैं उन क्षणों की फ़िल्म बना पाता!

हिन्दी नाटक : कुछ सुझाव

मेरा नाटक लिखना जारी है और मैं भविष्य में भी नाटक लिखते रहना चाहता हूँ। लेकिन मैं एक नाटककार के रूप में अपने अनुभवों के आधार पर यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में नाटक लिखने और लिखते रहने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करने वाला वातावरण बिलकुल नहीं है। इसके लिए किसी को दोष देने के बजाय मैं उचित वातावरण बनाने के लिए कुछ सुझाव देना चाहता हूँ :

- जो लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं हैं, या नहीं लिखे जा रहे हैं, वे अव्वल तो यह देखें कि ऐसे वक्तव्य कहीं उनके अज्ञान या अहंकार के सूचक तो नहीं हैं। दूसरे, यदि उन्हें लगता है कि वास्तविकता यही है, तो शिकायतें करते रहने और इस बहाने दूसरी भाषाओं से अनूदित नाटक करते रहने के बजाय वे लेखकों को नाटक लिखने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करें और जिन कारणों से लेखक नाटक लिखना नहीं चाहते या लिखना बंद कर देते हैं, उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न करें।

- हिन्दी पिछड़ी हुई या दरिद्र भाषा है, उसमें कुछ भी अच्छा नहीं है और न हो सकता है, ऐसा सोचने वाले और अनुवादों से काम चलाने वाले रंगकर्मी हिन्दी में अच्छे नाटक लिखने वालों को आकर्षित करने के बजाय हतोत्साहित ही करते हैं और इस प्रकार स्वयं हिन्दी भाषा और रंगकर्म को दरिद्र बनाते हैं। यदि वे सचमुच चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे जायें, तो उन्हें चाहिए कि वे हिन्दी भाषा

से प्यार करना और हिन्दी लेखकों का आदर करना सीखें। वे हिन्दी में अच्छे नाटक न होने का रोना रोने और अनुवादों से काम चलाने की आदत छोड़ें और हिन्दी नाटक तथा रंगकर्म को समृद्ध बनायें।

● हिन्दी में नाटक करने वालों का एक आवश्यक कर्तव्य है कि वे हिन्दी में लिखे जा रहे अच्छे-बुरे सब तरह के नाटकों पर ध्यान दें और अच्छे नाटकों की प्रशंसा तथा खराब नाटकों की आलोचना करें। नाट्य कला की अपनी सोच-समझ, विचारधारा, राजनीति या नाटककारों के बारे में अपनी निजी पसंद-नापसंद के आधार पर किसी खास तरह के नाटकों को चुन लेने और दूसरी तरह के नाटकों की उपेक्षा करने या उनके प्रति उदासीनता बरतने के बजाय उनकी आलोचना करें, उनके लेखकों से संवाद करके उन्हें बतायें कि आपके विचार से अच्छा नाटक क्या है और उनका पक्ष भी धैर्यपूर्वक, साथी भाव से तथा जनतांत्रिक ढंग से सुनें।

● नाटकों के निर्देशक इस ओछे अहंकार से मुक्त हों कि नाटक निर्देशक का माध्यम है। यदि उन्हें यह अहंकार कायम रखना है, तो वे दूसरों के लिखे हुआ नाटकों में फेर-बदल करने के बजाय अपने नाटक स्वयं लिखें। यदि वे किसी और का नाटक करते हैं, तो नाटक और नाटककार का आदर करना सीखें। विनम्रतापूर्वक यह समझने का प्रयास करें कि नाटक क्या कहता है और नाटककार क्या कहना चाहता है। यदि उन्हें लगे कि वे भी अपने निर्देशन द्वारा वही कहना चाहते हैं, तो ही उस नाटक को उठायें। यदि आप उस नाटक के माध्यम स अपनी अलग व्याख्या के अनुसार कुछ और कहना चाहते हैं, तो नाटककार को बुलायें, उससे बात करें और यदि वह आपकी भिन्न व्याख्या से सहमत हों तथा उसके अनुसार नाटक में परिवर्तन करने की अनुमति दें, तब ही उसमें परिवर्तन करें। यह नहीं कि आप किसी का कोई भी नाटक उठा लें और उसे अपनी मर्जी या सनक के मुताबिक कुछ का कुछ बनाकर प्रस्तुत कर दें, जैसा कि हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में एक आम रिवाज-सा बन गया है।

● यदि आप सचमुच हिन्दी में अच्छे नाटकों के अभाव की चुभन महसूस करते हैं, तो अपने भीतर झाँककर देखें कि हिन्दी भाषा और हिंदी भाषी जनता से आपको कितना प्यार और लगाव है।

नाटककार को भी अपना पेट और परिवार पालना होता है। वह मुफ्त में नाटक लिखकर साहित्य और रंगमंच की सेवा अधिक दिनों तक नहीं कर सकता। अतः नाटक मंचित करने के लिए बाकायदा अनुमति लें और नाटककार को रायल्टी या पारिश्रमिक दें।

यदि पायें कि वह प्यार और लगाव आपमें है, तो हिन्दी में अच्छे नाटक न मिलने पर अन्य भाषाओं के देशी-विदेशी अच्छे नाटकों को उठा लेने की 'सुविधा' होने पर भी आप हिन्दी में उपलब्ध उन नये नाटकों को उठाने की सोचें, जो आपको 'दुविधा' में डालते हैं। व्यावसायिक सफलता संदिग्ध होने की जोखिम उठाकर भी हिन्दी के नाटक करने को अपनी प्राथमिकता बनायें। लिखे जा चुके नाटकों को बेहतर बनाने के लिए उनके लेखकों के साथ संवाद करें। नये नाटक लिखवाने के लिए नये लेखकों को प्रेरित करें, उनकी सहायता करें, उन्हें सामने लायें, उन्हें उचित महत्व दें।

● हिन्दी में अच्छे नाटकों के अभाव का एक मुख्य कारण यह भी है कि नाटकों के निर्माता और निर्देशक हिन्दी में लिखे गये नाटकों का सिर्फ 'इस्तेमाल' करते हैं। उन्हें वे अपनी अभिरुचि, समझ या राजनीति के अनुसार बदलते हैं और ऐसा करने के लिए लेखक से अनुमति लेना तो दूर, उस सूचित भी नहीं करते।

अपने अनुभव के आधार पर मुझे बड़े खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि नाटकों के मंचन करने वाले लोग नाटककार से अनुमति लेना और उसे नाटक की रायल्टी या पारिश्रमिक देना ज़रूरी नही समझते। नाटककारों के साथ ऐसा व्यवहार हिन्दी के अलावा शायद ही किसी और भाषा में होता हो। अतः यदि आप सचमुच हिन्दी में अच्छे नाटक लिखवाना चाहते हैं, तो नाटककारों की कद्र करना सीखें। ध्यान रखें कि नाटककार को भी अपना पेट और परिवार पालना होता है।

वह मुफ़्त में नाटक लिखकर साहित्य और रंगमंच की सेवा अधिक दिनों तक नहीं कर सकता। अतः नाटक मंचित करने के लिए बाक़ायदा अनुमति लें और नाटककार को रायल्टी या पारिश्रमिक दें। यदि नाटक में कोई परिवर्तन करना चाहते हों, तो नाटककार की अनुमति और सहमति से करें। बेहतर होता कि नाटक की रिहर्सल में नाटककार को शामिल करें और कम से कम पहली प्रस्तुति में उसे बुलाकर नाटक दिखायें और दर्शकों से उसका परिचय करायें।

● उषा गांगुली

टैगोर के नाटक रंगमंच पर चुनौती

टैगोर के नाटक, रंगमंच के लिए सदा ही चुनौती रहे हैं। उन्हें किसी रंग विधान और शैली में बांधना निर्देशक से लेकर अभिनेताओं तक के लिये, किसी इम्तहान से कम नहीं। काबिलेगौर यह भी कि इस चुनौती के बावजूद टैगोर के नाटक पूरे भारतीय रंग परिवेश को प्रिय रहे हैं। टैगोर विश्व कला एवम् संस्कृति केन्द्र भोपाल के वैचारिक अनुष्ठान में मूर्धन्य रंगकर्मी और कला विदुषी उषा गांगुली का यह व्याख्यान... ।

हम हमेशा अपनी वसुधा की बात करते हैं। विश्व के एक होने की बात करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने ऐसी सृष्टि की, कि सृष्टि के कर्ता के रूप में कोना-कोना, जर्रा-जर्रा, लेखन का, सोच का, दर्शन का, राजनीति का, चेतना का, प्रेम का और सारे देश को जोड़ने का रहा। उन्होंने कभी नहीं चाहा था, खण्ड-खण्ड देश हो। कभी नहीं चाहा था, एक प्रदेश के दो टुकड़े हों। राष्ट्र की अखण्डता-पर गहरा विश्वास करते हुए उन्होंने एक परिकल्पक के रूप में एक ऐसा विशाल सपना देखा जहाँ संस्कृति एक इंसान को माँजने वाली, संस्कार करने वाली, आगे बढ़ाने वाली, पूरे के पूरे रूप में शिक्षा के साथ जुड़ती है। तभी विश्व भारती बनाया जाता है। एक नयी शिक्षा की व्यवस्था शुरू होती है।

वो शिक्षा व्यवस्था जो बँधी हुई है, बन्द है दीवारों में, जहाँ खुली हवा का कहीं कोई द्वार नहीं। जहाँ गीत नहीं है, संगीत नहीं है। हर दरवाजे को बन्द करो, नहीं तो कड़ी सजा मिलेगी और वहाँ से खुलकर 'अचलायतल' जब टूटता है तो शिक्षा का नया द्वार खुलता है। सचमुच वो परिकल्पना जहाँ पृथ्वी एक हो जाती है, सारी कलाओं का समाहार हो जाता है, नये तरीके की नृत्य-शैलियाँ धीरे-धीरे खुलने लगती हैं, रचित होने लगती हैं। साथ ही साथ 'ओ साखो' नृत्य के थियेटर का मुक्त द्वार खुलता है।

रवीन्द्रनाथ हमेशा अपने सांस्कृतिक परिवेश में बेड़े को तोड़ देने की कोशिश करते थे। बेड़ा, बन्द दीवारों को तोड़कर खुला आसमान, खुले पेड़, हरी दूब और उसके नीचे आते हुए बच्चे और पढ़ते हुए बच्चे। क्या पढ़ते हुए-जीवन की शिक्षा लेते हुए। उन्होंने पूरा जीवनोन्मुखी साहित्य लिखा था। जीवन को तार-तार से समझने वाला साहित्य, वो एक ऐसा प्रेम

जो प्रकृति से जुड़ता है, सारे मानवीय प्रेम से जुड़ता है। उन्होंने प्रेम की तहें, विचित्र रूप से अपने सारे साहित्य में बिछा दी थीं और उनको जोड़ दिया था संगीत की लिपि से। कहानी हो, उपन्यास हो, नाटक हो, पत्र हो, संस्मरण हो, कविता हो; कौन-सा सूत्र उनका छूटा है। कहीं कबीर से खोलते, कहीं विद्यापति की रसीली गलियों से कुछ निचोड़ कर लाते और कहीं कालिदास से प्रभावित होते। उनकी सांस्कृतिक चेतना व्यापक चेतना थी। यदि हमारा आज का तरुण वर्ग उसे समझ पाये, ले पाये तो वो कभी अपने को बेचैन नहीं पायेगा, अपने को अस्थिर नहीं पायेगा, अपने को बीच मँझधार में डूबता हुआ भी नहीं पायेगा। ये वो सांस्कृतिक चेतना है जो हमेशा सकारात्मक गलियों की तरफ ले जाती है, जो सच है, मानवीय है। रवीन्द्रनाथ की राजनैतिक चेतना मानवीयता पर टिकी थी। उसका शेष कभी नहीं होगा। उसका अन्त कभी नहीं होगा।

क्रान्ति क्या है, देश क्या है, प्रेम क्या है, देश का अर्थ क्या है, राष्ट्रीय चेतना क्या है...?? मैंने फिर से टैगोर की 'चार अध्याय' पढ़कर समझने की कोशिश की। सारा देश जब धीरे-धीरे नीचे धँसने लगा, तब समझ में आता है कि दिखावे के लिए किया गया देशप्रेम कभी देशप्रेम नहीं होता। ये टैगोर का कहना है। देशप्रेम मिट्टी की बू से आता है, वहाँ के लोगों के पसीने की- दुर्गन्ध जिसे हम कहते हैं- उस सुगन्ध से आता है, मीठी-मीठी मिट्टी की सुगन्ध से आता है, बारिश से आता है, बादलों से आता है, खेत से आता है, आसपास के रहने वाले लोगों के संस्पर्श से आता है, उनके सुख-दुख के साथी बनकर आता है।

यही है। देशप्रेम-देशप्रेम कहने से देशप्रेम नहीं होता। नहीं तो धीरे-धीरे वो मिट्टी उबल कर बाहर आने लगेगी और हम खोखले के खोखले, थोथे के थोथे रह जायेंगे। 'चार अध्याय' की ये पंक्तियाँ मुझे भी आज उस नये जीवन का असर देती हैं जिसमें मैं निकलकर अपनी संस्कृति, अपनी सृष्टि में डूबना चाहती हूँ। ये थे रवीन्द्रनाथ, ये थी उनकी सांस्कृतिक चेतना के स्वर, जो मानवीय पहलुओं का दर्शन कराते। आप उनके साहित्य के पन्ने दर पन्ने उतरते जायें तो सार्थक जवाब आपको मिलते रहेंगे।

कहानी हो, उपन्यास हो, नाटक हो, पत्र हो, संस्मरण हो, कविता हो, कौन-सा सूत्र टैगोर से छूटा है! वे कहीं कबीर को खंगालते, कहीं विद्यापति की रसीली गलियों से कुछ निचोड़ कर लाते और कहीं कालिदास से प्रभावित होते। उनकी सांस्कृतिक चेतना व्यापक चेतना थी।

वो ऐसा व्यक्ति था जो अपने आप जन्मता, अपने आप मरता, अपनी सृष्टि करता, अपनी सृष्टि को निचोड़ता, अपनी सृष्टि को खत्म करता। उनके लिखे हुए पन्नों को देखिए और उनके मिटाये हुए चित्रों को देखिए, वो अपने आप में एक और चित्रकला बन जाती है। चित्रकला कला भवन की हो या संगीत भवन का संगीत हो, ये सारे के सारे सपने उनके बुने हुए थे, विश्व भारती के निर्माण में। ऐसा सपना जो सारे भारतवर्ष को शिक्षा का एक नया दौर दे सकता था, नया तरीका दे सकता था। पर दुर्भाग्य तो हमारा ही है, कि हम अछूते रह जाते हैं। हम नहीं ले पाते। हम उसी शिक्षा प्रणाली में डूब जाते हैं जो हमें अंग्रेज विरासत में दे गये थे- किताबी शिक्षा, पढ़ने वाली शिक्षा। नालेज वाली शिक्षा न पाकर हम ज़िन्दगी से संस्पर्श रखने वाली शिक्षा से बिल्कुल दूर हट गये और इसीलिए आज हमारा जो सामाजिक-राजनैतिक ढाँचा है, हमारी जो दीवारें हैं, वो बदल नहीं पाती। चूने की पोताई से उनकी दीवारें बदली जाती हैं, रंगी जाती हैं। हम शिक्षा का, संस्कृति का स्ट्रक्चर आज भी तोड़ नहीं पाये। हम अछूते रह गये। दुर्भाग्य हमारा था।

मैं दो वर्ष पहले की बात बताती हूँ। मुझे 'विश्व भारती' में स्कॉलर इन रेजीडेन्ट की पदवी से विभूषित किया गया। मैं वहाँ दो साल थी। करीब से मैंने पढ़ते हुए बच्चों को देखा, उनके पढ़ने के तरीकों को देखा, खुले हुए वृक्ष के नीचे उनका पाठ देखा, उनकी आरती देखी। उनका नाटक के प्रति अगाध प्रेम कि नाटक देखते-देखते बिना करतल ध्वनि के उनके साधुवाद को 'साधु-साधु' करते हुए उनकी प्रतिक्रिया को देखा। पूरे परिवेश को देखा। दक्षिण से आए हुए कुचिपुड़ी, भरतनाट्यम, मणिपुरी के तमाम, जितने भी तरह की हमारी कला/नृत्य की शैलियाँ होती हैं, वो सब सिखायी जाती हैं। केवल रवीन्द्र संगीत नहीं, शास्त्रीय से लेकर लोक तक हर तरह का संगीत। कला का कोई क्षेत्र छूट नहीं पाता।

मैं ज़िन्दगी के अपने इस पड़ाव में जब 'पाठ भवन' के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ते देखती, गुरु पढ़ा रही थी और साथ-साथ उनकी शारीरिक गतियों का संचालन कर रही थी। तो मैंने एक अजीब-सी ठण्डक अपने भीतर महसूस की। वो हमेशा पूछते, 'आप फिर

कब आयेंगे? आप जल्दी आइयेगा। आप हमें सिखाइयेगा।' इस तरह से देखते-देखते उस साहचर्य से मेरे और उनके भीतर खत्म हुआ।

मैंने थियेटर कितने ही दिनों तक किया, लेकिन डर लगा रहा कि कभी रवीन्द्रनाथ का नाटक नहीं किया। डर कहाँ से आया? ये आतंक कहाँ से आया? थियेटर के शुरूआती दौर में किसी ने कहा कि आप बहुत अच्छा अनुवाद करती हैं, आप 'शेष रक्षा' नाटक का अनुवाद कीजिए। मैंने अनुवाद करके उसे शान्तिनिकेतन में भेज दिया। उसके बाद दो महीने, तीन महीने, चार महीने, कोई खबर नहीं आयी। फिर पता चला कि आपका 'शेष रक्षा' शान्तिनिकेतन से पास नहीं हुआ। उन्होंने आपको इस नाटक को करने की अनुमति नहीं दी। मैंने पूछा, क्या कमी रह गयी थी? पता चला कि मेरा सारा का सारा अनुवाद हिन्दुस्तानी में था, उस भाषा में था जिसमें हम थियेटर करते हैं। गीतों की संरचना उस भाषा में थी जो हमारी थियेटर की भाषा है। कभी आगे जाकर हबीब तनवीर ने ही मुझे साधुवाद दिया, जब मैंने 'विसर्जन' का अनुवाद करके पहली बार उनके सामने पढ़ा।

मुझे लगता है कि यदि सचमुच रवीन्द्रनाथ के नाटक हम करना चाहें तो उनका सही अनुवाद होना चाहिए। उस पर गवेषणा होनी चाहिए, उस पर खोज होनी चाहिए, उसके नये मूल्य निकालने चाहिए, उसका नया आविष्कार करना चाहिए। समकालीन हैं, लेकिन आज के तमाम तरुण वर्ग से उसे जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए। मुझे लगता है तभी हम रवीन्द्रनाथ के नाटकों को समझ पायेंगे और तभी हम उनको करने की स्थिति में रहेंगे।

थियेटर पढ़ने वाले और करने वाले जितने भी बच्चे हैं, मुझे नहीं लगता कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ को हिन्दी में पढ़ा होगा। पढ़ने के लिए भाषा चाहिए। वो भाषा जो हम समझ सकें, वो भाषा जिससे हम थियेटर को आगे ले जा सकें, वो भाषा जो हमें समझ में आये। अनुवाद की किताबें अलमारी में सजाने के लिए नहीं होतीं। आप विदेश जाइए, सारे लोगों की अलमारियों में एक से बढ़कर एक, सारी किताबें सजी रहेंगी, गर्द जमती रहेगी। वो उसे खोलकर कब देखते हैं, कब पढ़ते हैं, पता नहीं।

वैसे ही अन्य भाषाओं में रवीन्द्रनाथ को, उनकी सांस्कृतिक चेतना को, उनकी शिक्षा प्रणाली को, उनके साहित्य को हम कैसे जानते हैं? अंग्रेजी के अनुवादों से। अंग्रेजी के अनुवादों से वह हिन्दी में आता है, फिर दूसरी भाषाओं में आता है- और ये सही-सही अनुवाद नहीं होगा। मैंने कई बार कहा है कि आप अपने देश के कवियों को बुलाइये। राजेश जी को बुलाइये, नीलाभ जी को बुलाइये। इनको बुलाकर इनसे नाटकों का अनुवाद कराइये। इनकी भाषा में तरलता है। इनकी भाषा व्यक्त करने की वो शब्दावली है जिसकी थियेटर ही क्यों, थियेटर करने वालों को जरूरत होती है। लेकिन हमारे सारे के सारे मनसूबे धरे के धरे रह जाते हैं। हमें फिर थियेटर का अनुवाद अपने आप करना पड़ता है।

रवीन्द्रनाथ जन-जन तक जब तक पहुँचेंगे नहीं- हिन्दीभाषी क्या, दक्षिण भारत हो, उत्तर भारत हो, हमारा पूरा पूर्वी इलाका हो, लोग पढ़ नहीं पायेंगे, जान नहीं पायेंगे, समझ नहीं पायेंगे। उनकी शिक्षा प्रणाली, उनकी सांस्कृतिक चेतना, उनकी वो व्यापक दृष्टि पूर्व हो या पश्चिम की हो सारी पृथ्वी को समेटकर- इस तरह का खिताब, नोबल पुरस्कार प्राप्त करके, नाइटहुड की पदवी त्याग करके कहाँ मिलेगा उन्हें ये सच? किस तरह से वो जानेंगे इस सच की परिभाषा को और सच्चाई को? कौन देगा उन्हें ये सच? थियेटर को पनपने के लिए वो अनुवाद चाहिए, वो पहुँच चाहिए। हमारे देश के महापंडित, थियेटर के एक गुरु ने कहा कि 'रवीन्द्रनाथ के नाटक तो नाटक ही नहीं हैं।' क्योंकि उन्होंने अंग्रेजी से रवीन्द्रनाथ को समझने की कोशिश की थी।

हमारे देश में एक नयी व्याख्या रवीन्द्रनाथ के नाटकों के साथ शुरू हुई थी शम्भू मित्र से। शम्भू मित्र ने 'रक्तकर्मी' और 'राजा' एक साथ शुरू किया। उपन्यास 'चार अध्याय' को उन्होंने नाट्य रूप देकर किया। तृप्ति मित्र का वो 'रक्तकर्मिका', 'अभिनय' या 'राजा' में शम्भू मित्र स्वयं, 'चार अध्याय' में शम्भू मित्र और तृप्ति मित्र। पूरा का पूरा बंगाल एक नये थियेटर को महसूस करने लगा। शायद नये बच्चों ने नाम सुने होंगे कि नहीं! ये दो सर्वस्व थे। बंगाल के नहीं, सारे हिन्दुस्तान के- शम्भू मित्र और तृप्ति मित्र। उनके दल का नाम था- 'बहुरूपी'। उन्होंने सबसे पहले रवीन्द्रनाथ को व्याख्या देकर, नयी सरसता देकर, नया मान देकर पुनराविष्कार करने वाला टेक्स्ट देकर एक के बाद एक नाटक किये। लोगों की आँखे खुलने लगीं, जो कहते थे कि रवीन्द्रनाथ के नाटक खेले नहीं जाते। शुरू-शुरू में चन्द लोग ही रहते थे, उसके बाद तो भीड़ पर भीड़ उमड़ने लगी नाटकों को

देखने के लिए और लोगों के पास रवीन्द्रनाथ के नाटक पहुँचने लगे।

ये वो सिलसिला था जब रवीन्द्रनाथ के नाटक सफलता के साथ खेलने की शुरूआत हिन्दुस्तान में बंगाल से हुई थी। उसके बाद तो कहीं कुछ नहीं। बंगाल से लेकर! एक बार मुझे याद आता है कि केन्द्रीय सरकार ने शम्भू मित्र से कहा था कि जितने भी रवीन्द्र सदन बने हैं, इनमें कहीं कोई सही तरीके से थियेटर नहीं कर पा रहा। शम्भू मित्र सारे रवीन्द्र सदन की परिक्रमा करने के लिए निकले। सबसे पहले पहुँचे पणिक्कर साहब के पास। रवीन्द्र सदन देखने के बाद रात भर दोनों ने मिलकर 'राजा' नाटक को पढ़ा। बस फिर क्या था, पणिक्कर के दिमाग में वो कीड़ा घुस गया और बहुत वर्षों बाद उन्होंने 'राजा' को बैक चैम्बर के हिसाब से कुचिपुड़ी में करने की स्थिति पैदा की। फिर मैंने खुद पणिक्कर साहब के उस नाटक को देखा।

पूर्व से लेकर दक्षिण तक सफर करता है रवीन्द्रनाथ का यह दौर। एक के बाद एक। उनका 'घर-बाहर', सुषमा देशपाण्डे और तृप्ति मित्र ने उसका अनुवाद किया। 'डाकघर' को करने के साथ बंगाल में पूरी नयी चेतना आयी। मैं एक नाटक के बारे में बताना चाहती हूँ जिसमें हमारे साथ हबीब तनवीर का ज़िक्र भी आता है।

रवीन्द्रनाथ का एक नाटक है, लोग कहते हैं कि वो शापग्रस्त नाटक है, वो जब स्वयं रवीन्द्रनाथ ने दो बार खेला था तो सफल नहीं हो पाये। वो नाटक था- 'विसर्जन'। उत्पल दत्त ने 'विसर्जन' नाटक किया, सफल नहीं हो पाये। उसके बाद विभाष चक्रवर्ती ने किया। वह खुद कहने लगे कि, 'नहीं, नाटक मुझसे हुआ नहीं'। हमारे तरुण रंगकर्मी सुमन मुखर्जी जो एक नयी भाषा का आविष्कार करते हैं, नये थियेटर की जद्दोजहद से, नया थियेटर लाने की कोशिश लगातार कर रहे हैं अपनी प्रस्तुतियों से। उन्होंने जब 'विसर्जन' करने की कोशिश की, मैंने खुद देखा, वह 'विर्सजन' या तो समझ नहीं पाये या चमत्कारिक विधा में ऐसे खोये कि 'विसर्जन' का मूल सूत्र नहीं बन पाया।

अगस्त का महीना था, मोनिका दी (हबीब तनवीर की पत्नी) का निधन हो चुका था। हबीब साहब ने मुझे फोन किया कि, ''मोनिका जी के सामने बात हो रही थी 'बहादुर कलारिन' की, लेकिन मैं 'विसर्जन' करना चाहता हूँ। तुम 'विसर्जन' का अनुवाद शुरू करो।'' कलकत्ते आये, एक-डेढ़ महीने रहे, उनका पूरा दल और हमारा दल रहा, हम लोगों ने 'विसर्जन' किया। करते-करते मैं देखती कि वो कभी आनन्दित होते आगे जाते, कभी कुण्ठित होते पीछे जाते। कोई चीज़ उन्हें बराबर परेशान कर रही थी। संगीत हो या टेक्स्ट हो। उनको टेक्स्ट बहुत पसन्द आया। टेक्स्ट को उन्होंने पहली बार पढ़ा तो कहा- 'हाँ, ये थियेटर का टेक्स्ट है'। पहली बार! लेकिन वो प्रयोजना के स्तर पर मैं कह रही हूँ- ग्रेट सेल्यूट दैट ग्रेट पर्सनेल्टी हबीब तनवीर- उन्होंने भरी प्रेस कान्फ्रेन्स में कहा, 'मैंने विसर्जन करने की कोशिश की, लेकिन मैं कर नहीं पाया।' ऐसी होती हैं महान थियेटर की हस्तियाँ, जो भरे सामाजिक परिवेश में स्वीकार करते हैं कि हमने कोशिश की, लेकिन हम कर नहीं पाये।

बन्दिशें न लगायें। बन्दिशों से अब मन घुटने लगा है। यदि किसी को लिखा हुआ नाटक 'रक्तकरबी' करने की इच्छा नहीं होती है तो उसे शम्भू मित्र की तरह 'स्त्री का पत्र' करने दीजिए, उसे 'जीवित मृत्यु' कहानी करने दीजिए और रवीन्द्रनाथ की लिखी हुई 'शिशिर' कविता जैसी प्रस्तुति करने दीजिए। आज लेखक यह सवाल छोड़ देता है कि जो नाटक हमने लिखा है वही हो। लिखा हुआ नाटक अगर झिंझोड़ता नही है तो हम खुद लिखकर नाटक करेंगे। हम कहानी पर आश्रित न रहेंगे, हम उपन्यास को लेंगे, हम यात्रा को लेंगे, संस्मरण को लेंगे और हम कविताओं को लेकर नाटक करेंगे।

रवीन्द्रनाथ का नाटक 'विसर्जन' शायद ऐसा ही नाटक था, जो शायद किसी वजह से हो सकता है, कई लोग कहते हैं कि उसके टेक्स्ट में दुर्बलता है। उसके टेक्स्ट में कोई कमी है जिससे हर बार कोई उसे पकड़कर भी पकड़ नहीं पाता। धीरे-धीरे हम देखते हैं कि सारे देश में रवीन्द्रनाथ के नाटकों को खेलने का सिलसिला शुरू हो जाता है। दक्षिण में 'राजा' होता है, उसके बाद भरूल इस्लाम थियेटर के अंश में कहानी को लेकर चर्चा करते हैं, सीमा विश्वास 'स्त्री का पत्र' करती है, अनुराधा कपूर 'जीवित-मृत्यु' करती है।

भोपाल यात्रा के दौरान मीडिया के कई भाई मेरे पास आये थे, उन्होंने सवाल पूछा कि- मैडम, थियेटर में पहले लिखा हुआ मूल नाटक न करके लोग कहानी और उपन्यास पर थियेटर क्यों करते हैं? तो मैंने यही

जवाब दिया कि बन्दिशें न लगायें। बन्दिशों से अब मन घुटने लगा है। यदि किसी को लिखा हुआ नाटक 'रक्तकरबी' करने की इच्छा नहीं होती है तो उसे शम्भू मित्र की तरह 'चार अध्याय' नाट्य रूप देकर करने दीजिए, उसे 'स्त्री का पत्र' करने दीजिए, उसे 'जीवित मृत्यु' कहानी करने दीजिए और रवीन्द्रनाथ की लिखी हुई 'शिशिर' कविता जैसी प्रस्तुति करने दीजिए।

आज लेखक यह सवाल छोड़ देता है कि जो नाटक हमने लिखा है वही हो। हम कहते हैं इसी सन्दर्भ में कि हमें इस वक्त यानी लिखा हुआ नाटक अगर झिंझोड़ता नहीं है तो हम खुद लिखकर नाटक करेंगे। हम न कहानी पर आश्रित रहेंगे, हम उपन्यास को लेंगे, हम यात्रा को लेंगे, संस्मरण को लेंगे और हम कविताओं को लेकर नाटक करेंगे। हमें लगता है कि हमारे इमेजिनेटिव पैटर्न में यदि कोई चीज़ हमारे भीतर कुलबुलाहट पैदा कर रही है तो हम कविता को लेकर नाटक करें। बन्दिशें न लगायें।

मैंने पहले बताया था कि अनामिका ने 'घर बाहर' किया। हिन्दी थियेटर कोई नहीं कर रहा था और मुझे डर बैठा हुआ था, मेरे दल को बैठा हुआ था कि हम हिन्दी भाषी थियेटर का दल होते हुए रवीन्द्रनाथ का नाटक छुएँ तो कैसे छुएँ? और उसके बाद एक साथ रवीन्द्रनाथ के नाटक हुए– 'श्यामा उड़ाल', 'चण्डालिका' और 'मानुषी'। प्रतिमान बदल गये, प्रतिबिम्ब बदल गये, भाषा बदल गयी, घृणा की जगह घिन आ गया, वो भाषा बनी जिससे कम्युनिकेशन होता है। मैंने सोचा, लोग मुझे दुरदुरायें, गरियायें, लेकिन मैं इस 'चण्डालिका' में रवीन्द्रनाथ का लिखा हुआ कोई गीत नहीं रखूँगी। बिना गीत लिए हुए मैंने 'चण्डालिका' का प्रदर्शन किया और वो दर्शकों तक पहुँचा। एक बहुत बड़ा हिन्दी थियेटर 'चण्डालिका' बना जिसमें कहीं कोई गीत का प्रयोग नहीं है। प्रतिमानों से, प्रतिबिम्बों से, संगीत से, जीवन संगीत से हम 'चण्डालिका' कर रहे हैं। वही चण्डालिका कहती है– 'इस बार मैं एक इंसान हूँ और एक पूरा इंसान बनने की कोशिश मुझे करनी पड़ेगी।'

तो मानवीयता के पहलू को रवीन्द्रनाथ बार–बार छूते हैं और उससे दशकों तक विभिन्न तरीके से रसीला संस्पर्श हमारा करवाते हैं। 'मानुषी' में भी वही बात है कि छः लड़कियाँ एक नाटक ढूँढ रही हैं। छः लड़कियों का नाटक– आजकल की आधुनिक लड़कियों की त्रासदी, थियेटर करने वाली लड़कियों की त्रासदी और वो छः लड़कियाँ मिलकर रवीन्द्रनाथ के नाटकों को खोजती हैं। कौन–सा करें– 'चार अध्याय' करें या 'राजा' करें और खोजते–खोजते रवीन्द्रनाथ के बारे में जानती रहती हैं और वो नाटक अन्त में उन्हें सही दिशा देता है। मुझे ऐसा लगता है कि रवीन्द्रनाथ के नाटकों को करने के लिए पूरे देश में उत्साह जाग गया है। आसाम हो या बंगाल, राजस्थान हो या मध्यप्रदेश हर सूबा रवीन्द्रनाथ की लहर में है। खासकर उनकी कहानियाँ।

ऐसे समय में मुझे लगता है कि यदि सचमुच रवीन्द्रनाथ के नाटक हम करना चाहें तो उनका सही अनुवाद होना चाहिए। उस पर गवेषणा होनी चाहिए, उस पर खोज होनी चाहिए, उसके नये मूल्य निकालने चाहिए, उसका नया आविष्कार करना चाहिए। समकालीन हैं, लेकिन आज के तमाम तरुण वर्ग से उसे जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए। मुझे लगता है तभी हम रवीन्द्रनाथ के नाटकों को समझ पायेंगे और तभी हम उनको करने की स्थिति में रहेंगे।

मैंने रवीन्द्रनाथ के बहुत सारे नाटक देखे, कुछ नहीं देखे कुछ की नृत्य प्रस्तुतियाँ देखीं, कुछ नहीं देखीं। कन्हाईलाल जिनको पिछले वर्ष आपने कालिदास सम्मान से नवाजा है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ का एक नाटक किया था 'डाकघर'। जिसको बहुत सारे निर्देशकों ने किया था। तृप्ति मित्र ने डायरेक्ट किया था,

बादल और टैगोर का 'रक्तकरबी'

भारतवर्ष में रवीन्द्रनाथ के नाटकों को लेकर हमने देखा है कि एक के बाद एक– शम्भू मित्र के बाद– एक 'रक्तकरबी' नाटक है जो सारे देश में खेला गया, विभिन्न भाषाओं में खेला गया। बंगाल में तो हर युवा निर्देशक ने, हर सीनियर निर्देशक ने इस नाटक को खेला। लेकिन मैं ख़ासतौर पर एक प्रस्तुति की चर्चा करना चाहूँगी, वो है– खुले मैदान में धूल से सने पैरों को लेकर, गले में गेंदे की माला पहनकर, सूती वस्त्र धारण करके बादल सरकार का 'रक्तकरबी'। बादल सरकार का अपनी शैली में किया गया खुले मंच का वो नाटक जिस दिन मैंने देखा था तो मुझे लगा कि मैंने ऐसा 'रक्तकरबी' कहीं नहीं देखा।

इतने दलों के नाटक देखे, लेकिन ऐसा नहीं लगा और मुझे लगा कि कहीं रवीन्द्रनाथ अगर ऊपर आसमान से देख रहे होंगे तो उन्हें बहुत अच्छा लगेगा कि आज किसी ने बेड़े को तोड़ा है, बाँध को तोड़ा है और दर्शक एवं कलाकार को एक किया है। ये परितृप्ति मुझे मिली थी बादल सरकार के 'रक्तकरबी' को लेकर।

सुषमा जी ने डायरेक्ट किया था, महाराष्ट्र में सुनील शानबाग में उसको निर्देशित किया। लेकिन कन्हाईलाल के 'डाकघर', को देखकर, पर्दा जब उठता है तो आप सत्तर वर्षीय सावित्री को नौ वर्ष के अमल की तरह हवा में खेलते हुए, गेंद से, शारीरिक प्रतिक्रियाओं से अमल की भूमिका करते हुए जब देखते हैं तो ऐसा लगता है कि ये नाटक कभी कविता बनती है, कविता कभी नाटक बनता है, बिम्ब पर बिम्ब, नये प्रतिमान और संगीत की वो प्रखर तेज आलाप की ध्वनि आपके मन को धीरे-धीरे सहलाती जाती है और आपको सावित्री जी के अभिनय को देखकर चमत्कृत करती जाती है।

मुझे लगता है कि रवीन्द्रनाथ के नाटकों को यदि हम कर सकें तो इसी तरह से नये संस्करण से, नये आविष्कार से, नये अभिनय की गति से करना होगा।

रवीन्द्रनाथ ने जो नाटक लिखे, वो हमारी ज़मीन के नाटक थे, वो नैरेटिव्स के नाटक थे, वो प्रतीकात्मक नाटक थे, वो देश-काल, समाज, राजनीति के नाटक थे, वो मानवीयता के नाटक थे, मानवीय पहलुओं को उभारने वाले नाटक थे। यंत्र की कठोर भृर्त्सना करके रक्त पर भी लिखा, बाँध की समस्या को मुक्त करने वाली मुक्तधारा लिखा गया। अँधेरे से उजाले में आने का नाटक है 'राजा' और उसी तरह से हमारे देश की बँधी हुई परिपाटी से रक्तपात, बलि, इन सबकी अवज्ञा करके एक नया रास्ता देने वाला नाटक है 'विसर्जन', या साथ ही साथ 'श्यामा' हो, 'चण्डालिका' हो, 'तपस्विनी' हो या दूसरे तरह के नाटक हो- 'शेष रक्षा' हो, 'शेष प्रश्न' हो, हास्य प्रहसन से भरे नाटक हैं।

बंगाल ने भी नहीं शुरू किया था इन नाटकों को करना, हम दूसरे देशों की बात क्या कहें। पूरा का पूरा व्यावसायिक मंच, जो गिरीश घोष का था, उसमें कुछ हँसी के नाटक और कुछ उपन्यासों का अनुवाद करके नाटक शुरू हुए थे हमारे देश में। रवीन्द्रनाथ खुद नाटक किया करते थे। भाग लेते थे। घर-परिवार वालों से नाटक अभिनीत करवाते थे। खुले मंच पर नाटक होते थे। नाटक में कहीं कोई बेड़े नहीं थे। नाटक में कहीं कोई दीवारें नहीं थीं। आमने-सामने दर्शक और कलाकार तारों से बँधकर नाटकों से जुड़ता था। रवीन्द्रनाथ चले गये, अँधेरा छा गया। व्यावसायिक मंच ने कोई नाटक नहीं किया।

● राजाराम भादू

प्रतिरोध का रंगमंच

नुक्कड़ नाटक से जुड़ा रंगकर्मी मानता है कि अगर साम्प्रदायिक सौहार्द, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नाटक किये जाते हैं तो इसमें बुराई क्या है! ये सभी या तो अहम राष्ट्रीय सरोकार हैं अथवा प्रमुख सामाजिक मुद्दे। इन्हें लेकर लोगों में चेतना और जागरूकता पैदा करना भी कम जरूरी काम नहीं है।

अमेरिका में दशकों पूर्व नीग्रो कहे जाने वाले लोगों ने 'स्ट्रीट थियेटर' को जन्म दिया। उस समय काले लोग अमेरिका में दूसरे दर्जे का जीवन जीते थे। उनकी हालत हमारे देश में दलितों जैसी थी बल्कि कई मायनों में तो इससे भी बदतर। मसलन इन्हें कभी अमेरिकियों ने अपने देश का नागरिक नहीं समझा बल्कि वे इन्हें बराबर दास ही समझना चाहते थे। इस सबके पीछे इनकी गलती सिर्फ यह थी कि ये लोग काले थे। और यह रंग उन्हें कुदरत ने प्रदान किया था।

जब मार्टिन लूथर किंग ने नीग्रो लोगों के समान नागरिक अधिकारों की बात उठायी तो इसकी अभिव्यक्ति सांस्कृतिक प्रतिरोध में भी हुई और इसी का परिणाम था 'स्ट्रीट थियेटर'! परम्परागत वैभवशाली रंगमंच तो अमेरिकी अभिजात्य के लिए सुरक्षित थे। वहाँ काले लोगों का प्रवेश पूरी तरह वर्जित था। तो नीग्रो युवा कलाकारों ने सड़कों-गलियों को चुना। इस तरह यह रंगमंच अपने जन्म की प्रकृति से ही प्रतिरोध का रंगमंच था। बाद में समूचे यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में इस सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के माध्यम को चुना गया। यहीं इसे 'एजिट प्रोप' का नाम मिला जो इसे विरोधियों ने दिया। वे इसे कला का दर्जा भला कैसे दे सकते थे, अतः स्वाभाविक ही है कि उन्होंने इसे 'प्रचार का रंगमंच' अर्थात् एजीटेशन प्रोपेगेन्डा कहा। लेकिन यहाँ भी यह अपने तमाम प्रचार-तत्व के बावजूद 'थियेटर' बना रहा और यहीं से रंगमंच में नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

ब्रेख्त ने रंगमंच को जो नयी शैली और अभिव्यक्ति दी, उसकी आधारभूत धारणाओंके निर्माण में प्रतिरोध के रंगमंच का बहुत बड़ा योगदान है। मंचीय रुढ़ियों से नाटक की मुक्ति मनुष्य के मुक्ति-संघर्ष से गहरे रिश्ते के कारण ही संभव हुई। खामोश सड़कें ठण्डी और कठोर होती हैं, वहाँ किसी छद्म आकषर्ण के लिए कोई गुंजाइश कहाँ है!

हमारे देश में आज के नुक्कड़ नाटक की जड़ें संस्कृतिकाल से ही लोक के खुले रंगमंच से जुड़ी हैं। देश की विभिन्न भाषा-भाषी सांस्कृतिक धाराओं में हम इसके सूत्र ढूंढ सकते हैं। अकेले हिन्दी क्षेत्र में लोक-रंगमंच की अनेक विधाएँ हैं। लेकिन नुक्कड़ नाटक बृज की जिस लोक-विधा के सबसे ज्यादा नजदीक पड़ता है वह है स्वांग। स्वांग की प्रकृति नाटक के उस रूप से बहुत मिलती-जुलती है जिसे हम प्रहसन कहते हैं। रामलीला या रासलीला के मध्य में जब कलाकार थोड़ा विश्राम या आगे के दृश्यों की तैयारी करते थे तो वे मंच स्थानीय कलाकारों को सौंप देते थे। ये स्थानीय कलाकार किसी भी स्थानीय कथानक को नाट्यरूप में प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रस्तुति में या तो हास्य होता या हल्का सा कटाक्ष। यह कटाक्ष ऐसे किसी प्रभावशाली व्यक्ति पर होता था जिसके विरोध में सामान्यत: वैसे कुछ कह सकना संभव नहीं होता था।

यह मध्यान्तर का रंगमंच जो खाली बैठे दर्शकों को बांधे रखने के विकल्प के तौर पर उभरा था। एक भरी-पूरी लोकविधा बन गया। साथ ही, यह परंपरागत रंगमंच से नये रंगमंच का जीवंत रिश्ता भी था क्योंकि स्वांग का कोई बना-बनाया कथानक नहीं था। वह तो स्वांग करने वालों की सामूहिक योजना के आधार पर जन्म लेता था।

नुक्कड़ नाटक से जुड़ा रंगकर्मी मानता है कि अगर साम्प्रदायिक सौहार्द, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नाटक किये जाते हैं तो इस में बुराई क्या है! ये सभी या तो अहम राष्ट्रीय सरोकार है अथवा प्रमुख सामाजिक मुद्दे, इन्हें लेकर लोगों में चेतना और जागरूकता पैदा करना भी कम जरूरी काम नहीं है। वह उसे 'चेतना का रंगमंच' मानता है।

आधुनिक रंगमंच के समानान्तर यदि हम नुक्कड़ नाटक की पृष्ठभूमि को देखें तो वहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक मील का पत्थर हैं। उनका नाटक 'अंधेर नगरी' एक नयी तरह के रंगमंच का सूत्रपात करता है। जहाँ पुराना सब कुछ नये अर्थ लिये हुए है और लोक का फलक देश के बुनियादी संघर्ष तक विस्तारित है। हमारे नुक्कड़ नाटकों ने अपना सम्बन्ध भारतेन्दु की इस परम्परा से मूल रूप में जोड़ा है। भारतेन्दु में वह सब कुछ मौजूद है जिसे नुक्कड़ नाटक में विकसित किया जा सकता है। हमारे यहाँ भी नुक्कड़ नाटकों का पहला दौर प्रतिरोध के रंगमंच का ही रहा है। आपातकाल में ही नुक्कड़ नाटक ने सत्ता का विरोध शुरू कर दिया था। पंजाब में गुरुशरणसिंह के नुक्कड़ नाटक और नक्सलवादी आन्दोलन से सम्बद्ध नाटकों की यही भूमिका रही है। उन नाटकों के सीधे सरोकार राजनीतिक थे।

फिर नुक्कड़ नाटकों ने कुछ वृहद आयाम ग्रहण किया। विभिन्न श्रमिक-संगठनों के धरने व प्रदर्शनों में नुक्कड़ नाटकों ने एक प्रभावशाली माध्यम का रूप अख्तियार किया। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी अंचलों में जंगल बचाने और शराब ठेकों के विरोध में महत्वपूर्ण नुक्कड़ नाटक खेले गये। लेकिन उल्लेखनीय है कि यहाँ भी इन नाटकों की प्रकृति मूलत: व्यवस्था विरोध की ही थी। बाद में, राजनीतिक नाटक करते हुए ही। सफ़दर हाशमी की एक हमले के कारण मृत्यु हुई। नुक्कड़ नाटक की यहाँ तक की यात्रा को एक चरण कहा जा सकता है, जहाँ वह प्रतिरोध की भूमिका निभाता है।

इसके बाद हम नुक्कड़ नाटक के चरित्र में एक बुनियादी परिवर्तन होता देखते हैं। चाहे इसके जो भी कारण रहे हों। एक तरफ तो सरकार की सांस्कृतिक संस्थाएँ नुक्कड़ नाटक को अपना लेती हैं। अभी तक पुलिस और प्रशासन नुक्कड़ नाटक खेलने पर पाबंदियाँ लगाता रहा था। कई जगह तो रंगकर्मियों को पुलिस दमन तक झेलना पड़ा था। दूसरी ओर नुक्कड़ नाटकों में व्यवस्था विरोध का स्वर धीमा पड़ता चला गया। सफदर हाशमी की स्मृति में गठित संस्था 'सहमत' ने बाद में ज्यादातर नाटक साम्प्रदायिक सौहार्द को लेकर किये। 'सहमत' को केन्द्र-सरकार के संस्कृति मंत्रालय ने आर्थिक मदद देना शुरू कर दिया।

इसी के साथ केन्द्र-सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों के संस्कृति-मंत्रालयों, संस्थाओं और अकादमियों ने ही नहीं बल्कि दूसरे और विभागों ने नुक्कड़ नाटक को अपनी योजनाओं, नीतियों, कार्यक्रमों और संदेशों के प्रचार का माध्यम मान लिया। आज साम्प्रदायिक सद्भाव, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य विषयक अनेक मुद्दों पर नुक्कड़ नाटक करने के लिए सरकारी मदद का प्रावधान है।

सामान्यत: नुक्कड़ नाटक करने वाले अधिकांश रंगकर्मी बेरोज़गार युवा रहे हैं। इनमें भी अधिकांश शौक़िया नाटक मण्डलियों से जुड़ते हैं। ऐसी स्थिति में लम्बे समय तक रंगमंच की इस चुनौतीपूर्ण विधा में इनके लिए टिके रहना कोई आसान बात नहीं है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि ये युवा सरकारी तंत्र से जुड़ें और उसकी मदद से नाटक करें। इसके लिए

सबसे अनुकूल वातावरण दूरदर्शन ने तैयार किया है। चूंकि दूरदर्शन भी एक सरकारी माध्यम है इसके लिए इन नाटकों का प्रसारण यह नियमित करता रहता है। इस तरह अब नुक्कड़ नाटक कलाकार को सिर्फ अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं देता, उसे उपयुक्त मंच और पैसा भी देता है।

नुक्कड़ नाटक से जुड़ा रंगकर्मी मानता है कि अगर साम्प्रदायिक सौहार्द, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नाटक किये जाते हैं तो इस में बुराई क्या है! ये सभी या तो अहम राष्ट्रीय सरोकार है अथवा प्रमुख सामाजिक मुद्दे, इन्हें लेकर लोगों में चेतना और जागरूकता पैदा करना भी कम जरूरी काम नहीं है। वह उसे 'चेतना का रंगमंच' मानता है। वस्तुतः यह अनुप्रयुक्त रंगमंच (एप्लाइड थियेटर) है जिस तरह पेन्टिंग में अनुपयुक्त कला एक अलग अध्ययन शाखा के रूप में विकसित हुई है। पत्रकारिता के व्यावसायिक पाठ्यक्रम चल रहे हैं। साहित्य में सृजनात्मक पाठ्यक्रम चल रहे हैं और विज्ञापन तकनीक की तमाम शाखाएं-प्रशाखाएं फैली हैं। वैसे ही यह रंगमंच का एक नया स्वरूप उभरके सामने आया है।

अनुप्रयुक्त रंगमंच यानी हमारे काम आने वाला थियेटर। यह रंगमंच के परम्परागत शास्त्रीय और लोक-स्वरूप की तुलना में मीडिया के कहीं अधिक नज़दीक है। बल्कि एक तरह से मीडिया का ही एक आयाम-कलात्मक और प्रभावी कारक।

अनुप्रयुक्त रंगमंच के तहत नुक्कड़ नाटक ने एक निश्चित ढांचा अख़्तियार कर लिया है। इसमें नाटक शुरू करने की एक रीति है ताकि देखने के लिए भीड़ जुट जाये। फिर समस्या परिचय की है। किस समस्या के इर्द-गिर्द बुना गया कथानक है। अपनी संरचना और रीतिबद्धता के हिसाब से देखें तो ये नाटक पूर्व के नुक्कड़ नाटकों से कहीं अधिक संगठित है। इनकी प्रस्तुति भी उनसे अधिक तैयारी से की जाती है। कलाकार भी अभिनय में काफी मंजे हुए होते हैं। लेकिन सब कुछ के बावजूद ये वैसा प्रभाव नहीं छोड़ते, आखिर ऐसा क्यों है? इस पर भी विचार करने की जरूरत है।

दूसरे, यह प्रायोजित कार्यक्रम है। यह कलाकारों का अपना सामूहिक आयोजन नहीं है, बल्कि किसी तंत्र के लिए किया जा रहा है। यह जनता से संवाद नहीं है बल्कि उन्हें 'जागरूक' किया जा रहा है। जनता से दो तरफा सम्बन्ध नहीं है, उन्हें संदेश देने का एक तरफा संबंध है, जनता की भूमिका निष्क्रिय है।

अन्ततः पूर्व का नुक्कड़ नाटक समय, समाज और परिस्थिति की सीधी उपज था। प्रस्तुति के हिसाब से उसका दोहराव जरूरत पर आधारित था। इन नाटकों की आकृत्ति के कारण भिन्न है। इसलिए कुछ समय बाद इनकी प्रस्तुति मात्र आनुष्ठानिक होकर रह जाती है। अन्तर्वस्तु और प्रस्तुति के स्तर पर यह बहुत नकली लग सकते हैं। यह स्थिति नुक्कड़ नाटक का मौजूदा मुक़ाम है जो चिंता का विषय है।

● अलखनंदन

रंगमंच पर कविता

कविता और रंगमंच का रिश्ता नालबद्ध है, मतलब चोली–दामन का रिश्ता है। सरल भाषा में कहें तो सूक्ष्म। हमको उसको समझने की ज़रूरत है, दूसरी समझ से। तभी दूसरी चुनौती का सामना कर पायेंगे।

जैसे ये कहा जाये कि कुछ चीजें धार्मिक थीं, उनको शामिल करता हूँ, मायथालाजी को शामिल करता हूँ, साहित्य को शामिल करता हूँ। चाहे ग्रीक में हो, चाहे संस्कृत में हो, लिखा कविता में ही जाता था। सब पद्य में ही लिखा गया है। उसे काव्य ही कहा गया है। संस्कृत में बड़ी आसानी है, बहुत अच्छा विश्लेषण है। एक दृश्य काव्य है और एक श्रव्य काव्य है। लेकिन इस देश का और देश के रंगकर्मियों का, इस देश के परफार्म का कविता से राग कितना रहा है। उन्होंने जितना शकुन्तला को खेला, जितना मृगनयनी को खेला, उससे ज्यादा महाभारत और रामायण खेला। मैं तुलसीदास के रामचरित मानस की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं वाल्मीकि रामायण की बात कर रहा हूँ, जिसमें राम जब लौटेंगे तो जो भोज होगा, तो उसमें कितने प्रकार के मांस परोसे जायेंगे, इसका ज़िक्र है। डिटेल्ड है कि काहे–काहे का मांस परोसा जायेगा। वह संस्कृत काव्य में अब नहीं मिलता है। वो लौकिक काव्य था। महाभारत से तो इतना डरते हैं हमारे हिन्दी प्रदेश के लोग की घर से बाहर रखते हैं उस ग्रंथ को। यह केरल वालों का, कर्नाटक वालों का या छत्तीसगढ़ वालों का जिगरा है, जो महत्वपूर्ण आयोजनों में महाभारत का पाठ करते हैं।

मेरा ये कहना है कि महाभारत और रामायण श्रव्य काव्य होने के बावजूद रंगमंच का हिस्सा हमेशा रहे हैं और एक महाभारत से न जाने कितने–कितने अभिनय सम्पन्न हुए। मैं परफ़ार्म शब्द का इस्तेमाल नहीं करूँगा। कम्युनिकेशन, मीडिया, एक्टिंग, कैरेक्टर ये सब फ़ालतू के शब्द हैं। मैं भारतीय सन्दर्भ में बात करूँगा। कितनी तरह से महाभारत का अभिनय सम्पन्न हुआ। महाभारत में कितनी कथाएं हैं, कितनी उपकथाएँ हैं और ये उस समय काल रूप में था और आज भी काल रूप में है। लीजिए पण्डवानी को। वह किसी भी काल में प्रस्तोता के लिए मेरे ख़्याल से बहुत बढ़िया कलारूप है। जो लोग अभिनय करना चाहते हैं या अभिनय का शौक रखते हैं, उनको पण्डवानी ग़ौर से देखना चाहिए कि उसमें सारे तत्व मौजूद हैं, जिन पर हम आज उलझ रहे हैं। जो भी प्रयत्न आज हो रहे हैं

कला की दुनिया में उसमें सफलता की कोई जगह ही नहीं है। कला पर बात करने के पहले और विज्ञान के बारे में बात करने के पहले दो ही ऐसी विधाएं हैं संसार में, दो ही ऐसे अनुशासन हैं संसार में, जहाँ सफ़लता का सवाल नहीं है। सवाल खोज का है। सवाल प्रक्रिया का है। आज तक कैंसर की माकूल दवा नहीं खोजी जा सकी है। आज तक एड्स की माकूल दवा नहीं खोजी जा सकी है। आप क्या सवाल करेंगे प्रयोगशाला क्यों खोली हैं? यह कला और विज्ञान एक साथ मनुष्य की जिजीविषा है। और दोनों ही बहुत समय लेते हैं। दोनों महान अनुशासन हैं। एक मनुष्य को बचाता है और एक मनुष्य को बचाकर सुन्दर होना सिखाता है।

कविता का शब्द इतना सिद्ध शब्द है कि कविता को रंगमंच के लाख बड़े होने के बाद भी कविता मूल कला मानी जाती है, क्योंकि वो दृश्य, ध्वनि, संगीत सबको समेटकर आती है। उसको बोल देना ही बहुत बड़ा काम होता है। उसको करना बहुत मुश्किल काम है। कविता की शक्ति के सामने रंगमंच, संगीत, नृत्य सब पानी माँगने लगते हैं।

सवाल है कि रंगमंच के लिए इस कविता को क्यों चुना? ग़ालिब कहते हैं कि ''मुल्ला मुझे रोके है तो खैंचे है कौन काबा में मेरे पीछे क़ाजी साहब नजर आये।'' तो आप क्या कर लोगे, एक रस्सी से ईमान ले के खींचोगे कि पीछे से क़ाजी बनकर खींचोगे। हमारे यहाँ महाभारत-रामायण होती रही है। ग्रीक महाकाव्य होते रहे हैं मंच पर। लेकिन इधर जो कविता हुई है। जब से छंद कविता, जो आधुनिक कविता हुई है, उसमें चरित्र नहीं है। वह प्रबन्ध काव्य नहीं है। उसमें कथा नहीं है, क्योंकि बंद बिम्ब हैं, विचार हैं। एक सम्पुष्ट कथा नहीं है, जिसमें घटनाएँ होती हैं, जिसमें चरित्र आगे बढ़ते हैं, गिरते हैं। उन्नति होती है, अवनति होती है और एक निष्कर्ष पर या किसी विराट घोष में पहुंचते हैं। ये कविता आधुनिक मनुष्य की बिम्बात्मक और विचारात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इनके भीतर छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। उन छोटी-छोटी कहानियों को मंच पर करना मुश्किल भी है, आसान भी है। वो कहानियाँ इतनी उलझी हुई हैं, जैसे कि आज मनुष्य का अस्तित्व उलझा हुआ है। हमारे भारतीय साहित्य में इस आधुनिक कविता की शुरुआत ग़ालिब से हुई। जिस अशुद्धवाद पर हम झगड़ा करते हैं न यूरोप का नाम ले-लेकर, वो ग़ालिब से हुई।

कविता का शब्द इतना सिद्ध शब्द है कि कविता को रंगमंच के लाख बड़े होने के बाद भी कविता मूल कला मानी जाती है, क्योंकि वो दृश्य, ध्वनि, संगीत सबको समेटकर आती है, क्योंकि उसको बोल देना ही बहुत बड़ा काम होता है। उसको करना बहुत मुश्किल काम है। मीर का एक शेर है मीर के दीन मजहब को पूछते क्या हो उनसे कस्का खेंचा पैर पै फिर मंद उठा के बैठ गया।

कितनी बड़ी बात है और कितना इसका प्रतीकात्मक विजुअलाईज अर्थ है। कविता की ये शक्ति है, जहाँ रंगमंच, संगीत, नृत्य सब पानी माँगने लगते हैं। कविता नाटक के अन्दर और कविता स्वतंत्र दो चीजें होती हैं। ब्रेख्त के नाटकों में कविता आती है जहाँ पर संवाद बेमतलब हो जाते हैं। मतलब आपस में बात करना भी बेमतलब हो जाता है, क्योंकि संवाद से और अपने अभिनय से आप उस मनुष्य के मन के दु:ख को या उसके अन्दर जो जटिलताएँ आ रही हैं, उसको जानकर यक़ीन नहीं कर सकते हैं। कविता आती है नाटक के अन्दर से, जैसे गोगरेन और संचरेन नाम का नाटक है। उसमें नौकरानी उषा का प्रेमी जब लौटता है, वो नदी के किनारे कपड़े धो रही होती है। वो शादी उसने नकली की है। उससे नकली बच्चा भी है नौकरानी का और वो आया है प्रेमी, जिससे उसकी शादी होनी है अन्त में और वो देखता है बच्चे को। तब संवाद की गुंजाइश नहीं बचती। यहाँ कविता में उषा ने ऐसा सोचा और माईकल ने ऐसा सोचा, इसको बोला नहीं जा सकता। उस पर ये कितना बड़ा पछतावा है, कितना बड़ा डर है कि वो बच्चा नकली है। इसको मेरा प्रेमी समझेगा कि मेरा बच्चा है, मैंने शादी कर ली है और ये मुझे ठुकरा देगा और मैं इस दु:ख को कैसे बताऊँ कि शादी नहीं हुई है। यह झूठी शादी है इस बच्चे को बचाने के लिए। अपने मन में सोचता है कि तूने ये क्या कर दिया। इसको संवाद में कैसे रचा जा सकता है, संभव नहीं। हमको आधुनिक कविता में देखना है कि इसकी तस्वीर बदली है, तेवर बदले हैं। पूरा बोलने का ढंग बदला है। मैं कई बार देखता हूँ कि कविता पर कोशिश करते हैं लोग। लेकिन मुझे कई बार लगता है कि नर्तक और संगीतकार और रंगकर्मी कई बार कविता को बजा डालते हैं बुरी तरह से। क्योंकि वो उस तरह का नहीं कर रहे हैं जैसे उसकी डिमाण्ड। इसके लिए आपको नया संगीत खोजना पड़ेगा।

फ़ैज अहमद फ़ैज की कविता में बेरूत है, बारूद है, बार-बार देश निकाला है, बार-बार जेल है। 'मुझसे पहले-सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँग' ये डिमाण्ड कर रहा है। पहले ही आपको बोल देता हूँ कि ये भरतनाट्यम, कृष्णलीला का डान्स मत कर देना। पहले सी मोहब्बत नहीं होती है। 'मैं कभी यहाँ हूँ, कभी वहाँ हूँ, अपने ही घर के अन्दर नहीं हूँ।' तो अब उसको उमा शर्माजी (कथक नृत्यांगना) जो हैं धमा-धम धमा-धम पेश करती हैं। उसके अन्दर संगीत के टुकड़े आ गये हैं, फिर एक किसी ने गा दिया कि 'मेरे महबूब न माँग।' मेरा यह मानना है कि यह अश्लीलता हो जाती है और यह अनजाने में ही होती है। लेकिन मैं भावना की बड़ी मदद करता हूँ कि हिम्मत थी आपकी, इसलिए कुछ हुआ है। तो कविता का पूरा मुहावरा बदला है। आज की कविता को कल के सुगम संगीत से नहीं बांधा जा सकता। अचानक वो साधारण हो जाती है।

लेकिन संगीत का लालच भी कविता के साथ मुश्किल पैदा करता है। कविता अपने आप में संगीतात्मक शब्द संयोजन हैं। अज्ञेय की कविता है ''साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं/शहर में भी रहना तुमने नहीं सीखा/फिर विष कहाँ से पाया/डसना कहाँ से सीखा।''

अब इसे किस संगीत में बांधेंगे और किस दैहिक अभिनय से इसको करेंगे। आप नहीं कर पायेंगे। वह अपने आप में सम्पूर्ण है। तो ये सब चीजें हैं। नाटक में चरित्र को समझना पड़ता है और चरित्र को जीना पड़ता है। कविता करने वाले के साथ मुश्किल यह होती है कि कविता को समझना पड़ता है, क्योंकि अपने आप में कविता विचार है और बिम्ब और उस बिम्ब का जस का तस ट्रांसलेशन इतना खतरनाक होता है कि मालूम पड़ा कि वो कोई खदेड़ रहा है किसी बुजुर्ग आदमी को और वो चिल्ला रहा है। जैसे 'मीर के दीन मजहब को पूछते क्या हो, कस्का खेंचा पैर पै फिर मंद उठा के बैठ गया।'' इसका विजुअल ट्रांसलेशन बहुत सीमित हो जायेगा। यह बहुत बड़ी बात कह रहा है। इसमें न इस्लाम इनवाल्व है, न कस्का इनवाल्व है। बहुत आगे की ये बात है। ये समस्याएँ कविता के साथ होती हैं। कविता की प्रस्तुति के साथ होती हैं और इसके लिए लम्बा रास्ता, लम्बी प्रक्रिया से गुज़रना पड़ेगा।

बड़ी खतरनाक होती हैं कविताएँ, जो अकेले में बात करती हैं। वो छोड़ती नहीं हैं पीछा आपका। कविता मनुष्य की बहुत मूल वृत्ति है। संगीत से भी ज़्यादा मूल वृत्ति है, जब से आदमी ने भाषा सीखी। लेकिन हमारे यहाँ अब ये बात होती है कि स्मृति बहुत छोटी है इन कविताओं की। ऐसा नहीं है, स्मृति बहुत छोटी नहीं है। मैं अभी भी सुनता हूँ, हालांकि बड़े लाउड शब्द होते हैं कई बार और मैं अपने साहित्यिक मित्रों को बोलता हूँ कि स्मृति अगर छोटी होती तो सुनने में और कई बार कहने में नीरज इतने बड़े क्यों लगते। उन कवियों की ओर से बोलता हूँ कि नीरज पर ध्यान देना चाहिए। तो छोटी-छोटी स्मृतियाँ भी दर्शक तक पहुंचती हैं। मुझे दिल्ली में या न्यूयार्क में हमेशा बुदनी और भोपाल की याद आती है कि खाना मिलेगा चार दिन बाद। मुझे घर की याद आने लगती है। बुदनी की याद आने लगती हैं, लेकिन बुदनी में अच्छा खाना नहीं मिलता।

एक कविता थी 'क्रेप फूड्स'। आप यह समझ लीजिये कि यह अच्छी स्मृति है और राम की स्मृति से पुरानी स्मृति हमारे पेट की स्मृति है और हमारे पेट की स्मृति बोलती है। तो कवि चाहे तो कितनी ही भोंडी कविता ही लिखें, ताली तो बज ही जाती हैं, क्योंकि वह हमारी बात कर रहा है। हो सकता है कि वो उसकी कमजोरी हो। हो सकता है कि उसको और शायद उन कवियों को भी होगा जो बड़े-बड़े बिल्डिंगों में रहते हैं दिल्ली में। खाना खाने के लिए दवाई लेते हैं। लेकिन असल कवि त्रिलोचन शास्त्री हैं, जिसे बुदनी का खाना ही अच्छा लगता है। जैसे खाना बुदनी में ही बनता है भाई, बाकी जगह खाना बनता ही नहीं है। न्यूयार्क में तो खाना बनता ही नहीं है, क्योंकि न्यूयार्क में या अमेरिकन जीवन शैली, जो आपके यहाँ थोपी जा रही है, वहाँ चौका खत्म हो चुका है। बावर्ची खाना नहीं है, सबका मार्केट से रिश्ता है। आधा काटते हैं बर्गर, फ्रिज में डाल देते हैं। हम तो जानवरों के साथ भी ऐसा नहीं कर सकते। मेरे ख़्याल से राक्षसों की कल्पना ऐसी ही होती होगी। उसको फ्रिज से निकालकर आधा काट लेते हैं और फिर फेंक देते हैं। ठण्डा होता रहता है और खाते रहते हैं। हमेशा खाते रहते हैं। बहुत सारी स्मृतियाँ हैं, अमर हैं इसलिए आप देखियेगा! गणेशजी के आगे और रामजी के आगे बाक़ायदा चलते रहते हैं। मुझे बड़ी खुशी होती है कि कव्वाली होती है गणेशजी के आगे।

तो छोटी और बड़ी स्मृति का सवाल नहीं है। सभी कविताओं के पास, बड़ी स्मृतियाँ हैं। अब यह चुनौती रंगमंच के सामने है कि वो कविताओं को कैसे मुक़म्मल तरीके से ले जाए। जो रंगमंच पर कविता के समानान्तर एक संसार रचे।

'रंगशीर्ष' द्वारा स्वराज भवन भोपाल में कविता और रंगमंच विषय पर आयोजित संवाद से साभार

● सेवाराम त्रिपाठी

बाल रंगमंच
सीमा और संभावना

रंगमंच भी एक खेल की तरह है। रंगमंच जहाँ नाटक खेला जा रहा है वह बच्चे के लिये कार्यशाला भी है और उनका मुक्त स्थल भी। वह उसके लिये कोई क़ैदख़ाना नहीं, बल्कि खेल का हरा-भरा उन्मुक्त मैदान है, जहाँ बालक अपने मनभावन खेल खेलने जा रहे हैं।

यूं तो रंगमंच बहुत व्यापक आयामों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह समूची सृष्टि के भावों का अनुकरण करता है। धर्म, क्रीड़ा, शांति, हँसी-खुशी, संघर्ष अनीति, संयम सब इसके भीतर हैं। यह उत्साह जगाने वाला है। हर प्रकार के भावों, रसों, रंगों, रूपों, रूपकों और प्रतिमानों को अपने भीतर जज्ब करने वाला भी है। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में लिखा है कि ''यह नाट्य उत्तम, मध्यम और नीच सभी प्रकार के लोगों के कार्यों से सम्बद्ध है और सबको हितकारी उपदेश देने वाला तथा धैर्य, क्रीड़ा, सुख देने वाला भी है। ...यह नाट्य दु:ख से, अति परिश्रम से क्लान्त, शोक से संतप्त जनों को समय पर विश्राम देने वाला होगा। ...न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या, न कोई ऐसी कला है, न योग है और न ही कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में न प्रदर्शित किया जाता हो।''

रंगमंच के दायरे में सब कुछ है। वह जीवन भी है और जीवन की पुनर्रचना भी। नाटक बनने से लेकर यानी स्क्रिप्ट से लेकर उसके प्रदर्शन तक हमारे जीवन, समय, समाज और सम्भावनाओं की जितनी भी रंग छवियां हैं, जितनी भी शिल्प-संभावनायें हैं। संघर्ष द्वन्द्व और कलायें हैं, इस नाट्य में सबके लिये पर्याप्त स्थान है, उन सबकी तेजस्वी भूमिका भी। इसकी ग्रहण क्षमता इतनी व्यापक, विशाल एवं विपुल है कि यह कहीं से कुछ भी ग्रहण करने में समर्थ है। शेक्सपीयर ने संसार को रंगमंच कहा है तो उनका आशय जीवन्तता, ग्राह्यता, संलग्नता, विशालता और मनुष्य के संघर्ष के विविध आयामों एवं कोणों से रहा है। जिस तरह हमारा जीवन निरन्तर विकासमान, गतिमान, ऊर्जावान और परिवर्तनशील होता है, उसी तरह रंगमंच भी है। रंगमंच में सब कुछ को अपने में समा लेने की शक्ति और क्षमता है जैसे कि हमारे जीवन में होती है। इसलिये जीवन और रंगमंच एक दूसरे के पूरक और समानधर्मी भी हैं।

रंगमंच इकहरी कला सृष्टि नहीं है। वह कलाओं का समुच्चय है। समूची कलाओं की आवाजाही और भूमिकायें रंगमंच में सम्प्रेषण को जीवन्त बनाती हैं और उसकी ग्रहण क्षमता को बहुस्तरीयता प्रदान करती हैं। रंगमंच में अमूर्त को मूर्त करने की क्षमता है। नाट्यालेख को निर्देशक की योग्यता और अभिनेताओं की अभिनय क्षमता और विभिन्न कला संरचनाओं के द्वारा जीवन्त करने की क्षमता है। अर्थात वह शरीर में प्राण फूंकने, उसे जीवन्त, गतिशील और सार्थकता में रूपान्तरित भी करता है। दोनों की अनिवार्यता भी है। दोनों एक दूसरे से बहुत गहरे जुड़े हुये हैं।

रंगमंच की अनेक शैलियां हैं। उसकी विकास यात्रा के अनेक सोपान हैं। लोकरंगमंच से लेकर पारसी थियेटर, रामलीला, ब्रेख्त शैली, शेक्सपीयर शैली, नौटंकी, स्वांग, नाचा, बिदेसिया, रास, यात्रा, भवई, माच, भांड, शास्त्रीय रंगमंच, एब्सर्ड (असंगत) रंगमंच, नुक्कड़ रंगमंच आदि ने इस जीवन की पुनर्रचना वाले आयामों को इतनी सघनता और विस्तार दिया है कि इसे हम समग्र रंग आंदोलन कह सकते हैं। इसमें सीखने-सिखाने, जीवन की नस-नस को पहचानने, उसमें डूब जाने, समा जाने यानी जीवन को नये सिरे से प्रस्तुत करने के विभिन्न रूपों को चाक्षुष बनाने की क्षमता है। रंगमंच के विराट आंदोलन में कई तरह के स्वर हैं, कई तरह की प्रविधियां भी हैं। रंग आंदोलन में अतीत से लेकर वर्तमान तक कई प्रकार के प्रभाव रहे हैं।

सबका अपना-अपना महत्व है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू' कई तरह की भाव छवियाँ, रंग छवियाँ भी रही हैं कि केसव कहि न जाय का कहिये/देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये। मैं इन विभिन्न स्वरों में से एक स्वर को प्रतीक के तौर पर रखना चाहता हूं और वह स्वर है नुक्कड़ रंगमंच का। जिसे कुछ समूह और अति आग्रही रंगमंच ही नहीं मानना चाहते। सफ़दर हाशमी के अनुसार ''आधुनिक राजनैतिक नुक्कड़ रंगकर्म एक सामाजिक ज़रूरत की पैदाइश है। जनवादी आंदोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है नुक्कड़ नाटक उसी का एक अंग है। पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था ने जो सांस्कृतिक नेटवर्क खड़ा किया है वह जनवादी संस्कृति के प्रचार का माध्यम नहीं बन सकता। (स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पढ. 116) इसी तरह ब्रेख्त नाटक और रंगमंच को उन लोगों की आवाज बना देने के पक्ष में थे, जिन्हें व्यवस्था बोलने नहीं देती। नुक्कड़ रंगमंच जनता का, जनता द्वारा जनता के लिए खेलने, प्रशिक्षित करने वाला और उनके जीवन में काम आने वाला रंगकर्म है। इसलिये इसे अपार ख्याति भी मिली।

जनता से सीखने-सिखाने वाली जीवन की बहुआयामी, बहुस्तरीय बहुकोणीय कला माध्यम के रूप में रंगमंच का कोई और विकल्प हो ही नहीं सकता। सम्भवत: इसलिये जब से मनुष्य है उसका जीवन है, उसके कार्य व्यवहार हैं तब से यह माध्यम है अपनी कमियों खूबियों से संघर्षरत जीवन के विविध आयामों के साथ। भरतमुनि के पहले भी रंगमंच रहा होगा, उसका कोई न कोई ड्राफ्ट भी रहा होगा नहीं तो भरतमुनि का इतना बहुस्तरीय नाट्य शास्त्र सम्भवत: नहीं रचा जा सकता था। यह प्रश्न मेरे लिये महत्वपूर्ण है।

जहां तक बाल नाटकों और बाल रंगमंच का सवाल है उसका विकास अभी भी हाशिये पर है। प्रश्न है कि जब बाल साहित्य, बाल नाटकों और बाल रंगमंच को गंभीरता से नहीं लिया जाता तो उसके स्तर, गति और विकास की चिन्ता किसे हो सकती है? बाल नाटकों की स्थिति भी कमजोर है। नाटक सम्प्रेषण की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। बाल नाटकों का लिखा जाना भी बहुत कम है, फिर तो बाल रंगमंच की कल्पना करना उसके विकास का सपना देखना, बहुत दूर की बात है लेकिन यह सपना हम देख रहे हैं। बाल नाटकों की विशिष्टता यह होती है कि वे उनकी संवेदना, सीखने की कला, उनके अनुभव संसार में शामिल होकर सामाजिक, सांस्कृतिक जटिलताओं को और जीवन की आपाधापियों को बिना मस्तिष्क में अधिक जोर दिये दुनिया को जान-पहचान सकते हैं। साहित्य और कला माध्यमों में बाजार ने, सूचना संसार ने घेरेबंदी कर रखी है। इन वास्तविकताओं से जूझने के लिये बाल नाटकों के लेखकों को बहुत सतर्क होकर सोचना पड़ेगा।

जब बाल साहित्य, बाल नाटकों और बाल रंगमंच को गंभीरता से नहीं लिया जाता तो उसके स्तर, गति और विकास की चिन्ता किसे हो सकती है? बाल नाटकों की स्थिति भी कमज़ोर है। बच्चों के लिए जब नाटकों का लिखा जाना ही बहुत कम है, फिर तो बाल रंगमंच की कल्पना करना उसके विकास का सपना देखना, बहुत दूर की बात है।...लेकिन यह सपना हम देख रहे हैं।

बच्चों में अनुकरण की क्षमता ग़ज़ब की होती है। उनके भाव जगत में, उनके निर्दोष मन में हर चीज का असर बहुत ज्यादा होता है। वह रेत पर खिंची लकीर की तरह नहीं वरन पत्थरों में अंकित छवियों की तरह होता है। बाल मन में अश्लील और कुरूप छवियों के प्रभाव भी जल्दी असर डालते हैं। मुझे लगता है कि लोक कथायें, लोक प्रसंग, लोक रुचियों से निर्मित नाटक जिनमें यथार्थ का निष्कलुष अंकन हो तो वे जीवन छवियों को शिद्दत के साथ अभिव्यक्त कर सकते हैं। वैसे भी बच्चों की दुनिया निराली होती है। उनका मन निर्मल, जिज्ञासा अकूत और प्रभाव ग्रहण करने की भरपूर क्षमता होती है। उनकी पकड़ भी तेज होती है। बाल नाटकों की भाषा सरस, सरल और सहज होनी चाहिये। उसमें जटिलता के लिये कोई स्थान नहीं है। बाल नाटकों को खेला जाने वाला रंगमंच आकर्षक चटक रंगों से सजा, आंखों को सुखकर, नृत्य संगीत से युक्त हो। छोटे-छोटे संवाद हों, जिनमें मानवीय संवेदना का घोल हो, ताकि बच्चे इसे आसानी से हृदयंगम कर सकें, क्योंकि उनके मन पर इन सभी के स्थायी प्रभाव होते हैं। एक चुनौती बाल नाटकों के निर्देशन की भी है। बड़े बुजुर्ग जब तक बाल मनोविज्ञान, बाल सौन्दर्य बोध और जीवन में उसके प्रभाव और महत्व को नहीं समझते तब तक उस यथार्थ की संरचना को सही आयाम नहीं मिलेंगे। इससे जुड़े बिना यथार्थ के प्रस्तुतीकरण की समझ के बिना उनके रंगमंच को विकसित नहीं किया जा सकता।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अनुसार ''बच्चे को यथार्थवादी रंगमंच की जरूरत नहीं है। वह एक तिनके से जितनी बड़ी कल्पना कर सकता है बड़े नहीं कर सकते। उसे कल्पनाशील सादा रंगमंच चाहिये। वह प्रकृति, पशु, पक्षी, जानवरों, टीमटाम, नाच गान, शोरगुल सबसे बड़ी लगन से जुड़ता है। अतः उसके लिये नाटक लिखना एक विशाल कैनवास के सामने खड़ा होना है।

रंगमंच भी एक खेल की तरह है। बच्चों के नाटकों का लेखन एवं निर्देशन करने के लिये उनकी संवेदन क्षमता की समझ होनी चाहिये। मैं 'तारे जमीन पर' फिल्म के उन दृश्यों, भंगिमाओं और दृश्यावलियों की याद दिलाना चाहता हूँ, जिसमें कला का अध्यापक निर्देशक के रूप में रचनात्मकता के स्तरों का समझदारी से प्रयोग करना एक बड़ी चुनौती है। बच्चों के नाटक लिखने वाले चाहे जितने बड़े हों, समझदार हों लेकिन तर्क और समस्याओं के हल बच्चों की दुनिया के ही होंगे। जो शब्दों के इस पार से उस पार तक की यात्रा करेगा। कल्पना की दुनिया की असीमित परिभाषाओं के परे जाकर। लेखक और निर्देशक को रंगों की समझ, बालमन पर पड़ने वाले प्रभावों की समझ जितनी 'ज्यादा होगी बाल रंगमंच की सम्भावनायें उतनी ही बढ़ेंगी। बच्चों का कथानक और उसका समूचा रूप उन्मुक्त होना चाहिये। बच्चा कहीं भी अपने को बंधा हुआ या जकड़ा हुआ अनुभव ना करे, यदि ऐसा हो सका तो रंगमंच बालकों के लिये एक खेल से ज्यादा कुछ नहीं होगा और उनका अभिनय जीवन्त मूर्त एवं अभूतपूर्व होगा। रंगमंच जहाँ नाटक खेला जा रहा है वह बच्चे के लिये कार्यशाला भी है और उनका मुक्त स्थल भी। वह उसके लिये कोई क़ैदख़ाना नहीं, बल्कि खेल का हरा-भरा उन्मुक्त मैदान है, जहाँ बालक अपने मनभावन खेल खेलने जा रहे हैं।

बच्चों के नाटकों के संदर्भ में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अनुभव कुछ इस तरह हैं ''बच्चे को यथार्थवादी रंगमंच की जरूरत नहीं है। वह एक तिनके से जितनी बड़ी कल्पना कर सकता है बड़े नहीं कर सकते। उसे कल्पनाशील सादा रंगमंच चाहिये। एब्सर्ड होने में उसे और मजा आता है। वह प्रकृति, पशु, पक्षी, जानवरों, टीमटाम, नाच गान, शोरगुल सबसे बड़ी लगन से जुड़ता है। अतः उसके लिये नाटक लिखना एक विशाल कैनवास के सामने खड़ा होना है। यदि आप उस कैनवास के सामने खुद को छोटा महसूस न करें तो बच्चे के नाम पर वह कैनवास छोटा नहीं होगा।''

मुझे लगता है कि हमें बच्चों को केवल बच्चा समझने से बचना चाहिये। उनके अंदर बहुत कुछ पकता है। अनेक प्रकार के प्रभाव होते हैं, चित्रमयता होती है, सीखने की जैसी उद्दाम इच्छा उनमें होती है, बड़ों में नहीं होती। उनकी अनगढ़ता में कला की, जीवन की जितनी सुगढ़ता होती है, उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता। उनके लिये न तो चौखटे बनायें ना उन्हें सीमित संसार में कैद करने की चेष्टा करें। सर्वेश्वरजी यह भी मानते हैं कि वह कम में बहुत कुछ ग्रहण कर लेगा बशर्ते आप उसके साथ मिलकर रच रहे हों। लोक नाटकों के रंगारंग उपकरण आपके पास हैं। क़लम आपके हाथ में है उनके साथ बैठिये,

रचिये। दुनिया में और कहीं मुक्ति देने पर मुक्ति मिलती हो या न मिलती हो पर बच्चे के लिये ऐसा रचकर जिससे कि वह मुक्त हो, रचनाकार अवश्य खुद को मुक्त महसूस करता है। (बाल साहित्य रचना और समीक्षा, पृष्ठ 117-18)

बाल रंगमंच अभी भी समस्याओं से घिरा हुआ है। बड़े लोगों का इस क्षेत्र में दखल बहुत है। ज्ञातव्य है कि बाल रंगमंच बच्चों का खुला संसार हो उनको अभिनय की छूट हो, उसमें वेशभूषा ज्यादातर उन्हीं के अनुकूल हो। पर्दा उठाने गिराने की समस्या न हो। बच्चे सहज रूप में संवाद अदायगी करें तो बेहतर हो। ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर अभी तक का बाल रंगमंच शून्य में है। यह समझना भूल होगी। नर्मदा प्रसाद खरे का नवीन बाल नाटक माला (1955), केशवचंद वर्मा बच्चों की कचहरी (1956), चचा छक्कन के ड्रामे (कुंदसिया जैदी), वे सपनों के देश से लौट आये (भानु मेहता), प्रतिनिधि बाल एकांकी (1962), सिद्धनाथ कुमार कृत आओ नाटक खेलें (1962), चुने हुये एकांकी (1965), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत 'भों भों खों खों' आदि प्रमुख हैं। ये तो कुछ नमूने हैं। बाल नाटकों का बाल रंगमंच का बहुविध प्रयोग हिन्दी संसार में हुआ है। इसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये। बालकों के चहुंमुखी विकास में उनके व्यक्तित्व निर्माण में रंगमंच की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है। केन्द्रीय रंगमंच की तरह बाल रंगमंच भी दुर्दशाओं उपेक्षाओं में फँसा हुआ है। रंगमंच के ज्ञाता बाल रंगमंच की ओर समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। उनके मन में या तो यह दुविधा है कि यह तो कमतर रंगमंच है जबकि सही बात तो यह है कि बाल रंगमंच ही रंगमंच की बुनियाद है। इसी से बड़ों का रंगमंच शक्तिशाली होगा, इसे हमें नहीं भूलना चाहिये।

यह सुविख्यात तथ्य है कि बच्चों में सीखने की, जानने की, प्रश्नांकन की और अभिनय करने की नैसर्गिक प्रतिभा होती है। उन्हें उनकी क्षमता के अनुरूप, उनकी योग्यता के अनुरूप यदि निर्देशित किया जाता है तो वे अपनी अपार सम्भावनाओं को चुटकी बजाते हुए सिद्ध कर देते हैं। क्योंकि उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन सहज, सरल और स्वाभाविक ऊर्जा से भरा होता है। ज़ाहिर है कि वयस्कों का प्रस्फुटन सहज, सरल और स्वाभाविक ऊर्जा से भरा होता है। ज़ाहिर है कि वयस्कों का रंगमंच या मुख्य धारा का रंगमंच भी उतनी आसानी से जिन चीजों का प्रदर्शन नहीं कर पाता, बच्चे उन्हें स्वाभाविक रूप में कर डालते हैं। दरअसल रंगमंच अपने व्यक्तित्व को और जीवन के बहुविध आयामों को व्यक्त करने की जीवन्त कला है। जहाँ बनावटीपन नहीं होता। बच्चों में गीत, संगीत, नृत्य और खेल के प्रति सहज ही आकर्षण होता है। वे दूसरों की देखादेखी उनकी बढ़िया नकल कर डालते हैं। उनमें वेशभूषा के प्रति, साज-सज्जा के प्रति एवं रंगों के प्रति गहरा आकर्षण होता है। बड़ों के थोड़े से निर्देश पर वे आश्चर्यचकित करने वाले कारनामों को अंजाम दे सकते हैं। यह कोई रहस्य नहीं है। अनेक बार बच्चों ने इसे साबित भी किया है।

बाल रंगमंच बच्चों का खुला संसार हो। उनको अभिनय की छूट हो। वेशभूषा ज्यादातर उन्हीं के अनुकूल हो। पर्दा उठाने- गिराने की समस्या न हो।

बाल रंगमंच के प्रति अभी समुचित रूप से शासन-प्रशासन और इससे सम्बद्ध पक्षों का इतना ध्यान नहीं गया, जितना जाना चाहिये था। इस उदासीनता के सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों के अलावा कहीं न कहीं हमारी गहरी उपेक्षा और तिरस्कार की भावना है। अब समय की जरूरत है कि हम बाल रंगमंच की ओर ध्यान दें उसे पेशेवर और गैर पेशेवर रंगमंच की तकनीकों एवं शिल्प विधि का प्रयोग करते हुये उन्नतिशील बनायें और यदि ऐसा हो सका तो मुख्यधारा के रंगमंच को भी ताकत और गति मिलेगी। श्री प्रसाद ने चिन्ता व्यक्त करते हुये लिखा है कि ''बाल रंगकर्म प्रायः वयस्क रंगकर्म का अनुवर्ती रहा है। हिन्दी में वयस्क रंग गतिविधि जब भी बढ़ी है बाल रंगमंच का भी उत्थान हुआ है। आज बड़ों का रंगमंच भी अपनी चमक खो रहा है। फलतः बाल रंगमंच भी फीका हो रहा है। नाटक की परिणति है मंचन। बाल रंगमंच के अभाव में बाल नाट्य सृजन भी कमजोर हो गया।''

रंगमंच एक जटिल श्रम साध्य बहुमुखी माध्यम है। उसके लिये अभी तक देश के किसी प्रांत में उसे वैकल्पिक विषय के रूप में भी स्वीकृत नहीं किया गया। बाल नाटकों का न लिखा जाना कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि बाल रंगमंच ही अभी तक सक्रिय नहीं है, उसके बारे में किसी को कोई चिन्ता नहीं है। नेमीचन्द्र जैन ने बहुत वर्षों पहले इसे रेखांकित किया था। केवल प्रशिक्षण, प्रदर्शन भाषा की शुद्धता बोलने की तकनीक और संवादों की अदायगी में रंगमंच का प्रयोग सार्थक हो सकता है। नाटक के पूर्वाभ्यासों में कई तरह के प्रयोग किये जाते हैं। दृश्य सज्जा, रूप सज्जा, ध्वनियों के प्रति आकर्षण, रंगों, रूपाकारों के प्रति जुड़ाव, संगीत और नृत्य की भाव-भंगिमायें

बच्चे आसानी से सीख सकते हैं। नेमिजी का यह मानना सही है कि ''नाटक के प्रदर्शन में भाग लेना बालक के व्यक्तित्व को भी कई प्रकार से समृद्ध-सम्पन्न करता है। नाटक में भाग लेकर बच्चे समुदाय में रहना, काम करना और परस्पर सहयोग करना सीखते हैं। न सिर्फ प्रदर्शन और पूर्वाभ्यास के लिये ठीक वक्त पर पहुँचना जरूरी होता है, बल्कि नाटक में अनेक कार्य किसी निश्चित संकेत पर तुरंत शुरू कर देने पड़ते हैं।'' (बाल साहित्य रचना और समीक्षा, पृ.- 106)

बाल रंगमंच के विकास में यूं तो कमियाँ बहुत हैं लेकिन यह भी नहीं माना जा सकता कि अभी तक कुछ काम ही नहीं हुआ। इस निषेधात्मक प्रकृत्ति से हमें बाहर आना है। छठवें दशक में बाल रंगमंच की सक्रियता बढ़ी थी। स्कूलों में वार्षिक समारोहों के लिये दिल्ली जैसे महानगरों से लेकर कस्बों, गांवों, नगरों में किसी न किसी रूप में बाल रंगमंच की सक्रियता रही है। हाँ, उन नाटकों के कुछ निर्देशन खानापूर्ति के रूप में हुये और कहीं-कहीं पूर्वाभ्यासों में मेहनत से, लगन से काम हुये और उन्हें भरपूर सराहना मिली। इसके अलावा दिल्ली बाल रंगमंच की स्थापना से इस रंग आंदोलन को नई गति और ऊर्जा मिली है। 'भूमिका' नामक संस्था को भुलाया नहीं जा सकता। सुषमा सेठ के निर्देशन में चिल्ड्रंस क्रियेटिव थियेटर ने बहुत उपयोगी काम किये हैं। ब.व. कारंत, कविता नागपाल और हरजीत ने भी प्रदर्शन कराये हैं। नेमिचंद जैन का मानना है कि ''जब तक बाल रंगमंच हमारे जीवन में एक आवश्यक और स्वतंत्र कार्य के रूप में मान्यता नहीं पाता तब तक स्थितियों में कोई खास सुधार सम्भव नहीं है। ...हिन्दी में वयस्कों के रंगमंच की भांति यहां भी एक विरोधाभास लगातार दीख पड़ता है। नाटकों में ये बातें सक्रिय बाल रंगमंच के बिना नहीं आ सकतीं और सक्रिय बाल रंगमंच अच्छे नाटकों के बिना नहीं बन सकता। (बाल नाटक : घर से रंगमंच तक, पृ. 110)।

बाल रंगमंच के बारे में इतने प्रश्न हैं, इतनी शंकायें हैं कि क्या कहें और क्या न कहें? लेकिन निराश होने की ज़रुरत नहीं है। बाल रंगमंच हो रहे हैं। बाल नाटक लिखे जा रहे हैं? कमी-पेशी की समस्या एक अलग समस्या है। रंगमंच वैसे भी बड़ी साधना, सक्रियता, कल्पनाशीलता, त्याग और उत्कट ईमानदारी की मांग करता है। रंगमंच की सक्रियता ने उन अवरोधों को तोड़ दिया है जिसके लिये कहा जाता था कि संचार माध्यम उसके विकास को खत्म कर देंगे। मीडिया, दृश्य श्रव्य माध्यम और मल्टी मीडिया उसे बढ़ने नहीं देगा।

विज्ञापन और बाज़ार की आंधियाँ शब्द माध्यम में और रंगमंच को क्षति पहुंचायेंगे। भारतेन्दु, हरिशचन्द्र जयशंकर प्रसाद जी की चिन्तायें वाजिब थीं। लेकिन रंगमंच की सामाजिक संलग्नता और संवेदनशीलता ने रंगमंच को विश्वसनीयता प्रदान की है। लेकिन सवाल अभी भी हमारा पीछा कर रहे हैं, जिनसे रंगकर्मियों को निरन्तर टकराना पड़ेगा।

● रामप्रकाश

रंग, रूप और ख़ुश्बू का प्रतिरूप

शमीम फ़रहत ने एक नज़्म में कहा था– 'मेहनत जब फ़न में ढलती है, सुन्दरता कहलाती है'। शायर का संदर्भ कोई हो परन्तु प्रभात गांगुली के बारे में कहा जा सकता कि उनकी मेहनत जब फ़न में ढली तभी सुन्दरता बनी। विश्व विजयी सुन्दरता! वे मेहनत करके नृत्य पर, नृत्य निर्देशन पर अधिकार जमा पाये थे। इसलिए उनकी संरचनाओं में, नृत्य नाटिकाओं में श्रम और श्रम संस्कृति से उपजे मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है।

गौरवर्ण। बेहद आकषर्क व्यक्तित्व के धनी। सिर्फ भृकुटि विलास से नव रसों का संदर्शन कराने की क्षमता रखने वाले भाव प्रवण नर्तक। नाम प्रभात गांगुली। आज वे होते तो सौ वर्ष का आयुष्य प्राप्त कर चुके होते। प्राय: कला-साधकों के परिचय में लिखा जाता है कि उनमें जन्मजात प्रतिभा है, वे बचपन से ही कला-निष्णात रहे हैं आदि। प्रभात गांगुली के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा या लिखा जा सकता है। उनके ख़ानदान में दूर-दूर तक कोई संगीतकार-गायक-वादक या नर्तक नहीं था। नैसर्गिक प्रतिभा की कोई उल्लेखनीय बात भी नहीं थी। पढ़ने-लिखने में कम दिलचस्पी के चलते निहायत औसत विद्यार्थी। फलत: घर की आँख के तारे भी वे कभी नहीं बन पाये। बावजूद इसके अगर देश के शीर्षस्थानी नर्तकों में वे शुमार हुए, उनके नृत्य निर्देशन में तैयार बैले तमाम देशों में धूम मचा सके, विश्वस्तरीय सम्मान पा सके तो यह सब उनके श्रम का अर्जित सुफल था।

शमीम फ़रहत ने एक नज़्म में कहा था 'मेहनत जब फ़न में ढलती है, सुन्दरता कहलाती है'। शायर का संदर्भ कोई हो परन्तु प्रभात गांगुली के बारे में कहा जा सकता कि उनकी मेहनत जब फ़न में ढली तभी सुन्दरता बनी। विश्व विजयी सुन्दरता! वे मेहनत करके नृत्य पर, नृत्य निर्देशन पर अधिकार जमा पाये थे। इसलिए उनकी संरचनाओं में, नृत्य नाटिकाओं में, श्रम और श्रम संस्कृति से उपजे मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है।

उनके जन्म और बचपन के संयोग ताउम्र योग ही बने रहे, उन्होंने ऋणात्मक भूमिका कभी नहीं निभाई। उनका जन्म तत्समय भारत की सांस्कृतिक राजधानी कहे जाने वाले वाराणसी में 15 अगस्त 1913 को हुआ। वाराणसी तब स्वतंत्रता संग्रामियों की ऐतिहासिक कार्यस्थली और

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की झंडाबरदार नगरी थी। गंगा की लहरियाँ वहाँ केवल पाप विमोचन के सुरताल पर नहीं थिरक रही थीं, उनमें स्वातंत्र्य चेतना के ज्वार छिपे थे। उसके किनारे पर शास्त्रीय और लोक-कलाओं, कविता, कहानी और आलोचना से कीर्तिमान गढ़े जा रहे थे।

दिलचस्प यह है कि बनारस की कविता आलोचना, गायकी, कथक, सितार, तबला, मृदंग, शहनाई, सारंगी की घरानेदार कलाओं की छाप प्रभात गांगुली पर नहीं पड़ी। वे प्रभावित हुए तो जन-कलाओं से। नृत्य-संगीत के संस्कार पड़े तो श्रम की थकान का परिहार करने वाले अहीरों और धोबियों के नृत्य से। ये लोक कलाएँ शाम गहराते ही उनके आस-पड़ोस से बरसने लगतीं। ब्राह्मण बालक प्रभात उनकी कला से ऐसा मुतास्सिर हुआ कि उसने 'जप, माला, छापा, तिलक' सबको गंगा में विसर्जित कर दिया और कलानुरागी हो गया। इस कलानुराग को दीवानगी तक पहुँचाया विश्वविख्यात 'आधुनिक नर्तक' उदयशंकर ने। सन् 1935 के आसपास जब प्रभात गांगुली कोलकाता गये थे तभी उदयशंकर ने भी वहाँ नये नृत्यों और नृत्य नाटिकाओं की संरचना के लिए करीब एक वर्ष तक मुकाम किया।

...रंग का, रूप का, खुश्बू का यह जो प्रभात गांगुली था, जिसका चमड़ा फूल की पँखुरी से भी छिल सकता था ताउम्र घाव खाता रहा, लहू बदन से रिसता रहा पर कभी किसी के ख़िलाफ कुछ बोला नहीं।

प्रभात को शास्त्रीय या आधुनिक नृत्य का 'क ख ग' भी नहीं पता था। बावजूद इसके उनने जुनूनी होकर ठान लिया कि नर्तक बनना है। उदयशंकर को प्रभावित करना आसान नहीं था। प्रभात के पास कोई प्रदर्शनीय कला रूप नहीं था। केवल लोक नृत्य की चाक्षुष छवियाँ भर थीं, लेकिन वे भी केवल स्मृति में पोसीदा थीं। उनकी पुनर्प्रस्तुति उनके लिए संभव नहीं थी। बावजूद इसके अपनी लगन, अपने समर्पण, अपनी भक्ति से उदयशंकर नाम के पत्थर को प्रभात ने पिघला लिया। नतीजा...?

करेला नीम पर चढ़ गया और उदयशंकर से मिलकर 'मैया चंद्र खिलौना लैहौं' की जिद पूरी की। उदयशंकर उनके बेहद प्रियदर्शी, शरीर सौष्ठव और मनोहारी व्यक्तित्व से तो प्रभावित हुए पर नृत्य के नाम पर नहीं। बहरहाल, ज़िद की जीत हुई और प्रभात गांगुली 1939 में उदयशंकर के अल्मोड़ा स्थित कल्चरल सेण्टर से जुड़ने में सफल हो गये।

प्रभात में लगन की कमी नहीं थी लेकिन सीखने की गति धीमी थी। एक बार एक नृत्य में उनकी जोड़ी फ्रांस से आयी सुन्दर सुकुमारी सिमकी के साथ बिठाई गई। दरस-परस में तो यह जोड़ी भरत नाट्यशास्त्र के सौन्दर्य-मानकों के अनुरूप थी पर नृत्त, नृत्य, नाट्य सभी अंगों में सिमकी की चमक कहीं ज्यादा थी। बंगाली मोशाय के मन में सिनकी के साथ से रूप-रस-गंध की हिलोरें उठ रही थीं और उधर सिमकी का दिल प्रभात की मंथर गति और गैर व्यावसायिक ढब के चलते बैठा जा रहा था। नतीजा यह कि सिमकी ने उदयशंकर से कह कर यह जोड़ी तुड़वा दी कि वे नृत्य के समग्र प्रभाव में दर्शकों को निराश ही करेंगे लिहाजा प्रभात युगल नृत्य से अलग कर दिये गये।

नृत्य-जुनूनी और एक तरफा प्रेम में निरत प्रभात गांगुली पर इस घटना ने गहरा असर डाला। प्रेम को जीतने के लिए उनकी प्रणय चर्चा में भी बदलाव आया। वे नृत्य और प्रेम दोनों को अर्जित करना चाहते थे। इसलिए उनके लिए दिन, दिन न रहा और न रात, रात। वे कठिन श्रम से नटराज को साधने में जुट गये।

प्रभात ने ऐसी कठिन नृत्य साधना की कि लोग उनकी तुलना स्वयं उदयशंकर और उनके योग्यतम शिष्य रामगोपाल से करने लगे। बंगाली मोशाय ने सिमकी का दिल भी जीता और रूप-रस-गंध की नृत्य-झलकियों को बिसमिल्लाह खाँ की शहनाई में रूपांतरित कर दिया। जाति-धर्म-भाषा-भूषा की जकड़बंदियों को तोड़कर प्रभात-सिमकी का विवाह सम्पन्न हुआ। प्रभात दा के निधन से कोई दो साल पहले ही सिमकी ने अमेरिका में आखरी साँस ली। दोनों की बेटी संप्रति लंदन में है। मुख्तसर यह कि प्रभात दा ने मेहनत को फ़न में ढालकर इतना सुन्दर बना दिया कि उनके प्रशंसक भारत के अलावा उन 28 देशों में फैले हैं जहाँ उनकी नृत्य नाटिकाएँ बार-बार प्रदर्शित हुई। उन्होंने अपनी पृथक शैली विकसित की जिसमें भाव-प्रवणता का प्राचुर्य था। इससे उनकी पृथक पहचान भी बनी।

अलमोड़ा केन्द्र के बिखर जाने के बाद प्रभात दा दिल्ली में इप्टा से जुड़े (1944-45) और उनके 'हंगर' बैले ने धूम मचाई। सन् 48 में वे इप्टायी विचारधारा के समरूप शांतिवर्धन के इण्डियन रिनेसाँ ग्रुप से जुड़े। यहाँ उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की ऐतिहासिक दस्तावेज़ी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इंडिया' पर आधारित नृत्य नाटिका प्रस्तुत की, जिसे विश्वव्यापी

सराहना मिली। लिटिल बैले ट्रूप की स्थापना के बाद 1959 से प्रभात गांगुली बहैसियत कोरियोग्राफर (नृत्य नाटिका निर्देशक) शामिल हुए। शांति दा के बाद 1965 से वे प्रिंसिपल कोरियोग्राफर की तरह रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप के साथ मृत्युपर्यन्त जुड़े रहे।

प्रभात दा किसी पार्टी के सदस्य नहीं थे, इप्टा के एक्टविस्ट होने के बावजूद किसी विचारधारा के पैरोकार होने का उन्होंने दंभ नहीं पाला था। उनकी दोस्ती का दायरा भी विचारधारा मुक्त ही रहा है। वे सर से पाँव तक कलाकार और कला-साधक थे। चूँकि उनके सरोकार जनकलाओं से जुड़े थे इसलिए जाहिरा तौर पर उनके विषयों और वस्तु में जनवाद की प्रचुरता थी। वे चाहते तो शास्त्रीय नृत्यों को या उपशास्त्रीय संगीत को शामिल करके लोक लुभावन, धनवर्षण किस्म के बैले तैयार कर सकते थे, पर यह नहीं किया गया। प्रतिज्ञापूर्वक नहीं किया गया। उनके बैले वाली थीमों पर बात बाद में। फ़िलहाल जिक्र उन पागलपनों का जो हर सृष्टि और हर बामकसद सर्जना के लिए ज़रूरी होता है।

एक विधवा माँ का गरीब बेटा, जिसे न स्कूल मुहैया हुआ न खिलौने, यहाँ तक कि मोहल्ले के लड़कों ने उसे साथ खिलाने लायक न समझा। एक बार उसे एक संगेमरमर का टुकड़ा पड़ा मिला। वह उसी से खेलना चाहता था पर सम्पन्न लड़कों की नजर उस पर पड़ गयी और संगेमरमर के सितोलिया के पत्थर को चुराने का आरोप लगाकर उसे मारा गया। वह अपमान-तिरस्कार और कुंठा से भर उठा...।

यह सच था कि मुंबई में पवई लेक के पास एक कीमती भूखंड पर एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे बैले का अभ्यास चलता था, यह भी सच है कि कई लोकप्रिय फ़िल्मों की नृत्य संरचनाएँ और कोरियोग्राफी एल.बी.टी. से प्रभावित रही हैं, यह भी सही है कि कई नामी-गिरामी फिल्मों जिनमें आर.के. स्टूडियोज की फ़िल्में भी हैं बैले कलाकारों ने नृत्य संरचनाएँ दी हैं लेकिन कलाकारों के फुदककर फिल्मों के एक्स्ट्रा बनने की बीमारी से बैले ग्रुप तंग था। एक बार समस्या का ज़िक्र इंदिरा गांधी से किया गया और कहीं और जगह दिलवाने की प्रार्थना की गयी। हालांकि जवाहरलाल नेहरू की दिलवाई ज़मीन देहरादून में थी पर वह भू-माफिया के साथ मुक़दमेबाज़ी में फँसी थी। इत्तिफ़ाक से उस वक्त मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री द्वारका प्रसाद मिश्र थे। उन्होंने कहा बताइये आपको मध्यप्रदेश में कहाँ जगह चाहिये, हम आपको तुरंत उपलब्ध कराएँगे। प्रभात गांगुली उठे, नक्शे के पास गये, मध्यप्रदेश के हिस्से पर नजर गड़ाई और ग्वालियर पर उँगली रखकर कहा कि गुल-ग्वालियर ठीक रहेगा? गुलबर्धन ने कहा ठीक है, तानसेन की नगरी, यह कलातीर्थ तो होगी ही। और ट्रूप ग्वालियर आ गया जहाँ नवनिर्मित विज्ञान महाविद्यालय होस्टल उन्हें मिल गया। तानसेन के अलावा उन्हें ग्वालियर के इतिहास-भूगोल, वृत्तियों और नगर-स्वभाव के बारे में कोई जानकारी नहीं थी मगर कलाओं की जरखेज जमीं छोड़कर, सागर-झील का किनारा छोड़कर सूखी झील में बसे ग्वालियर आने में उन्होंने क्षणांश नहीं लगाया।

यहाँ आर्थिक दुरावस्थाएँ बढ़ीं। फिर ग्वालियर छूटा क्योंकि औसतन एक साल में एक के मान से भी उन्हें 'शो' नहीं मिलते थे। भोपाल में नयी कला-राजधानी बनने का बड़ा हल्ला हुआ। उत्सव 73 में 'भैरवी' नृत्य नाटिका का प्रदर्शन हुआ जिसे भूरि-भूरि प्रशंसा मिली। सरकार ने तमाम वादे किये-ट्रूप भोपाल आ गया। एक सरकारी बंगला पैंतालीस बंगले में अलाट भी हुआ। पर एक पत्रकार ने यह उपलब्धि भी उनसे छीन ली। सरकार ने यह बंगला अंततः पत्रकार को दे दिया। तपोनिष्ठ कला-साधना का इतिहास, एक पत्रकार की ठसक से हार गया। मजबूरन निजी मकान बदल-बदल कर प्रभात दा को रहना पड़ा और यही हालत उनके कलाकारों की रही। नृत्य-अभ्यास और बैले की विपुल सामग्री रखने के लिए उन्होंने पत्रकार-भवन किराये पर लिया, वो भी अंततः (पत्रकारों की आंतरिक राजनीति के चलते) उन्हें छोड़ना पड़ा। बाद में बहुत कोशिशों के बाद देहरादून की ज़मीन बेचकर, प्रभात गांगुली और गुलबर्धन द्वारा अपने जीवन भर की कमाई लगाकर रंगश्री के रागबंध की रचना हुई। मृत्यु पूर्व यह सपना साकार हुआ जिसे प्रभात दा ने शांतिवर्धन-गुलबर्धन के साथ मिलकर देखा था।

'मैं बरज्यो कै बार तुम इत कित लेत करौट/ पँखुरी लगे गुलाब की परिहै गात खरौट।' ...रंग का, रूप का, खुश्बू का यह जो प्रभात गांगुली था, जिसका चमड़ा फूल की पँखुरी से भी छिल सकता था ताउम्र घाव खाता रहा, लहू बदन से रिसता रहा पर कभी किसी के खिलाफ कुछ बोला नहीं। एक बार तो पटवा सरकार के समय उन्हें शिखर सम्मान दिया गया

और उसके अगले ही दिन उनको प्रदत्त भूखंड छीनने के आदेश हो गये। तब प्रभात गांगुली ने शिखर सम्मान लौटाने की घोषणा की। इससे मामला गर्म हुआ और किसी तरह ज़मीन बची। मगर गात और आत्मा पर खरोंच ज़रूर ली।

वह दुर्भाग्यपूर्ण दिन कभी भुलाये नहीं भूलता।...बर्फ़ की सिल्ली पर दादा ख़ामोश लेटे हैं। गुल दीदी ने ग्रेण्ड फ़ेयरवेल देने के लिए उनका पसंदीदा संगीत चला रखा है। अगरबत्ती, लोबान का धुआँ है, फूल हैं। मैं ख़ामोश। मुझे उनके मज़ाक याद आ रहे हैं 'मेरे जनाज़े को मंदिर-मसजिद के सामने से मत ले जाना, आजकल वहाँ नफ़रत घुलती हैं।

एक विधवा माँ का गरीब बेटा, जिसे न स्कूल मुहैया हुआ न खिलौने, यहाँ तक कि मोहल्ले के लड़कों ने उसे साथ खिलाने लायक न समझा। एक बार उसे एक संगेमरमर का टुकड़ा पड़ा मिला। वह उसी से खेलना चाहता था पर सम्पन्न लड़कों की नजर उस पर पड़ गयी और संगेमरमर के सितोलिया के पत्थर को चुराने का आरोप लगाकर उसे मारा गया। वह अपमान-तिरस्कार और कुंठा से भर उठा...। एक पैग और...। वह लड़कियों, सुन्दर-युवतियों के वृत्त में नृत्यरत है... नाच शबाब पर है। उसकी कला की सराहना हो रही है। युवतियाँ उसकी कला के प्रति अनुरक्त दिख रही हैं तभी एक बलिष्ठ युवक आता है और उसे पीटते हुए दृश्य से बाहर ले जाता है। शराबी कहना चाहता है हम वो कम-ज़र्फ़ नहीं जो बहकते जाएँ/मिस्ले गुल जाएँ, जिधर जाएँ महकते जाएँ।

लेकिन फूल का स्वतंत्र रूप से खिलना ही तो समाज में कठिन है। पूरा वातावरण उस स्वाभाविक खिलन के विरुद्ध है। ...एक होली याद आती है नशे की तरंग में। एक सुकुमारी से होली खेलना भी याद आता है। यह अकेली व्यक्ति है जिसने उसे सहानुभूति से देखा, समझा, चाहा और उसकी पारदर्शिता से प्यार किया, मगर उसके घरवाले आकर होली के रंग में भंग कर देते हैं और उसकी शादी जबरन किसी और से कर देते हैं होली का दृश्य विवाह और बरात के दृश्य में बदल जाता है। इकलौते प्यार और सहानुभूति को खोकर नृत्य नाटिका का कथानायक मुकम्मल 'बेवड़ा' बन जाता है। हरचंद कोशिशों के बावजूद न उसे समाज में सम्मान मिलता है न जगह। असामाजिक होना उसकी नियति बना। कुंठा, निराशा और तज्जनित अपकार्य उसके पाथेय बने। अंततः वह एक दिन चलती ट्रेन से कूदकर ख़ुद को ख़त्म कर लेता है। जिनको अपने जीवन को कोई मक़सद देने का हक़ भी मुहैया न हुआ, उनके लिए जीवन, 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूँ ही तमाम होती है' से अधिक क्या है?

मैंने कई बार प्रभात दा से पूछा इस करुण कथा में आप कितने हैं? प्रभात दा ने कभी जवाब नहीं दिया। दिया भी तो एक मोनालिसा जैसी जटिल मुस्कान के द्वारा जिसका स्पष्ट अर्थ कभी समझ में नहीं आया। कैफ़ी याद आते हैं 'जिस तरह हँस रहा हूँ पी पी के गम, यूँ दूसरा हँसे तो कलेजा निकल पड़े।'

प्रभात दा के निर्देशन में मैंने कला मंदिर के एक जासूसी नाटक 'किसका हाथ' में अभिनय किया। नाटक पहले भी बहुत किये थे पर नाटक की बारीकियों, उसके अंग-उपांगों के बारे में पहली बार उनसे जाना। वरना हमारे लिए किरदारों की नकल ही नाटक था। भाँड-मिरासी स्वांग धरते हैं, नाटक नहीं करते, यह उन्हीं से जाना।

दादा और गुल दी के साथ ग्वालियर और भोपाल में कितनी शामें, कितने घंटे, कितने दिन गुजारे हैं, यह शायद कोई नहीं बता सकता। ऐसा भी हुआ, जब महीनों नहीं मिले। अंतिम दिनों में बहुत अशक्त थे। मैं कहता- 'हलो ओल्ड यंगमैन'- तो वे मुस्कुरा देते या हाथ हौले से दबा देते। वे मेरे सबसे उम्रदराज़ मित्र थे। मुझसे ढ्योडी उम्र के। उम्र के फासले कैसे पाटे जाते हैं, काश किसी ने प्रभात दा से सीखा होता।

मेरी बेटी की शादी में न प्रभात दा आये, न उनका तोहफा। गुल दीदी भी नहीं आयीं। गुस्से में घर गया तो देखा प्रभात दा बेसुध सोये थे। खाना बनाने वाले प्रहलाद और गिरीश महंत ने बताया कि कल ही दादा हास्पिटल से डिस्चार्ज होकर आये हैं। शिकायत खत्म हो गयी, पर दादा से बात नहीं हुई। मैं लौट आया। बाद में वे कब अस्पताल में कभी न लौटने के लिए भरती हुए, पता ही नहीं चला। वरना अस्पताल मेरे घर से बहुत पास है।

वह दुर्भाग्यपूर्ण दिन कभी भुलाये नहीं भूलता। ...बर्फ़ की सिल्ली पर दादा ख़ामोश लेटे हैं। गुल दीदी ने ग्रेण्ड फ़ेयरवेल देने के लिए उनका पसंदीदा संगीत चला रखा है। अगरबत्ती, लोबान का धुआँ है, फूल हैं। मैं ख़ामोश। मुझे उनके मज़ाक याद आ रहे हैं 'मेरे जनाज़े को मंदिर-मसजिद के सामने से मत ले जाना, आजकल वहाँ नफरत घुलती हैं।... मयखानों के रास्तों से होकर जरूर ले जाना और दम भर के लिए गर्ल्स

हास्टल के सामने जरूर रुकवा देना ताकि सौंदर्य साधक यह मुर्दा उठकर अंतिम बार सौंदर्य दर्शन कर सके और कह सके, खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं...।' उनकी ज़िन्दादिली पर सोच-सोच कर आँखें भर-भर आती हैं।

उस रात जब सब कुछ शांत-सा था, एक शांत निश्चल और सफेद शरीर के इर्द-गिर्द चन्द लोग थे। माधव, प्रहलाद, अभय फगरे, रमाकांत, बिन्दु जुनेजा, संगीता गुंदेचा, गजेन्द्र, तरुण, मोनिका, भूपेन्द्र, रानी और पद्मा। आनंद सिन्हा प्रेस को सूचना देने में व्यस्त था। रात को ही तय हुआ कि निराडम्बर जीवन जीने वाले व्यक्ति की अंत्येष्टि भी निराडंबर ही होगी। कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं, कोई कर्मकाण्ड नहीं। जिन मूल्यों के लिए वह शख़्स जिया, उसे उन्हीं के साथ विदा करना चाहिये। इसलिए उन्हें चार कदम पास के भदभदा श्मशान के बजाय दूरस्थ सुभाष नगर ले जाया गया जहाँ 'इलेक्ट्रिक केमेटोरियम है। सोचता हूँ कि इतिहास भले ही प्रभात दा के अवदान को स्वर्णाक्षरों में लिखे पर ऐसे कला साधकों को कभी स्टेट आनर मिलेगा कि नहीं जिन्होंने मध्यप्रदेश का नाम दुनिया के 28 प्रमुख देशों में चमकाया! कृतघ्न सरकार के पास ऐसे साधकों के लिए एक परचम का कफन तक क्यों नहीं जुट पाता है?

सज्जाद ज़हीर की नज़्म का अंश है तुमने मोहब्बत को मरते देखा है?/चमकती हँसती आँखें पथरा जाती हैं/दिल के दालान में परीशान गर्म लू के झक्कड़ चलते हैं/गुलाबी अहसास के बहते सोते खुश्क/और लगता है जैसे/किसी हरी-भरी खेत पर पाला पड़ जाय/लेकिन यारब/आरज़ू के मुरझाये सूखे फूलों/इन गुमशुदा जन्नतों से/कैसी सन्दली/दिल आवेज़ा ख़ुश्बुएँ आती हैं।

प्रभात दा नहीं हैं। उनकी स्मृति है। ख़ुश्बू है। रंगश्री लिटिल बैलेट्रुप ट्रस्ट से उनका रिश्ता उनके पार्थिव जीवन के साथ ही समाप्त नहीं हुआ। उन्होंने अपनी वसीयत रंगश्री की महासचिव गुलबर्धन के नाम कर दी जिसमें उनकी ज़िन्दगी भर की कमाई थी। वसीयत में उनका सपना था। रागबंध नाम से एक ओपन एयर थियेटर भर बन पाया था उसे प्रोसीनियम थियेटर का रूप देना बाकी था। मृत्यु उपरान्त उनकी कमाई से ओपन एयर को छत नसीब हुई। वाटर कर्टन नसीब हुआ। रागबंध अब भी अधूरा है। उसमें कुर्सियाँ नहीं हैं। एयर कंडीशनिंग नहीं है। थियेटर की ज़रूरत के मुताबिक लाइट इक्युपमेण्ट्स नहीं हैं। थियेटर का नाम ट्रस्ट ने प्रभात गांगुली स्मृति रागबंध रख दिया है। वह मकान जिसे चाव से प्रभात दा और गुल-दी ने बनाया था, उसे पुस्तकालय-सह संग्रहालय-सह शोध केन्द्र बनाने का काम जारी है। बेशक पूरे ट्रस्ट की इसमें रुचि है। यह संभवत: ग्वालियर के आर्टिस्ट कंबाइन और जबलपुर के सेठ गोविन्ददास निर्मित रिवाल्विंग थियेटर के बाद अकेला थियेटर है जो केन्द्र या राज्य शासन की मदद के बगैर खड़ा है और फिलवक्त मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय की ज़रूरत पूरी कर रहा है।

यह प्रभात दा की ख़ुश्बू ही है जिसकी बदौलत भोपाल के दीगर भवनों की तरह रंगश्री परिसर शादी घर, नीलाम घर या सेल महासेल का केन्द्र नहीं बना। इसका लैण्डयूज नहीं बदला। रंगश्री रंगभूमि ही बना हुआ है। यह प्रभात दा की स्मृति के लिए प्रणति निवेदन जैसा ही तो है।

आज शताब्दी-वर्ष में उनको याद करते हुए मैं सोचता हूँ कि रंग-रूप और खुश्बू के प्रतिरूप कैसे पसीने की गंध से रचे जाते हैं। आज जब 'महानायक' और 'भारत रत्न' तेल, साबुन और इन्वर्टर बेचते नज़र आते हैं तो अशक्त, बूढ़े प्रभात दा का असहमति में उठा हाथ याद आता है, जिन्हें न सिद्धान्तों से समझौता कभी रास आया, न कला को नीलाम घर बनाने वालों का ख़्वाब। प्रभात दा ने समय के शिला लेख पर भले ही गाढ़ी स्याही से हस्ताक्षर नहीं किये लेकिन जो मूल्य गढ़े वे हमेशा ही हमें प्रेरित करते रहेंगे।

● धर्मेन्द्र प्रताप सिंह

हबीब तनवीर और 'आगरा बाज़ार'

'आगरा बाज़ार' की रचना तक हबीब की दृष्टि इस ओर थी कि किस तरह नाटक को अधिक से अधिक जन सामान्य से जोड़ा जाए क्योंकि जन से जुड़े बिना उन तक अपने नाटक को ले जाना असंभव ही था। इस प्रयास में उन्होंने अपनी रंगदृष्टि विकसित की जिसका परिणाम है 'आगरा बाज़ार'।

साहित्य की अन्य विधाओंमें 'लोक' की अभिव्यक्ति भले ही परिस्थितियों के कारणवश रही हो पर नाटकों के मूल में यह उसकी उद्भावना काल से ही है। परंपरा से मिले चार वेदों से भिन्न जब आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की स्थापना की तो उसके मूल में इसी व्यापक लोकोन्मुखता का निर्वाह था तथा उसी लोक की पक्षधरता करना था जिसकी पहुंच चारों वेदों तक नहीं थी। 'नाट्यशास्त्र' अपनी मूलस्थापना में लोकोन्मुखता है। स्पष्ट है कि संस्कृति परंपरा के समय से ही 'लोक' नाटकों की विषयवस्तु बनते रहे हैं।

बीसवीं सदी के मध्यकाल में हबीब का अवतरण होता है। भारतेंदु के रंगचिंतन से ऊर्जा ग्रहण करते हुए वे एक ऐसे नाटककार और रंगचिंतक के रूप में हमारे सामने आते हैं जिन्होंने सच्चे अर्थों में भारतीय रंगदृष्टि को उसकी सार्थक पहचान दिलाने की कोशिश की। हबीब तनवीर, जिन्होंने भारतेंदु के नाटकों या उनके रंगचिंतन से सीधा प्रभाव ग्रहण किए बिना, लगभग उसी भावधारा को फिर से प्रवहमान बनाया, जो भारतेंदु की रंगचिंता का प्रमुख कारक तत्व थी। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतेंदु के नाटकों का मुहावरा और हबीब तनवीर के नाटकों का मुहावरा पूरी तरह एक ही ज़मीन पर प्रतिष्ठित है और दोनों ही नाटककार अपने रंगसृजन में लोकतत्वों से ऊर्जा ग्रहण करते हैं।

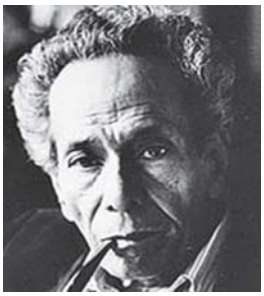

हबीब ने भारतीय संस्कृति के बहुआयामी पक्षों का सच्चा व स्पष्ट प्रतिबिंब लोकनाटकों में ही देखा और पाया। हबीब तनबीर ने भारतीय संस्कृति को समकालीनता से जोड़ते हुए लोकनाटकों को बीसवीं सदी में नई शक्ति और ऊर्जा प्रदान की।

आधुनिक काल में हिंदी रंगमंच के पितामह भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर आज तक के नाटकों में 'लोक' का सार्थक प्रयोग होता रहा है। भारतेंदु तथा प्रसाद के नाटकों में 'लोक' तथा 'लोकाख्यान' जातीय गौरव और संस्कृति की आधारभूमि की निर्मिती के सहायक तत्व हैं। इन नाटककारों ने अपने नाटकों में मिथकीय एवं लोकआख्यानक प्रसंगों को कथ्य का आधार बनाकर सामयिक संदर्भों से जोड़ा। स्वातंत्र्योत्तर भारत में इन लोकाख्यानों को अपने नाटकों का आधार बनाया परंतु उनमें से कई आधुनिक बनने के फेर में विकृति की सीमा तक पहुंच गए तो कुछ रोचक और सुंदर प्रयोग साबित हुए।

लोकप्रेमी रंगकर्मी हबीब इस संदर्भ में थोड़े अलग और अधिक ज़मीनी कहे जा सकते हैं। इन्होंने अपने नाटकों की 'लोक' की पृष्ठभूमि को प्रयोगधर्मिता के नाम पर विद्रूप नहीं होने दिया। बल्कि अधिक सार्थक एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की और काफ़ी हद तक सफल भी रहे। भारतीय नाट्यपरंपरा में लोक को प्रतिष्ठित करने के जिन उद्यमों की हम सराहना करते आए हैं, हबीब तनवीर का रंगकर्म आधुनिक नाट्य में उसका नेतृत्व करता रहा है। ...'लोक' उनके यहां हाशिए का पर्याय नहीं है, वरन उस बहुलतावादी, बहुजन और अवाम का उद्घोष है जो इस देश का मेरूदंड है। इस कारण से तनवीर साहब का रंगकर्म केवल हिंदी का ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारत का प्रतिनिधि रंगकर्म है जिसमें हमें भारतीय जन की आस्था भी दिखाई देती है तो आकांक्षा भी, संघर्ष भी दिखाई देता है तो सपना भी। हबीब तनवीर ने भारतीय रंगकर्म को देसी चेतना तथा संस्कारों के साथ-साथ जनता की बोली में भी विन्यस्त किया।

वस्तुत: हबीब यह जानते थे कि भारतीय संस्कृति के केंद्र में 'लोक' ही है तथा 'लोक' के साथ जुड़कर ही सार्थक रंगमंच की तलाश पूरी हो सकेगी। इसीलिए अपनी बात को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए वह भारत के केंद्र में पहुंचते हैं, आज भी गांवों में भारत की नाट्यपरंपरा अपने आदिम वैभव और समर्थता के साथ ज़िंदा है। उनके पास एक गहरी लोकपरंपरा है और इस परंपरा का नैरंतर्य आधुनिक रंगमंच के लिए आवश्यक है।

हबीब का मानना था, हमें अपनी जड़ों तक गहरे जाना होगा और अपने रंगमंच की निजी शैली विकसित करनी होगी जो हमारी विशेष समस्याओं को सही तरीके से प्रतिबिंबित कर सके। इसी आधार पर उन्होंने अपने प्राय: सभी नाटकों के द्वारा साहित्य की स्थापित मान्यताओं को खारिज किया और नए मुहावरे गढ़ने के लिए 'लोक' में व्याप्त उस धड़कन से रूबरू हुए जिसे पाश्चात्य प्रेमियों की दुनिया ने हाशिए पर डाल दिया था। 'आगरा बाजार' और 'मिट्टी की गाड़ी' से जिस नए मुहावरे की खोज में हबीब लगे उसको एक निश्चित आकार 1973 में 'गांव का नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' से मिला। 1975 में 'चरनदास चोर' के मंचन के साथ ही हबीब का रंगमुहावरा भारतीय रंगजगत में प्रतिष्ठित हो गया। मुहावरा संस्कृत, लोक और पाश्चात्य शैली का सफल मिश्रण था। चाहे 'आगरा बाजार' हो या 'गांव का नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' हो या 'चरनदास चोर' अवा 'हिरमा की अमर कहानी' हो, सभी में वे सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति के निस्कर्षों से परे अपने समय तथा लोक के मूल्यों की स्थापना के लिए निरंतर संघर्षशील रहे। भारतेंदु और टैगोर ने प्रयोग की जिस परंपरा का सूत्रपात किया था समकालीन रंगमंच में हबीब ने उसे आगे बढ़ाया, लोक से शक्ति प्राप्त करके प्रयोग से शास्त्र तक की अविराम यात्रा की है। लोक के माध्यम से शास्त्र के सारभूत तत्वों को ग्रहण करने की जो भावभूमि हमें हबीब तनवीर के नाट्य प्रयोगों में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। समग्रता में देखें तो, निर्विवाद है कि उन्होंने भारतीय समकालीन रंगकर्म को ऐसा नया मुहावरा दिया है, जो विशुद्ध रूप से देशज होते हुए भी सार्वदेशिक और सार्वजनीन है।

हबीब यह जानते थे कि भारतीय संस्कृति के केन्द्र में 'लोक' ही है तथा 'लोक' के साथ जुड़कर ही सार्थक रंगमंच की तलाश पूरी हो सकेगी। इसीलिए अपनी बात को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए वह भारत के केंद्र में पहुंचते हैं, आज भी गांवों में भारत की नाट्यपरंपरा को अपने आदिम वैभव और समर्थता के साथ जिंदा है।

हबीब का यही रंगप्रयोग उन्हें आज़ादी के बाद के रंगपरिदृश्य में महत्वपूर्ण स्थान दिलाता है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण समय है। प्राय: सभी महत्वपूर्ण नाटककार, सभी महत्वपूर्ण रंगकर्मी, भारतीय रंगदृष्टि, भारतीय रंग परंपरा, भारतीय लोक परंपरा की ओर देख रहे हैं और उनमें सबसे महत्वपूर्ण और सबसे पूरी सघनता, पूरे अपनेपन और पूरी धुन, रंगधुन के साथ काम कर रहा जो आदमी है, व्यक्ति है, वह है हबीब तनवीर।

वस्तुत: हबीब ने लोक को मेन स्ट्रीम में ला खड़ा किया और इस तरह से लोकजीवन की गरिमाओं को आत्मसात करने की जो परंपरा आज़ाद भारत में शुरू हुई उसके प्रतिनिधि नाटककार के रूप में स्थापित हुए 'हबीब तनवीर' तथा उनका प्रतिनिधि नाटक है 'आगरा बाज़ार'। सन् 1954 में हबीब ने जामिया मिलिया के कुछ अध्यापकों एवं छात्रों के साथ ओखला गांव के कुछ विद्यार्थियों को साथ लेकर नजीर अकबराबादी की कविताओं पर एक छोटा सा रूपक तैयार किया। यह रूपक लोगों को बहुत पसंद आया और धीरे-धीरे एक भरे-पूरे नाटक की शक्ल अख़्तियार करता गया। यह नाटक था 'आगरा बाज़ार'।

18वीं सदी के एक बिल्कुल ही अलग उर्दू शायर हैं नज़ीर। उनके समकालीन समाज की शायरी और शायराना अंदाज़ एक ख़ास क़िस्म की नफ़ासत और नज़ाकत की मांग कर रहा था। जबकि उन्हें शायरी में नफ़ासत और नजाकत उस रूप में मंजूर नहीं थी जो तत्कालीन समाज की आन-बान और शान की कसौटी थी। नज़ीर सहजता, सरलता और स्पष्टता के शायर थे। उन्होंने साहित्य की स्थापित मान्यताओं को ख़ारिज किया। उनकी नज़र में हाशिए पर पड़ी यह ज़िंदगी ही उनके वक्त की सबसे बड़ी सच्चाई थी। नतीजन उनके समय के अदीबों ने उनकी शायरी को कोई अहमियत नहीं दी और महज तुकबंदी कहकर टाल दिया। लेकिन इससे अलग उनकी शायरी उतनी ही तेजी से आम लोगों के बीच अपनी जगह तलाश चुकी थी। हबीब ने नज़ीर के जीवन की इसी सच्चाई के आधार पर 'आगरा बाज़ार' की रचना की। इस पृष्ठभूमि में 'आगरा बाज़ार' की लोकोन्मुखता को निम्न रूपों में देखा जा सकता है।

यह नाटक केवल एक कवि और उसकी कुछ कविताओं तक ही सीमित नहीं है। इसमें नजीर की जो कविताएं हबीब ने ली हैं वे सामान्य तौर पर नैतिक मूल्यों से ओत-प्रोत हैं और नाटक के केंद्र में आम आदमी की परिस्थिति का ही विवरण प्रस्तुत करती हैं। जीवन एक बाज़ार है जहां मनुष्य खरीदता-बेचता है। जब वक्त बुरा होता है तो निम्नवर्ग आपस में लड़ता-झगड़ता है। उच्चवर्ग में भी इसी प्रकार की व्यावसायिक बुद्धि दिखाई देती है। वेश्यालय में भी अपनी धाक जमाने के लिए खरीद-फरोख़्त होती है और बेनज़ीर का ध्यान आकर्षित करने के लिए पुलिसवाला उसके सबसे सफल ग्राहक को खोमचे वालों के बीच झगड़ा कराने के आरोप में गिरफ्तार कर लेता है। लेकिन ऊंच या नीच, उदार या क्षुद्र, सभी आदमी ही हैं। इसलिए हबीब नाटक के अंत में सभी व्यक्तियों की समानता को 'आदमीनामा' के माध्यम से व्यक्त करते हैं- दुनिया में बादशाह है सो वह भी आदमी/और मुफ़लिसो-गदा है सो है वह भी आदमी/काला भी आदमी है और उल्टा है ज्यूं तवा/ गोरा भी आदमी है कि टुकड़ा-सा चांद का।

बदशक्लो-बदनुमा है, सो है वह भी आदमी। 'आगरा बाज़ार' में हबीब ने कहीं भी शास्त्र सम्मत नाट्यरुढ़ियों का प्रयोग न कर 'लोक' की प्रतिष्ठा की ओर उन्मुख हुए हैं। इसमें न तो कोई पात्र नायक के रूप में उभरता है और न ही नायिका के। कथानक संगठन की कार्यावस्था, अर्धप्रकृति और संधि जैसी नियमावली नियमबद्धता ही अधिक है, रचनात्मक प्रयोग कम। पश्चिम की नाट्य-पद्धतियों को हबीब इस नाटक में स्वीकार करते हैं। वास्तव में संस्कृत और पश्चिम के नाटकों की नाट्यकला का परिचय तो हबीब को 'आगरा बाज़ार' की रचना और प्रस्तुति के बाद हुआ। 'इस जमाने तक मैं न तो ब्रेख्त के ड्रामों से परिचित हो पाया था और न ही मैंने उस वक्त तक संस्कृत ड्रामों का अध्ययन किया था। नाटक की इन दोनों परंपराओं का परिचय मैंने 1955 में किया।''

हबीब की गहरी लोकचेतना का ही यह प्रमाण है कि इस नाटक के माध्यम से वह अभिजात्य साहित्य के नाम पर साहित्य को संकुचित दायरे में कैद करने की साजिश करने वाले पर करारी चोट करते हैं। उन्होंने यह बात भी उठाई है कि किस प्रकार अभिजात्य साहित्य के नाम पर कवि आत्मकेंद्रित या स्वकेंद्रित थे और उन्हें ही अनेक प्रकार के सम्मान भी प्राप्त होते थे। जबकि नज़ीर जैसे लोककवि को हिकारत की दृष्टि से देखा जाता था।

'आगरा बाज़ार' की रचना तक हबीब की दृष्टि इस ओर थी कि किस तरह नाटक को अधिक से अधिक जन सामान्य से जोड़ा जाए क्योंकि जन से जुड़े बिना उन तक अपने नाटक को ले जाना असंभव ही था। इस प्रयास में उन्होंने अपनी रंगदृष्टि विकसित की जिसका परिणाम है 'आगरा बाज़ार'।

हबीब साहब की कार्यप्रणाली में यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि जैसे उनके नाटकों में न नाटक का लेखक मौजूद है और न निर्देशक। कथानक में लोक है और मंच पर अदाकार। 'आगरा बाज़ार' भी इस फ़ार्म का नाटक है जिसमें संपूर्ण जन सामान्य ही

नायक बन जाता है। यह नाटक इसी जनसामान्य की विरोध गर्भित जीवन स्थितियों के माध्यम से अपनी नाट्यानुभूति को अर्जित करता है जिसके केंद्र में बाज़ार है और जहां विभिन्न चरित्र अपने समय की विरोधी रुढ़ियों और रीति-रिवाजों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'आगरा बाजार' नाटक का फ़ार्म ही लोक का है, लोकनाटक के फार्म को और उसके असर को जानबूझ कर ठूंसा नहीं गया है। फिर भी नाटक के डायलॉग से लोकनाटक की अदाकारी व कारीगरी के रंग फूटते हुए महसूस होते हैं।

हबीब की गहरी लोकचेतना का ही यह प्रमाण है कि इस नाटक के माध्यम से वह अभिजात्य साहित्य के नाम पर साहित्य को संकुचित दायरे में कैद करने की साज़िश करने वाले पर करारी चोट करते हैं। उन्होंने यह बात भी उठाई है कि किस प्रकार अभिजात्य साहित्य के नाम पर कवि आत्मकेंद्रित या स्वकेंद्रित थे और उन्हें ही अनेक प्रकार के सम्मान भी प्राप्त होते थे। जबकि नज़ीर जैसे लोककवि को हिकारत की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन जनसामान्य के इस कवि को इस प्रकार के नकारे जाने से कोई सरोकार नहीं था क्योंकि उनका वास्तविक सरोकार तो जनता की स्वीकृति से जुड़ा था क्योंकि कविता तो अंततः जनसामान्य के बीच में ही पनपती और ज़िंदा रहती है। नाटक में यह द्वंद्व किताबवाले और पतंगवाले की दुकान के माध्यम से प्रस्तुत होता है। हबीब ने बड़ी ही सूक्ष्मता से इस दृश्य की रचना नाटक में की है। एक ओर किताब वाले की दुकान पर मीर और ग़ालिब जैसे शायरों की चर्चा होती है

हबीब नज़ीर की शायरी के माध्यम से न केवल अपने समय की समस्याओं को उठाते हैं बल्कि अपनी नई रंगदृष्टि के लिए नया आयाम भी रचते हैं। वे एक सोद्देश्य, प्रगतिशील, जनतांत्रिक एवं सामाजिक सरोकार वाले नाटककार के रूप में स्थापित होते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कोरा मनोरंजन न होकर अपने समय की समस्याओं से समाज को अवगत कराना और जूझना है। यह नाटक न केवल आने वाले खतरों से आगाह करता है बल्कि अपनी संस्कृति और भाषा को बचाने के लिए सावधान भी करता है। आज के साहित्यकारों का यही लोकधर्म भी है।

गीत-संगीत और नृत्य 'लोक' का वह भीतरी तत्व है जो उसे निरंतर ऊर्जा प्रदान करता है। हबीब भी इस सच्चाई से वाक़िफ़ थे और इसलिए 'आगरा बाज़ार' में उन्होंने इनका सार्थक और मनोरंजनकारी प्रयोग किया है।

'आगरा बाज़ार' एक ऐसा नाटक है जिसमें संपूर्ण जन सामान्य ही नायक बन जाता है। यह इसी जनसामान्य की विरोध गर्भित जीवन स्थितियों के माध्यम से अपनी नाट्यानुभूति को अर्जित करता है जिसके केंद्र में बाज़ार है और जहां विभिन्न चरित्र अपने समय की रुढ़ियों और रीति-रिवाज़ों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

साहित्य और संस्कृति की मासिक ई-पत्रिका 'अपनी माटी' से साभार।

● विजय मनोहर तिवारी

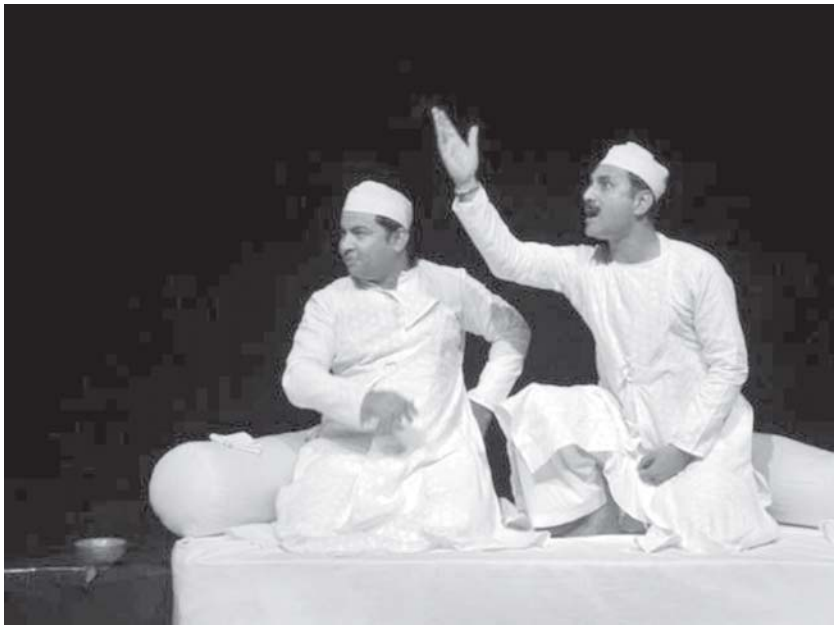

अधूरी दास्तानों का पूरा सच!

बारिश की झड़ी के दरम्यान भारत भवन में ये दो दिन बड़े ही यादगार रहे। रंगमंडल की 'दास्तानगोई' में पहला दिन मशहूर उपन्यास 'राग दरबारी' पर केन्द्रित था और दूसरा दिन 'कर्ण की कथा।' पहले दिन मेहमूद फ़ारूकी और दारैन शाहिदी, श्रीलाल शुक्ल की अमर रचना 'राग दरबारी' के साथ रूबरू थे। दूसरे दिन सवा दो घंटे की बेहद प्रभावशाली एकल प्रस्तुति में सिर्फ मेहमूद फ़ारूकी कर्ण की कथा सुनाने आए। दूसरा दिन पहले पर भारी था।

शायद आज की पीढ़ी यानी स्कूल-कॉलेज में पढ़ रहे नौजवान उस दौर के देश की कोई कल्पना ही नहीं कर सकते, जब न मोबाइल फोन थे, न इंटरनेट, न टीवी, न डीटीएच और न नेटफ़्लिक्स वगैरह-वगैरह। जब हवाई जहाज भी नहीं थे, रेलगाड़ियां भी नहीं और टैक्सी-बस नहीं। न्यूज़ पेपर नहीं थे, रेडियो नहीं था। तब दुनिया एक गहरी शांति में थी। मनोरंजन तब भी था, कम्युनिकेशन भी बराबर था। तरीक़े दूसरे थे, जो ज्यादा आत्मीय थे, बहुत करीबी थे। नाटक खेले जाते थे। लीलाओं का मंचन होता था। नृत्य और संगीत की सभाएं थीं। वह एक अनिवार्य सादगी का समय था। आज के 'परफ़ॉर्मिंग आर्ट' की भाषा में कहें तो कुछ लोग ऐसे होते थे, जो बातों को बहुत लुभावने और प्रभावी अंदाज़ में पेश करने के हुनरमंद थे। जो सामने बैठे लोगों को बांधे रखते थे। वे क़िस्से सुनाते थे। दास्तानें सुनाते थे। वे सुनाने लायक सब सुनाते थे और सिर्फ़ सुनने भर से लोगों को इतिहास और आसपास के किरदारों और घटनाओं की जानकारी याद ही हो जाती थी। दास्तानगोई एक ऐसी ही विधा थी, जो दौर बदलने के साथ वैसे ही याददाश्त के हाशिए पर चली गई, जैसे आज खटखट करते टाइपराइटर, पुराने काले रंग के फ़िक्स फ़ोन, बड़े रेडियो सेट, घर में आटा पीसने की चक्की, बैलगाड़ी वगैरह दर्शन से ही दुर्लभ हैं।

भारत भवन की इस दास्तानगोई में वही भूली-बिसरी रवायत जीवंत हुई, जिसे 2005 में यादों के अंधेरे तहखानों से निकालकर मेहमूद फ़ारूकी की टीम धो-पौंछकर बाहर ले आई थी। तब से अब तक वे कई लोगों को इसका हुनर सिखा चुके हैं और कई शहरों में कई दास्तानें सुना चुके हैं। भोपाल में उनका आना अब हुआ। दोनों दिन दो अलग विषय थे। पहले

दिन की दास्तान एक चर्चित किताब की और दूसरे दिन भारत के अतीत के एक महान किरदार की। 1968 में छपकर आई 'राग दरबारी' एक ऐसी किताब है, जिसे बहुतों ने बहुत-बहुत बार बहुत मज़े से पढ़ा है। इसका हर क़िरदार शोले फिल्म के क़िरदारों की तरह याददाश्त में रच-बस गया है।

पहली शाम, एक छोटी सी भूमिका के साथ दारैन और मेहमूद भोपाल के भारत भवन में अपने सामने बैठे सुनने वालों को अपनी बेहतरीन दास्तानगोई के पंखों की सवारी कराते हुए सीधे ले गए शिवपाल गंज। अब सामने है एक छोटा सा मंच, जिसके दोनों तरफ चांदी के प्याले रखे हैं। दोनों दास्तानगो के लिबास भी उसी दौर के हैं, जैसे आप लखनऊ में नवाबों की, हैदराबाद में निजामों की और दिल्ली में बादशाहों की हुकूमत के दौर में ही कहीं हजरत गंज, चार मीनार या चांदनी चौक में किसी ठसाठस भरी महफ़िल में दास्तानें सुन रहे हों। सफ़ेद झक ढीले पजामे, कुरते, ऊपर शायद अचकन और मुसलमानी टोपी। ऊर्दू का मीठा लहजा। दो-सवा दो घंटों में कसी हुई एक दास्तान।

शिवपाल गंज की मूल कहानी के कुछ चुनिंदा फ्रेम थे, जिसमें तीन-तिकड़म से लबालब भरी वही स्थानीय राजनीति के कुचक्र और प्रपंच थे, जो पचास साल पहले श्रीलाल शुक्ल की किस आंतरिक प्रकाशित अवस्था में आयतों की तरह काग़ज़ों पर उतरे थे। तब लिखने का मक़सद एक रोचक अंदाज़ में भारत के कस्बाई जीवन की एक सच्ची तस्वीर सामने रखना रहा होगा और आज भोपाल में इस दास्तान को सुनकर लगा कि अरे यह तो बिल्कुल आज के अपने आसपास की ही बात है। वैद्यजी, शनिचर, रुप्पन बाबू या मास्टरजी कहीं गए नहीं हैं। वे सिर्फ़ 'राग दरबारी' के कोई काल्पनिक किरदार भी नहीं हैं। वे तो रियल लाइफ़ के अमर पात्र हैं। हर कहीं हैं। पक्ष में भी, विपक्ष में भी। इस गांव में भी, उस कस्बे में भी और इधर राजधानी में भी। हर जगह भरपूर हैं।

दारैन और मेहमूद के साथ शिवपाल गंज में घूमते हुए कब सवा दो घंटे बीत गए पता ही नहीं चला। यह इतिहास के गहरे जानकार किसी कुशल गाइड के साथ एक 'हेरिटेज वॉक' जैसा अनुभव था। दास्तान को समेटने के लिए एक उपसंहार प्रभावशाली अंदाज़ में मेहमूद ने पेश किया, जिसके कुछ अंश मुझे हरी मिर्च के साथ फ्राई की गई तड़केदार लज़ीज़ दाल में आए कंकड़ की तरह लगे। वे कह रहे थे-'तो अगर आप निराशा में हैं तो अतीत में चले जाइए। आप पतंजलि के पास जाइए, कणाद के पास जाइए।' यह एक लंबा संवाद था। पता नहीं यह राग दरबारी का मूल अंश है या सिर्फ़ उनकी स्क्रिप्ट का एक उपसंहारी टुकड़ा। पता नहीं क्यों, हम अपने अतीत को इतने हल्के में लेते हैं। हंसी में। मज़ाक में। खिल्ली के अंदाज़ में। जैसे भारत की पुरातन विरासत का जो कुछ भी है, वह पोगापंथी परंपरा के सिवा कुछ नहीं है। ऐसे किसी भी प्रसंग में नाम लेकर पतंजलि या कणाद को घसीटना, दास्तानगोई के ऊंचे स्तर को कम करने वाला था। अगर मुस्लिम काल में ऊर्दू के ख़ुशबूदार लिहाज में पनपी एक शानदार और आदरणीय परंपरा दास्तानगोई है तो मुस्लिम काल के पहले भी भारत के कई महान काल बीते हैं, जिनके कई महान किरदार हैं, उनकी महागाथाएं हैं और वे कतई हास्य या हल्के में लिए जाने योग्य नहीं हैं।

मेहमूद ने हिंदी, ऊर्दू, फारसी, संस्कृत जैसी महान भाषाओं के शब्दों के ईंट-गारे से जैसे कर्ण का बामियान के बुद्ध जैसा विराट बुत खड़ा कर दिया। महाभारत का एक ऐसा महान क़िरदार, जिसके हिस्से में वह सब आया, जिसका वह पात्र नहीं था-उपेक्षा, अपमान और हताशा। लेकिन एक भावुक दर्शक के रूप में मेरे लिए यह सिर्फ दास्तान-ए-कर्ण नहीं थी, जिसे सुनकर मेहमूद की टीम की तारीफ करता हुआ घर लौट आऊं और फेस बुक पर एक पोस्ट डालकर राहत पाऊं।

दूसरे दिन मेहमूद फ़ारूकी ने यह शिकायत जड़-मूल से दूर कर दी। वे भारत की महान स्मृतियों में चमक रहे एक ऐसे ही किरदार को लेकर अकेले रूबरू हुए और सच कहूं तो महफिल लूट ले गए। मुझे लगा कि इसे क्यों चार सौ दर्शकों ने ही देखा-सुना। चार या चालीस हजार की सभा में भोपाल सुनता तो क्या ग़ज़ब होता!

महाभारत काल का वह क़िरदार था कर्ण। उसकी कथा तो सबको पता है। हर किसी ने सुनी है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक सुनी है। कई-कई बार सुनी है। लेकिन जिन्होंने मेहमूद फारूकी की दास्तान में नहीं सुनी, वे नोट कर लें कि अधूरा कर्ण ही उनकी स्मृति में है। मेहमूद की दास्तान ने कर्ण को उसके विराट रूप में पेश किया। इस दास्तान की स्क्रिप्ट मूल महाभारत के अलावा कई ऐसी किताबों से सजी थी, जिनमें से कुछ के बारे में बहुत कम लोग जानते होंगे। जैसे बादशाह अकबर द्वारा कराया गया इसका फ़ारसी

तर्जुमा, जो 'रज्मनामा' के नाम से मशहूर है। तीन सौ साल पहले किन्हीं तोताराम शायान का ऊर्दू अनुवाद, शिवाजी सावंत और रामधारी सिंह दिनकर की रचनाओं के अंश भी।

मेहमूद की प्रस्तुति ऐसी कि पलक झपकना भूल जाएं। चंचल मन बिना प्रयास के स्थिर हो जाए। मेहमूद ने हिंदी, ऊर्दू, फ़ारसी, संस्कृत जैसी महान भाषाओं के शब्दों के ईंट-गारे से जैसे कर्ण का बामियान के बुद्ध जैसा विराट बुत खड़ा कर दिया। महाभारत का एक ऐसा महान क़िरदार, जिसके हिस्से में वह सब आया, जिसका वह पात्र नहीं था-उपेक्षा, अपमान और हताशा। इन सबसे जीवन भर जूझता हुआ वह अपनी मूल चमक पर भी आंच नहीं आने देता। वह शान से अपने हिस्से की भूमिका पूरी करके एक दिन कुरुक्षेत्र के मैदान में आखिरी सांस लेता है। खुद कृष्ण जिसके गुणों के कायल हैं। लेकिन एक भावुक दर्शक के रूप में मेरे लिए यह सिर्फ दास्तान-ए-कर्ण नहीं थी, जिसे सुनकर मेहमूद की टीम की तारीफ करता हुआ घर लौट आऊं और फ़ेस बुक पर एक पोस्ट डालकर राहत पाऊं।

पांडवों से मुकाबले में जब एक सूत-पुत्र की पात्रता को सिद्ध कराने के लिए दुर्योधन उसे राजा घोषित करता है तो मेहमूद को सुनते हुए लगा कि किसी सफ़ेदपोश ने अपनी सियासत साधने के लिए आरक्षण का एक टुकड़ा इधर फैंका! कर्ण की मजबूरी है कि उसे अपनी क़ाबिलियत भी साबित करनी है और अपना हिसाब भी चुकता करना है तो वह आरक्षण की नियुक्ति को स्वीकार कर अपने जीते-जी दुर्योधन का भरोसा कायम रखता है। आज़ादी के बाद बाबा साहेब आंबेडकर ने एक पवित्र भाव से महान भारत के सदियों से पीड़ित ऐसे ही सूत-पुत्रों को आरक्षण का प्रावधान दिया था। वह समय की ज़रूरत और संविधान निर्माताओं की समझदारी का प्रतीक था। लेकिन बाद में हस्तिनापुर में हर कहीं दुर्योधनों का राज आया और सवा सौ करोड़ भारतीयों ने यह महसूस किया कि आरक्षण का वह पवित्र प्रावधान ख़ैरात का एक अपमानजनक टुकड़ा बन गया, जो कभी इधर फेंका गया, कभी उधर फेंका गया। आज के दुर्योधन सूत-पुत्रों की कई श्रेणियाँ बनाने लगे। दुर्भाग्य कि कर्णों को भी लगा कि वे इसके हक़दार हैं। हक़ की होड़ में आज के हजारों-लाखों कर्ण हर जगह लड़े-पड़े हैं। दुर्योधन हर दल में आनंद में हैं। वह कर्ण तो अपनी क्षमता और योग्यता से ख़ुद को सिद्ध करना चाहता था, लेकिन जाति की पहचान उसके महान गुणों पर एक आवरण की तरह चिपकी थी। वह जीवन भर इस खोल से बाहर अपने व्यक्तित्व को संसार के सामने प्रस्तुत करता रहा। मूल रूप से एक राजकुल का अंश होने की बात कुंती से ज्ञात होने के बावजूद वह अपने स्वामी के प्रति निष्ठा से हिला नहीं और भगवान के अवतार ने भी उसके विराट रूप को मान्यता दी।

कर्ण का किरदार हमें क्या सिखाता है? भारत भवन की दास्तानगोई क्या दो घंटे के स्वस्थ मनोरंजन की विचारोत्तेजक सभा भर थी, जिसके आयोजन के लिए पंकज राग और प्रेमशंकर शुक्ला की वाहवाही करके छाता तानकर बाहर आया जाए? यह दास्तानगोई आज के लाखों कर्णों को झकझोरने की कोशिश मुझे लगी। यह सफ़ेदपोश दुर्योधनों को भी हिलाने का विकट प्रयास है। यह आज के हस्तिनापुर के धृतराष्ट्रों और दुशासनों जैसे नीति-नियंताओं, सभासदों, शिक्षाविदों और आम नागरिकों को भी जगाने की एक ज़रूरी पहल है। हम ऊंच-नीच के नजरिए को दिमागों से निकाल दें। हम क़ाबिलियत से सबको एक समान आगे बढ़ने के मौके दें। आज के लाखों सूतपुत्रों को आरक्षण के अपमान से बाहर आकर यह सिद्ध करने की चुनौती है कि वे भी कर्ण ही हैं। किसी से कम नहीं हैं। वे वीर भी हैं और दानवीर भी। उन्हें किसी दुर्योधन के सौंपे हुए राजपाट की जरूरत नहीं है। वे अपनी शपथ स्वयं लिखेंगे। इस दास्तान के ज़रिए मेहमूद फ़ारूकी ने प्राणों का बल फूंककर महाभारत के इस महान किरदार को जैसे सामने जिंदा कर दिया था। कर्ण को अब तक जितना पढ़ा या सुना था, भारत भवन से उस भीगी हुई शाम बाहर आते हुए लगा कि वो सब अधूरा था, आज मेहमूद ने उस मूर्ति को पूरा कर दिया!

अंत में मध्यप्रदेश के संस्कृति विभाग और भारत भवन की पूरी टीम को इस शानदार पेशकश के लिए बधाई। उम्मीद करनी चाहिए कि भारत भवन के बाहर कभी इकबाल मैदान या काजी कैंप, चांदनी चौक, चार मीनार और हजरत गंज जैसी जगहों पर कर्ण की दास्तान सुनने का मौका मिले ताकि वो लोग जो भारत भवन जैसे सभागारों में नहीं आ सकते, उन्हें भी महान भारत की स्मृतियों में रचे-बसे कर्ण से रूबरू होने का मौका मिले।

गंगा-जमनी मुशायरों के ठिकानों पर मेहमूद फ़ारूकी कर्ण की कथा सुनाएं, यह कल्पना ही कितनी सुखद है। दास्तान के आखिर में मेहमूद ने कहा कि महाभारत की यह कथा जो दिल की गहरी चाहतों से सुनता है, उसके सारे गुनाह माफ हो जाते हैं। मैंने तो आपको दिल की गहराई से कर्ण की दास्तान सुनाई है। काश कभी मेहमूद फ़ारूकी 'दास्तान-ए-राम' सुनाने तशरीफ़ लाएं!

● मुकुन्द लाठ

बहते सुर का दरिया

संगीत की भाषा स्वर है, उसे लिखा नहीं, गाया–बजाया जाता है। कला भाव से संबंध रखती है और उसकी अभिव्यक्ति व्यंजना के माध्यम से होती है। लेकिन कला की व्याख्या, विवेचना, मीमांसा, सिद्धांत रचना, कला दर्शन आदि लिख–कहकर ही होते है। इसी चिंतन को 'बातचीत' के फ़लसफ़े पर हासिल किया ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधुओं ने। हमारे समय के महान संगीतकारों के साक्षात्कारों को इन बंधुओं ने 'सुनता है गुरु ज्ञानी' शीर्षक किताब में संग्रहित किया है।

कवि कविता के बारे में बात ही नहीं करते, लिखते हैं। पर संगीतकार हमारे यहाँ लिखने से कतराते हैं। अपने और अपने समय के संगीत पर लिखने वाले संगीतकार बहुत कम हैं। हाल ही छपकर आयी पुस्तक 'सुनता है गुरु ज्ञानी' इस कमी को पूरा करने का एक लक्षणीय प्रयास है। आज के विख्यात संगीतशिल्पियों से की गई ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधुओं की यह 'बातचीत' अपने आप में 'अलग' भी है। बातचीत ने प्रश्नोत्तरी का रुप लिया है, पर इसे संगीत में गहरे उतरे संगीतकार का अन्य संगीतकारों से संवाद कहना उचित होगा। किसी भी कला में कलाकार की अंतरंग, अभिज्ञ संवेदना जब प्रश्न और विचार की ओर बढ़ती है तो उसकी खोज में एक सहज आत्मसंधान का भाव होता है, जहाँ कला अपने ही पर प्रश्न करती हुई, अपने ही को खोजती है, अपने को और खोलना चाहती है। शिल्पी यहाँ इस बातचीत में अपनी कला के बारे में बात करते हुए विरल गहराइयों में उतरे हैं और हमें भी उतरने का निमंत्रण देते हैं। हममें बंधी लकीरों से, सोचने की बँधी–बँधाई प्रथा से हट कर अलग विस्तार और संभावना का बोध जगाते हैं। समझ को संधान के लिये ललकारते हैं।

आवश्यक नहीं कि कलाकार लिखे भी। लिखना विचार को ऊपर रखता है, पर कला–कर्म भी अपनी तरह का विचार ही होता है। भाव–चित्त का विचार। पर यह विचार अभिधा में नहीं, व्यंजना में होता है। उसकी शब्दों से अलग अपनी भाषा होती है, जैसे संगीत की भाषा स्वर है, उसे लिखा नहीं, गाया–बजाया जाता है। पर कोई भी कला हो, कविता ही सही जो शब्दों की कला है, कला भाव से संबंध रखती है और उसकी अभिव्यक्ति व्यंजना के माध्यम से होती है। यह बुद्धि का युक्ति–विचार नहीं होता, संवेदना का आत्मविमर्श होता है। पर युक्ति–विचार से, प्रत्ययों की भाषा से, अभिधा के सीधे, अवक्र वर्णन–लक्षण से हम बच नहीं सकते। कला–कर्म कितना ही व्यंजना–प्रतिष्ठ हो, कला पर बात अभिधा की मांग करती

है। कलाकार ऐसी बात भी करता ही है। अपनी विद्या को समझना, सिखाना, गुण-दोष का प्रकाश...., ये अभिधा की, युक्ति-विचार की मांग करते हैं, जिसके बिना हमारी किसी प्रकृत्ति या अभिव्यक्ति का काम नहीं चलता। यह संवेदना का नहीं, बुद्धि का आयाम है, और यह हमें लिखने की ओर भी अनायास प्रकृत्त करता है। कला का वर्णन-लक्षण ही नहीं, उसकी व्याख्या, विवेचना, मीमांसा, सिद्धांत-रचना, इतिहास, समीक्षा, कला-बोध-विमर्श, कला-दर्शन.... ये लिख कर ही होते हैं। इनका संप्रेषण-संरक्षण सहज ही लिखने की मांग करता है। यह विमर्श की प्रक्रिया है, अपना स्वतंत्र रूप और तंत्र उभारती है, अपनी परंपरा बनाती है जो व्यवस्थित चिंतन का, शास्त्र का, रूप लेती है। यह व्यापकतर विचार-संस्कृति का अंग होती है। मत-मतांतर, दृष्टि-भेद, चर्चा, वाद-विवाद में पलती है।

पर फिर भी हम पाते हैं कि कलाकार का विमर्श-विचार भी व्यंजना को सहज संजोये रखता है। इसलिये उसकी बात कभी विषम, विरोध-व्याहत सी जान पड़ सकती है। किसी गायक या रसिक की एक मामूली सी उक्ति लीजिये : तान ऐसी हलकी सी थी कि फुर्र से उड़ गई, ये आई, वो गई। ऐसी लक्षणा या उत्प्रेक्षा कहिये इससे हम परिचित ही हैं, इसे समझने में दिक्कत नहीं आती, लगता है, ठीक ही तो है, ऐसी (चिड़िया की) उपमा में ही अनुभव को कहा जा सकता है। पर व्यंजना और व्यापक होती हुई इससे कहीं गहरे उतर जा सकती है। तीखे स्वत:विरोध की ओर भी बढ़ती देखी जा सकती है। शिल्पी जब अपने शिल्प के स्वरूप को शिल्प की आत्मा को ही समझना-समझाना चाहता है, तब उसकी उक्तियों को देखिये। कवि कहता है, 'कविता मौन में बोलती है'। और (जैसा हम आगे देखेंगे) संगीतकार कह सकता है, 'संगीत स्वरों में नहीं, स्वरों के बीच ओझल रहता है। कहना न होगा कि ऐसी विरोधगर्भ उक्तियों का सार्थक ग्रहण हम व्यंजना को साथ रख कर ही करते हैं। ऐसी उक्तियाँ संवेदना का बुद्धि-विमर्श कही जा सकती हैं। ये हमारे शिल्प-बोध को बोध के मर्म में उतरने के लिये ललकारती हैं। पर ये हमारे विचार-विवेचना की युक्ति-बुद्धि को भी ललकारती हैं। मीमांसा की मांग करती हैं। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक देखिये।

पर अब बात नहीं बढ़ा कर मैं प्रस्तुत बातचीत से एक आधारगत विरोध का उदाहरण लेता हूँ। उस्ताद फ़हीमुद्दीन डागर से एक तीखा, बड़ा आधारगत सवाल पूछा गया है: 'डागर घराने में षड्ज को अचल नहीं मानते हैं। आप इसकी व्याख्या किस तरह करते हैं? विरोध यहाँ गहरा और हमारी संगीत की समझ की नींव पर ही बैठा दिखता है। षड्ज सचल होगा तो दूसरे स्वर बनेंगे ही कैसे? षड्ज के अचल आधार पर ही तो दूसरे स्वर अपना स्थान लेते हैं! या यों कहिये कि दूसरे स्वर षड्ज-सापेक्ष होते हैं। षड्ज एक स्थान पर स्थिर निरपेक्ष होता है।

संगीत स्वरों में नहीं, स्वरों के बीच ओझल रहता है। कहना न होगा कि ऐसी विरोधगर्भ उक्तियों का सार्थक ग्रहण हम व्यंजना को साथ रख कर ही करते हैं। ऐसी उक्तियाँ संवेदना का बुद्धि-विमर्श कही जा सकती हैं। ये हमारे शिल्प-बोध को बोध के मर्म में उतरने के लिये ललकारती हैं।

यह ठीक है, पर विचार कीजिये। यह देखिये कि उत्तर देते हुए उस्ताद षड्ज के चल-भाव को राग-भाव (उनके शब्दों में राग का 'तसव्वुर') के साथ जोड़ते हैं। डागर घराना हर राग के अनन्य स्वभाव में बड़ी सूक्ष्मता से उतरने का संधानी रहा है। सच पूछिये तो रागदारी का संधान ही यही है। हम रागदारी की टोह लेते हैं तो पाते हैं कि इस प्रक्रिया में राग प्रधान होता है, स्वर गौण। राग-गायकों (और राग-रसिकों) में यह अनुभव बहुत नया भी नहीं है। रागभाव की धारणा इसी अनुभव की उपज है। 17वीं सदी में अहोबल ने राग की प्रधानता को बड़े क्रांत स्वरों में व्यक्त करते हुए कहा था कि स्वर पहले नहीं होता, राग पहले होता है। हम स्वर को पूर्व-प्रदत्त मानने के आदी हैं, और शास्त्र भी यही कहते हैं, पर राग-संगीत में स्वरों का अपना कोई पूर्व-प्रदत्त स्थान या नियत अंतराल नहीं होता। स्वर का स्थान, उसका अन्य स्वरों से अंतराल, वही होता है जिसकी राग मांग करता है। और राग स्वरों का चयन अपनी तरह करता है, और उन्हें अपनी गति के भीतर जो स्थान देता है, वह स्थिर नहीं, चल होता है, ये राग के 'चलन' के साथ सचल, गतिशील बना रहता है। तात्पर्य यह कि रागदारी की आत्मा ही यह है उसमें स्वर की धारणा को किसी 'नियत स्थान' की धारणा से नहीं समझा जा सकता। राग और स्वर के संबंध का यह प्रधान-गौण-भाव रागभाव के भीतर उतरने के अनुभव में जागा है, और राग को स्वर पर प्राथमिकता देता है। उस्ताद फ़हीमुद्दीन का इशारा इसी ओर है। पर वे बात को एक कदम और आगे ले जाते हैं, षड्ज को भी चल बताते हैं। उनके कथन पर ध्यान दें तो आशय स्पष्ट है कि अहोबल की तरह ही उनके लिये भी राग और राग का अपना भाव-स्वभाव, यह प्रधान

है, राग के स्वर राग के अनुकूल लगते हुए ही अपना स्थान बनाते हैं। हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-स्वभाव, यह प्रधान है, राग के स्वर राग के अनुकूल लगते हुए ही अपना स्थान बनाते हैं। हर राग स्वरों का एक व्यूह, या मंडल बनाता है जिसमें राग-प्रयुक्त स्वरों का स्थान, उनका औचार ('उच्चारण', जिससे तात्पर्य है: उनका लगाव, उनका अन्य स्वरों से सम्बन्ध, स्वरों के बीच के अंतरालों पर स्वर-संचार) राग का अपना होता है, विशिष्ट होता है। यों रागदारी में स्वर चलायमान होता है, राग की गति के अनुकूल अपना स्थान बनाता चलता है।

पंडित देबू चौधरी एक दिलचस्प बात सामने रखते हैं। पश्चिम के संगीत में, हारमोनियम और प्राकृतिक पियानो का महत्व बहुत बड़ा है। बड़े ध्यान से नापतोल कर बराबर दूरी पर 'बाँधा' जाता है। इसे टेंपर्ड मेल – स्केल-कहते हैं। इसके बिना पश्चिम संगीत की पोलीफोनी (एकाधिक स्वरों का साथ बजना) पर पश्चिम में वायलिन भी एक प्रधान यंत्र है। वायलिन सारंगी की तरह सहज ही स्वर-प्रवाह को प्रश्रय देती है। पश्चिम की कोई रचना जब पियानो और वायलिन पर बजती है तो दोनों में बड़ा फर्क सुनाई देता है। कारण यही है कि वायलिन स्वर-नैरंतर्य यंत्र की प्रकृति का अंग है। स्वर वहाँ अनायास 'चल' हो जाता है। तभी यह यंत्र रागदारी के अनुकूल पाया गया है। हारमोनियम नहीं।

इसके बाद यह निष्कर्ष स्वत: सिद्ध लगता है कि षड्ज भी तो और स्वरों में स्वर ही है, उसकी प्रकृति अचल कैसे हो सकती है, वह भी चल ही है। पर विचार यहीं रुक नहीं सकता। प्रतिप्रश्न होगा दूसरे स्वरों में और षड्ज में क्या मौलिक अंतर नहीं है? षड्ज आधार श्रुति है। उसके आधार पर दूसरे स्वर बनते हैं, वह अपने होने में ही- अपने स्वरूप में ही-अन्य स्वरों जैसा स्वर नहीं है। वह स्थिर निरपेक्ष रह कर ही अन्य स्वरों की सापेक्षता को संभव करता है। वह घूमते हुए चक्र के नाभि-बिंदु की तरह है अचल रहता हुआ ही स्वर-चक्र को चलायमान रखता है। उसको निरपेक्ष रखते हुए ही अन्य-स्वरों की परस्पर-सचल सापेक्षता बनती है। डागर साहब इसी बात की ओर झुकते हैं जब वे यह कहते हैं षड्ज का कोमल-तीव्र नहीं होता, वे यह भी कह सकते थे कि दूसरे स्वरों की तरह षड्ज का लोप भी नहीं किया जा सकता। उसको लोप करने का अर्थ ही क्या होगा? क्योंकि कोई भी स्वर हो, कितना ही सचल हो, अचल आधार श्रुति से विशेष अंतराल/अंतरालों पर ही रूप लेता है। षड्ज, या 'सा' कहिये, वही अपने स्थान पर नहीं टिका हो, स्वभाव से स्थान-च्युत, विस्थित, विस्थापित हो तो सप्तक के अन्य स्वर बनेंगे कैसे? वे कितने ही चल हों, छिटक कर जहां कहीं भी तो नहीं भटक जा सकते! हर स्वर अंतरालों के सीमित वलय के भीतर ही बनता है। और यह वलय अचल, अनभटके षड्ज की अपेक्षा रखता है। तभी षड्ज के अचल होने की बात हमारे राग-संगीत-बोध की घुट्टी में ही पड़ी होती है। अनिवार्य भाव से ऊपर रहती है कहें न कहें, हम इसे मान कर चलते हैं। और तभी यह भी देखिये कि षड्ज हमारे लिये तानपुरे पर (या आधार श्रुति देनेवाले किसी और यन्त्र पर) जहाँ बनता है, हम उसको वहीं बनाये रखते हैं, अचल रखते हैं। उस्ताद फहीमुद्दीन जैसे रागदारी के प्रवीण, गहरे गायक तो बड़े जतन और अवधान के साथ ऐसा करते हैं। स्वर के चल-भाव को बड़ा बाँधा हुआ अचल आधार देते हैं। तानपुरे पर 'सा की जोड़ी विशेष ध्यान से बाँधते हैं। और यह भी सोचिये कि ऐसा न किया जाये तो स्वर और विस्वर (बेसुरा) में अंतर ही क्या होगा?

स्वर को हम कितना ही सापेक्ष मानें स्वर और विस्वर का भेद तो करते ही हैं। स्वर साधते हैं और विस्वर से बचते हैं, उसका निराकरण करते हैं। ऐसा क्यों? सभी स्वर-और स्वरों का आधार षड्ज भी- अगर चल है, तो स्वर-विस्वर में भेद करने का अर्थ ही क्या होगा? स्वर-मात्र को चल मानने वाले के लिये यह प्रश्न, प्रश्न ही बना रहेगा। इसका उत्तर क्या होगा? पर हर गाने-बजाने में, रागदारी में भी, साधना सुर लगाने की. बेसुरे से बचने की होती है। रागदारी विस्वरत्व की धारणा को, स्वर के बेसुरे हो जाने की संभावना को निराकृत नहीं करती। उसे तिलांजलि नहीं दे देती है, जैसा कि षड्ज को सचल मानने पर अनिवार्य है। कहना न होगा कि डागर साहब भी स्वर-विस्वर के भेद से इनकार नहीं करना चाहते-करते तो सीखने-सिखाने का ही कोई अर्थ नहीं बनता। उनके कहने का तात्पर्य वक्र है, व्यंजनामय है।

वे बहुत खूब जानते हैं कि स्वर कितने ही परस्पर सापेक्ष क्यों न हों, उनका स्वर-विशेष होना उस निरपेक्ष, ध्रुव, अचल ध्वनि को ऊपर रखता है जिसे

हम षड्ज या आधार श्रुति कहते हैं। यह ध्वनि किसी यंत्र पर उभारी न भी जाये को भी ऊपर रहती है: उस ध्वनि का हम लोप भी कर दें तो भी वह आधार के रूप में बोध-निहित रहती है। मूर्छना बनाने में हम सप्तक के दूसरे किसी स्वर-स्थान को षड्ज का रूप देने की दिशा लेते हैं। पश्चिम के संगीत में तो यह संगीत की गति का अभिन्न अँग भी होता है। पर रागदारी में यह एक छेड़ ही होती है, नहीं तो स्वर ही बदल जायेंगे, वह राग नहीं रहेगा जिसे हम विस्तार देना चाहते हैं। तभी तानपुरे पर षड्ज का घोष बनाये रखा जाता है। सच यह है कि राग के स्वर कितने ही सचल हों, उनका जो राग विशेष में व्यूह विशेष बनता है, वह षड्ज की (आधारश्रुति की) अचल नाभि पर ही टिका होता है। रागदारी में किसी भी स्वर का तत्वस्वर-विशेष होना षड्ज-सापेक्ष होता है, पर षड्ज अन्य-स्वर-सापेक्ष नहीं होता।

दोहराना न होगा कि उस्ताद भी षड्ज की इस 'स्थिति' को ऊह्य मान कर चल रहे हैं। पर फिर उनका आशय क्या? अगर कोई कुशल अभिज्ञ शिल्पी अकेला ही नहीं, उसका पूरा संप्रदाय या घराना ही, जानबूझ कर षड्ज को सचल कहता है तो बात तात्पर्यहीन स्वतोविरोध की या खोखला चमत्कार जगाने की नहीं हो सकती। बात को अयुक्त हठाग्रह कह कर भी नहीं टाल दिया जा सकता। स्पष्ट ही विरोध यहाँ विरोध नहीं, विरोध का तात्पर्य-रखता आभास है। विरोध में वक्रता है। हमारी लीक-चलती समझ को एक ऐसी चोट देने का आशय है यहाँ, जिससे वह लीक से हटे, खुले, कुछ गहराई में उतरे। रागदारी में निहित स्वर-धारणा की साधारण, 'शास्त्र-निष्ठ' अनपहचान की टोह ले, समझे।

मैं समझता हूँ बात का वक्र इंगित यह है कि रागदारी में स्वर को स्थान के रूप में नहीं, प्रवाह के रूप में देखना-समझना चाहिये। हमारा पुराना 'शास्त्रीय' बोध- जो आज का भी साधारण स्वीकृत सा बोध है-स्वरों को नियत स्थान पर स्थित मानता है। हमारी समझ में यह पैदा हुआ है कि स्वर स्वरूप से ही 'स्थित', 'अचल' होता है। और स्वरोह के बीच के अंतराल स्वर नहीं होते। पर रागदारी का स्वर बहता हुआ स्वर होता है। स्वरों के बीच का अंतराल विस्वर नहीं होता, अपने लगाव या प्रयोग-विशेष से स्वर को राग के अनुरूप खड़ा करता है। उसमें चल-भाव बना रहता है, जो स्वर को भी एक चलायमानता का स्पन्द देता है। रागदारी के स्वर-सप्तक में एक निरंतरता होती है जिसके लिये नदी की उपमा ली जा सकती है। ऐसा नहीं है कि स्वरों में नियत भाव होता ही नहीं, पर एक स्वर की नियति भी पूर्वप्रदत्त नहीं, राग के अनुकूल होती है, और फिर नियत स्वर भी अंगद का पाँव नहीं होता सचल स्पंद रखता है, राग की चाली में, या यों कहिये कि राग की गति के साथ उसका स्थान तत्वगति सापेक्ष भी हो सकता है, जैसे मींड, घसीट, आन्दोलन, कंप, गमक... जैसे प्रयोगों में। और यह बात षड्ज पर भी लागू होती है। षड्ज पर की गई गमक को ही लीजिये, वह षड्ज को बीच में रखती हुई उसके आसपास मँडराती है यही उसका 'गमक' (गतिशील) होना है।

सप्तक में नैरन्तर्य की संभावना को प्रधान रखना या न रखना, यह संगीत मात्र की प्रकृत्ति की ऐसी दो भिन्न दिशायें कही जा सकती हैं, जो संगीत के स्वरूप में ही निहित हैं। हारमोनियम दूसरी प्रकृति का प्रतीक है, और सारंगी पहले की। रागदारी में पहली प्रकृति बड़े आत्मचेतन भाव से हावी रहती है। पश्चिम के संगीत में दूसरी प्रकृति हावी रहती है। हारमोनियम हमारे लिये उस दूसरी प्रकृति का सूचक है जहाँ स्वर-नैरंतर्य को जानबूझ कर गौण रखा जाता है। तभी हम हारमोनियम पर आपत्ति करते हैं।

पंडित देबू चौधरी एक दिलचस्प बात सामने रखते हैं। पश्चिम के संगीत में, हारमोनियम-प्राकृतिक पियानो का महत्व बहुत बड़ा है। स्वरों को उसी पर रखा जाता है। बड़े ध्यान से नापतोल कर बराबर दूरी पर 'बाँधा' जाता है। इसे टेंपर्ड मेल - स्केल-कहते हैं। इसके बिना पश्चिम संगीत की पोलीफोनी (एकाधिक स्वरों का साथ बजना) पूरे सामंजस्य के साथ नहीं उभारी जा सकती। पर पश्चिम में वायलिन भी एक प्रधान यंत्र है। वायलिन सारंगी की तरह सहज ही स्वर-प्रवाह को प्रश्रय देती है। देबू चौधरी कहते हैं कि पश्चिम की कोई रचना-''पीस''- जब पियानो और वायलिन पर बजती है तो दोनों में बड़ा फर्क सुनाई देता है। कारण यही है कि वायलिन स्वर-नैरंतर्य यंत्र की प्रकृति का अंग है। स्वर वहाँ अनायास 'चल' हो जाता है। तभी यह यंत्र रागदारी के अनुकूल पाया गया है। हारमोनियम नहीं। पर वायलिन यह भी दिखाती है कि हमारे विपरीत पश्चिमी संगीत में जहाँ स्वर को स्थान-विशेष पर अचल बाँध देने की मांग गहरी है, संगीत के स्वरूप में ही निहित है, वहाँ भी नैरंतर्य को सर्वथा त्यागा नहीं जाता। यह त्याग संभव ही नहीं है। पर स्वर की अचलता को गौण किया जा सकता है।

●●●

● संगीत विदुषी किशोरी आमोणकर से विनय उपाध्याय का संवाद

स्वर के साथ एक अविरल, अंतहीन, अटूट सिलसिला, जो उनकी आत्मा में लयबद्ध होता उन्हें दिव्य अनुभूतियों के शिखर पर ले जाता। वे राग-स्वरों से रिश्ता बनाती संवेदनाओं की अतल गहराईयों में उतरती । एक अमूर्त यात्रा करती और उस परमतत्व की तलाश करती जहाँ अहंकार और विकार की मलिनता का प्रक्षालन संगीत के पावन स्वरों से होता है। संगीत उनके लिए ईश्वर, रंगशाला एक मंदिर की तरह, जहाँ वे स्वर की जोत जलाकर विराट को मनुहारती। वे स्वर के साथ आध्यात्मिक उड़ान भरतीं। इच्छा होती कि सुर से आगे निकल जाऊँ!

सुर से आगे...!

हमारे कला समय की विलक्षण गायिका और संगीत विदुषी किशोरी आमोणकर की साधना का सच यही है। अस्सी के आसपास फैल गयी आयु ने भले ही किशोरी की देह को कुछ थका दिया, लेकिन इसी देह के कंठ से झरते राग-स्वर अब भी उस अनंत को टेरते रहे जहाँ पहुँचकर समाधि को अनुभव किया जा सकता है।

मौसिकी से सतही आनंद का रिश्ता जोड़ने वालों को एक फ़नकार की यह फ़ितरत और ज़िद अतिरंजित लग सकती है लेकिन आचरण, अभ्यास और अनुशासन की ज़मीन पर सांस थामने वाले कलाकार की तल्लीनता ऐसे ही दुर्गम शिखरों के रास्ते नापती है। किशोरी आमोणकर की तल्लीनता और समर्पण का यह सामर्थ्य यकीनन उनके बुनियादी संस्कार तालीम और तपस्या का ही नतीजा रहे। उनसे मिलना, वाग्देवी की प्रभा से आलोकित होना था। उनके कला स्वाभिमान और ज्ञान-ध्यान से सारी दुनिया परिचित थी। स्वाभिमान की हदों से आयोजक भली तरह वाकिफ रहे और ज्ञान के उच्च धरातल से संगीत के विद्यार्थी और जिज्ञासु। लेकिन अतिरिक्त मान-पान की ठसक और तमाम पूर्वाग्रहों को किनारा कर किशोरी ताई ने जब भारत भवन (भोपाल) की 'महिमा' श्रृंखला की पहली सभा की शोभा बनने पर हामी भरी तो आयोजकों की बांछें खिल गयी। एक मुद्दत बाद भोपाल में किशोरीजी की सुरीली दस्तक से रसिक बिरादरी खुश थी।

याद आता है, भारत भवन में उनका पहला प्रवास 1995 में जयपुर घराने पर केन्द्रित संगीत समारोह के निमित्त हुआ था जबकि 2007 में इस कलाघर के ही आग्रह पर विशेष रूप से सुबह और शाम की सभाओं में गायन के लिए वे प्रस्तुत हुई थी। एक लंबे अंतराल के बाद 'महिमा' की सभा के लिए वे राज़ी हुई। शुरू के दो प्रवासों में 'ताई' को साधना

आयोजकों के लिए थोड़ा कठिन था लेकिन अबकी दादर (मुंबई) से उड़ान भरते ही वे बेहद तरल-सरल मिला? थी। तीन दिन रहीं। जब एक शाम का कुछ वक्त बातचीत के लिए मैंने चाहा तो सहज राज़ी हो गयी। साथ में कवि और भारत भवन के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी प्रेमशंकर शुक्ल भी थे जिनके विनयी, संस्कारशील आयोजकीय व्यक्तित्व से प्रभावित ताई अपना अपार स्नेह लुटा रही थी। होटल जहाँनुमा में गुफ्तगू का दौर देर तक चला। संगीत के दार्शनिक पहलुओं से लेकर निजी जीवन के कई पोशीदा घटना-प्रसंगों तक संवाद बहता चला गया।

मसलन यही कि क्रिकेट उन्हें बिलकुल पसंद नहीं लेकिन वे टेबल टेनिस की चेंपियन रही। तेज़ धावक रही। केरम बहुत अच्छा खेलती और कई बार अपनी पोती (तेजस्वी) से बाजी जीत लेती। रसोई में उनका मन खूब रमता। चपाती सुडौल बनें इस बात का ख़ास ख्याल रखती और सब्जी को कलात्मक ढंग से कांटना उन्हें अच्छा लगता। रांगोली बहुत सुन्दर बनाती। बताती कि एक बार उन्होंने 'शीरी-फरहाद' की तस्वीर रांगोली पर उकेरी। जब एक फारसी राहगीर ने उसे देखा तो मुग्ध हो गया और उसने अपने गले की माला मुझे भेंट कर दी। बकौल किशोरीजी उन्हें मध्यप्रदेश की चन्देरी कॉटन साडियाँ बेहद पसंद रहीं। जयपुरी कोटा भी खरीदती। फेरेनहाइट परफ्यूम की महक से उनका गहरा रिश्ता बना। लड्डू का ज़ायका लगभग रोज़ लेती और ख़ुद बनाकर खिलाने में खुशी होती। उन्हें बागवानी का बेहद शौक रहा। वनस्पतियों से इतना लगाव कि उनसे रोज़ बातें करतीं। मुंबई से अन्यत्र प्रवास पर जाने के पहले गमलों-क्यारियों से कहकर विदा लेती। इस बीच एक वाकया उनकी ज़ुबाँ पर होता- एक बार बिना बताए चली गई तो कुछ दिन बाद लौटकर देखा हरीभरी बेल सूख गयी थी। किशोरीजी रोज़ सुबह शाम दो घंटे भगवान की पूजा करती। खुद अपने हाथों से सुन्दर माला बनाती और भगवान का संपूर्ण श्रृंगार करती। शोलापुर के राघवेन्द्र स्वामी उनके आध्यात्मिक गुरू रहे जिन्होंने उन्हें एक रात स्वप्न में दर्शन दिये। गुरू की कृपा को वे सर्वोपरी मानती हैं। पिता का निधन तब हो गया जब वे महज छः साल की थी। माँ की छत्र-छाया और उनके कठोर अनुशासन में किशोरी की परवरिश हुई।

माँ श्रीमती मोंगूबाई कुर्डीकर ने अपने गुरू उस्ताद अल्लादिया खाँ से अपने समय में जो सीखा-संजोया वक्त आने पर अपनी किशोरी बेटी पर उस पूंजी को न्योछावर कर दिया। माँ ने कठिन अनुशासन, धीरज और शुद्धता के साथ सुर को बरतने और आत्मसात करने के जो गुरू-मंत्र दिये, किशोरीजी ने पूरी निष्ठा से उन्हें अपनाया। हिन्दुस्तानी संगीत के प्रतिष्ठित जयपुर घराने की शैली से शुरूआती नाता जोड़ा, अपनी मौलिक संकल्पनाओं का सुरीला विन्यास तैयार किया और अपनी गायिकी की सर्वथा निजी शैली का आविष्कार किया। किशोरीजी ने संगीत चिंतन की भी अपनी एक धारा प्रवाहित की है। उनकी सृजनात्मक अभिव्यक्तियों और निष्कर्षों को संगीत जगत ने प्रामाणिक तथा उपयोगी माना है।

इन तमाम उपलब्धियों के लिए किशोरीजी को अनेक महत्वपूर्ण सम्मानों से विभूषित किया जा चुका है जिनमें पद्मविभूषण सहित संगीत नाटक अकादेमी पुस्कार, श्रीमंत भारती तीर्थ महास्वामी द्वारा प्रदत्त गान सरस्वती, प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया का कला शिरोमणि सम्मान, पंडित भीमसेन जोशी स्मृति सम्मान और महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदत्त महाराष्ट्र गौरव सम्मान ख़ास हैं।

क्रिकेट उन्हें बिलकुल पसंद नहीं लेकिन वे टेबल टेनिस की चेंपियन रहीं। तेज़ धावक रहीं। केरम बहुत अच्छा खेलतीं और कई बार अपनी पोती (तेज़स्वी) से बाज़ी जीत लेती। रसोई में उनका मन ख़ूब रमता। चपाती सुडौल बनें इस बात का ख़्याल रखती और सब्ज़ी को कलात्मक ढंग से कांटना उन्हें अच्छा लगता। रांगोली बहुत सुन्दर बनातीं। वाक़या सुनाती कि एक बार उन्होंने 'शीरी-फ़रहाद' की तस्वीर रांगोली में उकेरी। जब एक फ़ारसी राहगीर ने उसे देखा तो मुग्ध हो गया और उसने अपने गले की माला मुझे भेंट कर दी।

मध्यप्रदेश के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है कि उन्हें इस राज्य के संस्कृति विभाग द्वारा स्थापित राष्ट्रीय तानसेन सम्मान से भी अलंकृत किया जा चुका है। भारत के लगभग सभी स्थापित समारोहों के अलावा किशोरीजी पेरिस, अमेरिका, ब्रिटेन, वेल्जियम, स्वीटज़रलैण्ड और दुबई सहित दुनिया के अनेक मुल्कों की महफिलों में अपनी अद्वितीय गायिकी से श्रोताओं को मुग्ध कर चुकी हैं। उनके गायन की दर्जनों ऑडियो केसेट्स सीडी और वीडियो रेकार्डिंग जारी की गई हैं। कुछ फिल्मों में भी उन्होंने पार्श्व गायन किया है लेकिन सिनेमा के लिए गाना उन्हें ज़्यादा रास नहीं आया।

ये सच है कि किशोरी आमोणकर ने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत को हमारे समय में मान-महिमा से मंडित किया है। जयपुर-अतरौली संगीत घराने की परंपरा को अपनी प्रयोगशील गायिकी में महफूज़ रखा। विरासत में मिली बंदिशों को अनेक महफिलों में गाया और अपनी स्वर-रचनाओं से संगीत के अद्भुत संज्ञान का उदाहरण प्रस्तुत किया।

किशोरीजी स्वर में आकंठ डूबी एक जीवित किंवंदति हैं। वे स्वर के ज़रिये अपनी आत्मा के रहस्य को बूझने का जतन करती रहीं। उनके अनुसार स्वर ब्रह्म है। मैं इसके साथ मूर्त से अमूर्त की यात्रा पर निकल पड़ती हूँ। जब तक देह है, तब तक सुर हमारा है लेकिन हमारी मृत्यु के बाद भी वह इस संसार में कायम रहता है। मेरा साफ मानना है कि किसी भी विषय से आत्मा की अनुभूति होना ही अध्यात्म है। मैं पूरे समय संगीत के विश्व में विचरण करती हूँ। मैं सुर से परे जाना चाहती हूँ। सन्नाटा मेरे जीवन में है ही नहीं क्योंकि सन्नाटे का भी सुर हैं और सुर हमेशा मेरे पास है।

प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए किशोरजी ने अपने गहरे अनुभव से अर्जित सच का उजास बिखेरा- मेरे लिए संगीत एक सिक्के की तरह है जिसके दो पहलू हैं। एक है संगीत का कलात्मक पक्ष और दूसरा है संगीत के माध्यम से सत्य की खोज और उसका प्रसार। कहा जाता है कि कला में सच का निवास है जिसका यह अर्थ निकलता है कि कला और सत्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं या साफ शब्दों में, वे वाकई एक-दूसरे से भिन्न हैं। मेरा स्पष्ट मानना है कि रूप के बिना कला का अस्तित्व संभव नहीं है और रूप चाहे वह किसी भी तरह का हो सीमा-रेखाओं द्वारा निर्धारित होता है। रूप एक ऐसी चीज़ है जो फौरन दिखाई दे जाती है लेकिन वह किन चीज़ों से बना है यह मालूम करने में वक्त लगता है। रूप की अन्तर्वस्तु का अध्ययन नितान्त आवश्यक है क्योंकि बिना अन्तर्वस्तु के रूप का अस्तित्व ही संभव नहीं है और अन्तर्वस्तु की गहराई से छानबीन करके ही हम यह जान सकते हैं कि इसके अस्तित्व के कौन से कारण हैं और इसकी आवश्यकता क्या है। अपने विविध मनोभावों, अधिकांशत: अपने सुख और दु:ख की असंख्य दशाओं को अभिव्यक्त करने की हमारी आवश्यकता ही इसका कारण है।

किशोरीजी... स्वर में आकंठ डूबी एक जीवित किंवदंति। वे स्वर के ज़रिये अपनी आत्मा के रहस्य को बूझने का जतन करती रहीं। कहतीं- जब तक देह है, तब तक सुर हमारा है लेकिन हमारी मृत्यु के बाद भी वह इस संसार में कायम रहता है। मेरा साफ मानना है कि किसी भी विषय से आत्मा की अनुभूति होना ही अध्यात्म है। मैं पूरे समय संगीत के विश्व में विचरण करती हूँ। मैं सुर से परे जाना चाहती हूँ। सन्नाटा मेरे जीवन में है ही नहीं क्योंकि सन्नाटे का भी सुर हैं और सुर हमेशा मेरे पास है।

संगीत में हमारा गुरू हमें इस कला के अनुशासन की विधिवत शिक्षा देता है, वह हमें सिखाता है कि हम कैसे अपने गायन या वादन को एक सौन्दर्यात्मक रूप दे सकें। उसके मार्गदर्शन और अपनी साधना से हम कला के इस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करते हैं।

किशोरीजी बताती हैं कि मेरी भी शिक्षा यहीं से शुरू हुई थी और मैं तब से श्रृंगार, करूण, वीर तथा अन्य रसों को अधिक स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने के तरीकों की खोज करती रही हूँ। लगभग सारा जीवन संगीत सीखने और सुनने के बाद मैंने एक नयी राह खोजना शुरू किया। यह ठीक है कि बुद्धि का अन्य क्षेत्रों की तरह संगीत में भी स्थान है। लेकिन संगीत के क्षेत्र में बुद्धि का कार्य विभिन्न मनोदशाओं की संगीतात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन करना ही है। अपनी इस यात्रा के दौरान मुझे रसों के और संगीत में उनकी अभिव्यक्ति के बारे में एक अधिक साफ दृष्टि प्राप्त हुई।

धीरे-धीरे मैंने यह महसूस किया कि अलग-अलग शब्दों के अर्थ का जोड़ किसी संगीत रचना की रूह का एहसास नहीं करा सकता। दरअसल ये दो चीज़ें एकदम अलग-अलग हैं। शायद सुगम संगीत में शब्दों के द्वारा एक संगीत रचना की आत्मा सम्प्रेषित की जा सकती है लेकिन शास्त्रीय संगीत में यह सम्प्रेषण केवल स्वरों के द्वारा ही संभव है। इसका कारण यह है कि शब्दों के अर्थ निश्चित हैं जबकि हरेक स्वर का अपना एक विशिष्ट चरित्र होता हैं सामान्यत: हम सरगम में से वह एक स्वर चुनते हैं जो हमारे मनोभावों के अनुरूप होता हैं यह स्वर-विशेष संगीत रचना की रूह का जीव-स्वर होता हैं। इस स्वर के तत्व को स्पष्ट करने के लिए हमें सरगम से कुछ अन्य स्वर भी चुनने पढ़ते हैं जो इस जीव-स्वर को पोषित करते हैं और इसे स्वयं को पूरी तरह व्यक्त करने योग्य बनाते हैं। इस तरह हम रसों की असंख्य बारीकियों और उनकी संगीतात्मक अभिव्यक्तियों को

खोज सकते हैं। इससे संगीतकार के मन में संगीत के माध्यम से अपने व्यक्तिगत संवेगों को अभिव्यक्त करने की लालसा उत्पन्न होना स्वाभाविक हैं। ये संवेग अधिक प्रामाणिक और गहरे होते है क्योंकि ये संगीतकार के निजी सुख-दु:ख से उत्पन्न होते हैं। और क्योंकि संगीतकार इनमें ज्यादा गहराई से निमग्न होता है, ये सत्य के अधिक निकट होते हैं। इस तरह लीन हो जाना कला के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जब संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाने वाला संवेग संगीतकार को अच्छी तरह से मालूम हो। उदाहरण के लिए राग बागेश्वरी के स्वरों और इसकी लयरचना के अध्ययन से एक करूण मनोदशा का पता चलता है। गुरू इस राग की विभिन्न रचनाओं के अस्थायी व अन्तरा के माध्यम से हमें इस मनोदशा को अभिव्यक्त करने में प्रशिक्षित करता है। इन रचनाओं के शब्द हमें इस मनोदशा के मर्म से तत्काल तादात्म्य स्थापित करने में सहायक होते हैं। साथ ही साथ संगीतकार की भावनात्मक अनुभूति, बिना उसके जाने ही, राग की प्रस्तुति पर, जो उसने अपने गुरू से सीखी है, अपना रंग चढ़ाकर उसे सूक्ष्मरूप से बदल देती हैं।

मेरा तजुर्बा है कि राग एक वैयक्तित्व व्यग्रता का स्वर धारण कर लेता है जो श्रोता के मर्म को छू लेता है। हालाँकि श्रोता संगीतकार की निजी अनुभूति से अवगत नहीं होता किन्तु संगीत रचना की प्रस्तुति श्रोता को अपने भोगे हुए दु:ख का स्मरण कराती है। यह श्रोता के हृदय में स्वानुभूति से उत्पन्न करूण रस प्रवाहित कर देती है। इस जगह पर राग का रूप अपनी सहजता के कारण लगभग अदृश्य हो जाता है। कठिन साधना से राग का विन्यास अत्यन्त सुगम हो जाता हैं। यह विन्यास परम्परा से उत्पन्न होता है। लेकिन जो पारम्परिक है वह अनिवार्य रूप से शास्त्रीय नहीं है। जो पारम्परिक है वह तकनीकी दृष्टि से बिल्कुल सही हो सकता है। लेकिन इससे सिर्फ माध्यम के आयाम ही स्पष्ट हो सकते हैं, न कि वह सत्य जो इनमें निहित है।

राग को गाना है तो उसके पूरे मूड को पकडिए। उसे अभिव्यक्त करिए। इसके लिए तो कलाकार के आत्म को शुद्ध होना होगा तभी राग अपनी शुद्धता में अपने वातावरण को व्यक्त कर पायेंगी? कलाकार अच्छा होगा तभी राग की प्रस्तुति अच्छी होगी। कला अच्छी होगी। व्याकरण गाने से राग गाना नहीं होता। राग की शुद्धता कलाकार की शुद्धता पर निर्भर हैं। नहीं तो उसे राग और उसका वातावरण दिखेगा कैसे!

देखिए, आदमी एक परिवार में जन्म लेता है, परिवेश के अनुसार बड़ा होता है और फिर उस अनुकूल या प्रतिकूल परिवेश में उसका निजी व्यक्तित्व विकसित होता है। घरानों और उनमें विकसित कलाकारों के विकास की कहानी भी इसी तरह की है। एक कलाकार एक व्यक्तित्व हैं उसके अन्तस में जो है वह उस घराने के परिवेश में बाहर आता है।

● राजेश गनोदवाले

रूह में रमता संगीत

महीन– सा अंदाज़। ठहरी हुई–सी गायन शैली। काँपती, रुकती और धीमी गति में पद गाती हुई नायाब विधा। उत्तेजना की कोई जगह नहीं! एकरस गायिकी। परिवर्तन ना तो प्रस्तुतीकरण में और ना लय में। यही है गुरुबानी की सस्वर प्रस्तुति का कहन ढंग।

गुरुग्रंथ साहिब में एकत्र अन्य गुरु संतों की वाणी को सुरीले गलों से सुनना बेजोड़ अनुभव होता है। यह भी सही है कि भाषा पंजाबी होने से कई दफा उन पदों में समाये अर्थ गाम्भीर्य से मैं वंचित भी होता रहता हूँ। बावजूद मुझे रस ग्रहण करने में कभी कोई परेशानी नहीं हुई तो इसका एकमात्र कारण संगीत की भाषा को जानना है। और यह उन गवैयों की गेय–सुषमा का असर है जो मुझ जैसे गैर पंजाबी श्रोता को भी अपने में पिरो लिया करती थीं। ''भाषा की दीवार से परे भी एक जरिया होता है अर्थ को आत्मसात करने का।' इस समझ के दरवाजे भी मेरे शब्द सुनते हुए खुले।

गुरुबानी गाने का ढंग

प्राय: हार्मोनियम लिये दो गवैये। तीसरा सहयोगी तबले पर–और तीनों का कंठ फूटता हुआ।

महीन–सा अंदाज। ठहरी हुई–सी गायन शैली। काँपती, रुकती और धीमी गति में पद गाती हुई नायाब विधा। उत्तेजना की कोई जगह नहीं! एकरस गायिकी। परिवर्तन ना प्रस्तुतीकरण में और ना लय में। यही है गुरुबानी की सस्वर प्रस्तुति का कहन ढंग। आश्चर्य होता है एक आयोजन जिसमें कोई नवाचार नहीं वह अपनी इसी सादगी की बदौलत मन में कहीं गहरे असर कर जाता हैं! कभी दूरदर्शन में 'सरबसाँझी गुरुबानी' आया करता था। उसमें प्रति रविवार को शीर्षक गीत–'कोई बोले राम–राम, कोई खुदाए।' सुनने की बेताबी होती थीं। वह पहला अनुभव था कि गुरुबानी को इस तरह जत्थे पेश करते हैं!

● ● ● ●

रायपुर (छत्तीसगढ़) के गुरुनानक नगर जिसे पुराना नाम श्याम नगर के रूप में लोग अधिक जानते हैं, कीर्तन रंग की यादें मैं दोहरा रहा हूँ। यहाँ स्थित गुरुद्वारा के बगल में ही प्रतिवर्ष जनवरी महीने के तीन रोज कीर्तन होता है। चकित करता है जानना कि संगीत श्रवण से जुड़ा यह धार्मिक अनुष्ठान बिना किसी शोर–शराबे के कैसे अपने 26वें बरस में दाखिल हो

आश्चर्य होता है एक आयोजन जिसमें कोई नवाचार नहीं वह अपनी इसी सादगी की बदौलत मन में कहीं गहरे असर कर जाता हैं! कभी दूरदर्शन में 'सरबसाँझी गुरुबानी' आया करता था। उसमें प्रति रविवार को शीर्षक गीत–'कोई बोले राम–राम, कोई खुदाए।' सुनने की बेताबी होती थीं। वह पहला अनुभव था कि गुरुबानी को इस तरह जत्थे पेश करते हैं!

गया! सिर्फ समाज के कुछ सहृदयी व्यक्तियों की बदौलत। कभी बेहद छोटे रूप में इसका श्रीगणेश हुआ था। लेकिन अपना महत्व प्रतिवर्ष बढ़ाते हुए इसने छत्तीसगढ़ के अलावा पड़ोसी राज्यों ओडिसा, महाराष्ट्र तक की संगत को भी एकत्र कर लिया! ऐसा प्रतिवर्ष होता है जब पड़ोसी राज्यों के कुछ दर्दी सुनने वाले यहाँ तीन रोज़ ख़ास इसी की ख़ातिर आते हैं।

जोश खरोश वाले आयोजनों के इतर कीर्तन का विनमध उजास फैलाना सम्भव हुआ– ''अलौकिक कीर्तन समागम सोसायटी'' के दूरदर्शी दृष्टिकोण से। न इस सोसायटी से परिचित था और न इसके मुखिया प्रीतपाल सिंग चंडोक से। मैं हर साल जाता और चुपचाप श्रवण लाभ लेकर और कभी मन करे तो लंगर छक कर आनंदी मन से लौट आता। रिपोर्टिंग मेरी प्राथमिकता बाद में, पहले रागों की मिठास में घुली गायिकी और सुरीले गलों का सम्मोहन था। बेशक लँगर का लुत्फ एक कारण हमेशा रहा। अब अखबार में काम करना यानी लिखना भी–सो श्रवण के प्रकाश में तीनों रोज अंतर्मन तक भीगने के बाद मैं लिखता। सरदार मनमोहन सिंग सैलानी यदि मिल जाते तो कुछ अहम पदों के भीतर छिपे मर्म का खुलासा वे कर दिया करते। कभी मैं उन जत्थों से बात कर लेता। इस रुझान और मेहनत का नतीजा–मेरी रिपोर्टिंग में वह शामिल रहता जो कहीं और नहीं होता था।

एक वर्ष अचानक मेरे वरिष्ठ और मुझे 'नवभारत' में आगे बढ़ने में प्राय: प्रेरित करने वाले मोहन राव ने मुझसे कहा– 'राजेश, लो प्रीतपाल जी तुमसे बात करना चाहते हैं।' मैं हैरान! कौन हैं वे? खैर बात हुई। उन्होंने अधिक कुछ न कहते सीधे अगले दिन मुझे घर आमंत्रित किया। 'सत्श्री जकाल वीरजी' मेरे मुँह से अचानक निकला। ...और मैंने मुलाक़ात की हामी भर दी।

● ● ● ●

वीआईपी रोड में घर। घर क्या विशाल फार्म हाउस। अद्भुत जगह। चारों तरफ सरसों के पीले फूल। जिन दिनों मैं वहाँ गया, ऋतु बसंत की थीं। मन यों ही लय में आ गया। पैसे वालों में इतनी कलात्मकता या प्रकृति के प्रति स्वाभाविक रुमान होता है? मन में उपजने वाला सवाल यहाँ ख़ारिज हो गया था। उन दिनों मेरे पास लूना थीं। इतने बड़े फार्म हाउस और दमकती हुई नयनाभिराम कोठी के भीतर लूना में सवार होकर जाना? मैंने लूना बाहर ही खड़ी की। जबकि दरबान कहता रहा ''अंदर ले आइये।'' संकोच और डर के मिले जुले भावों से घिरा मैं भीतर गया। और सारे सवाल भी वही। बाहर अपनी लूना के साथ छोड़ दिये! नारियल के पेड़ों से घिरी बेहद खूबसूरत, उतनी ही साफ़–सुथरी सफेद कोठी। बाहर सफेद कारों की कतारें। नीचे एक व्यक्ति मिला। नाम बताते ही वह मुझे ऊपर ले गया। खिली हुई धूप थी। बसंत का पीला पन धूप पर भी कुछ–कुछ शामिल सा दिखा। ऊपर पोर्च में बैठकर नीचे फैली हुई हरियाली खासकर पीले फूलों की सुषमा में खोया ही था कि सामने एक सज्जन आए। सफेद सफारी पहने। गुलाबी चेहरा। आँखों में काली ऐनक चढ़ी। ''मैं प्रीतपाल सिंग चंडोक हूँ'' उन्होंने कहा।

मैं चकित तो नहीं हुआ। कारण उन्हें कीर्तन के दौरान सभा मंडप के बाहर प्राय: सहयोगियों के साथ बैठे देखा हुआ था। रात में भी काली ऐनक के कारण उनका चेहरा मुझे याद हो आया था। बात शुरू हुई। सार यह निकला कि वे नियमित कीर्तन दरबार की नवभारत में लिखी रिपोर्टिंग से प्रसन्न थे। विशेषकर सांगीतिक वर्णन से। और जानने उत्सुक थे कि इसकी गहराई में जा कर इसे इस कदर प्रतिवर्ष कौन जगह दे रहा है? काफ़ी देर बातें हुई फिर तो हर वर्ष 23 जनवरी से प्रारम्भ होने वाले इस तीन दिवसीय कीर्तन समागम में उनके साथ संवाद होता। विशेष अवसरों पर होने वाले कीर्तन के दौरान भी मुझे ख़ास आमंत्रण होता। इसी बहाने देशभर के उन हजूरी जत्थों का

श्रवण लाभ लिया- जो मेरे जैसे गैर सिख रायपुरी के लिए कहाँ सम्भव होता? सिखों की सर्वोच्च संस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के प्रमुख आए तो उनसे भी बातचीत का मौक़ा इस कमेटी ने दिया।

●●●●

दस्तावेजीकरण में मेरी अपनी दिलचस्पी है। सोचा इतने बरसों की इस यात्रा को क्यों न एक मोनोग्राफ की शक्ल में उतारा जाए। इस विचार के पीछे मेरे पास एकाधिक ठोस कारण थे। असल में, कीर्तन दरबार के इन तीन दिनों में यहाँ मंच पर गा रहे गवैयों के अलावा भी, इलाके के वातावरण में सम्मोहित करने वाली बहुतेरी छवियां झिलमिलाती हैं। समय-समय पर की जाने वाली रिपोर्टिंग में इसके इतिहास को लिखने के साथ बाहर बनने वाले माहौल पर भी एकाधिक रिपोर्ट लिखी थीं। सो मेरे लिए सारी चीजें हदों में थीं। अलग से नया कुछ और करना नहीं था। सांगीतिक कतरनों वाली फाईल में से उन्हें निकाल कर खंगाला। मोनोग्राफ में नया क्या जोड़ा जा सकता है? इसे देखा और उन बातों की पड़ताल कर छूटे तथ्य जोड़ डाले। कोई चीज पकने के पहले कैसे दिखेगी? इसका आभास हो जाता है। मन कहने लगा मोनोग्राफ वैसा होगा। जैसा सोचा जा रहा है। रुचि के कारण बात बन गयीं।

आर्थिक ज़िम्मे को लेकर आयोजन समिति ने एक ही झटके में हामी भर दी थी। पूछा तक नहीं कि उसमें क्या करने वाला हूँ। कितना ख़र्च होगा? काम करने की ढीली-ढाली शैली को लेकर भी कोई सवाल नहीं उठाया! सन् 2010, आयोजन के 18वें बरस मोनोग्राफ प्रकाशित होकर सामने था। आज वो सारी स्मृतियां दोबारा तरोताजा होने का कारण था। एक बरस के अंतराल के बाद इसका श्रवण करने पहुँचना। लिखना तो कहीं था नहीं सो पूरे आयोजन को पर्यटक बनकर देखने लगा। गुरुनानक नगर में इस दौरान उभरने वाली छटा के क्या कहनें! विशेषकर आखरी दिन अर्थात् 25 जनवरी को शाम से आरम्भ होकर पूरी रात चलने वाला वाला कीर्तन जिसे 'रैन सवाई' कहा जाता है। गायन के लिए एक-एक घंटा समय प्रति जत्थों को। इन जत्थों एवं संगत के मध्य अपनी छोटी टिप्पणियों से समन्वय बनाते मुंबई निवासी भाई हरइकबाल सिंग बाली की बातें। गायिकी के मध्य इस सत्संग श्रवण से मिलने वाला आनंद अलग। और हाँ, यदि कोई जत्था रागदारी में निपुण हो तो उनसे बसंत पर आधारित शब्द भी सुनने मिलना। मैंने पाया इस कीर्तन दरबार में आने वाले सभी जत्थे किसी न किसी ख़ासियतों से घिरे होते थे। सभी नामचीन।

●●●●

इस वर्ष मैंने उस भीड़ का सही मायनों में पहली मर्तबा आकलन किया जिसे बीते कई बरसों से देख रहा था। 10 हज़ार की क्षमता वाला पंडाल पूरी तरह संगत से भरा हुआ देखना। यह नजारा ही रोमांच भरने काफ़ी है। हर उमर के लोग। नई पीढ़ी भी। जिसे देखकर संयोजक-श्री चंडोक आशान्वित होते हैं कि ''नयी पीढ़ी का कीर्तन के प्रति अनुराग सुंदर संकेत है।'' कुछ बरस पहले 24 जनवरी की सर्द सुबह याद आती है जब दो रोज़ से जारी अंधड़ और बारिश के बाद आए व्यवधान ने सोसायटी को सुझाया कि क्यों न अस्थायी पंडाल की बजाय इस खुली जगह पर सभागार बना दिया जाए। मैं साक्षी था, चंद मिनट की अपील पर 51 लाख रुपये इकट्ठा हो गये! उसी वर्ष 15 हज़ार वर्गफीट का नया सभामंडप बन गया।

संगत, पंगत और शापिंग भी साथ साथ

यदि आप तीन दिनों में यहाँ आएँ तो रोमांच सिर्फ अंदर ही क्यों, बाहर भी आपको सम्मोहित कर सकता है। संगत शब्द का श्रवण कर पंगत यानी लंगर की और भाव पूर्ण ढंग से बढ़ जाती है। जिन्हें लंगर की प्रतीक्षा नहीं करनी हो उनके लिए बाहर ही चाय, सूप और पकौड़ी का प्रबंध। कुछ ख़रीदना चाहें तो सजी हुई अस्थाई दुकानें। उत्सव का कोई द्वार खुल गया हो जैसे। चारों तरफ उल्लास छाया हुआ। मन को गिरफ़्त में ले लेने वाला दृश्यों की कतार। एक अत्यंत महत्वभरा आयोजन को गले लगाती बिरादरी की सतत आवाजाही का मनोरम कोलाहल।

पंजाब के बाहर इतर समाज के साथ पूरी तरह रच-बस गयी बिरादरी की सामाजिक देन को, दुर्भाग्य से जितना महत्व मिलना चाहिये नहीं मिला! बावजूद इस अनदेखी की परवा किये बगैर ये लोग अपने कामों में व्यस्त रहते अपने पर्व-त्योहार भी उसी रंगत में साकार करना नहीं भूलते। जोश-ख़रोश वाले आयोजन भी और कीर्तन का विनर्म उजास भी। किन्हीं जत्थे की गायीं पंक्ति मन में चढ़ गयी है- ''नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन-रात / ऐसा नशा न कीजिये, जो उतर जाए परभात।।'' इस समय देश का समूचा सिख समाज जब ''350वें प्रकाश पर्व'' के गौरव प्रसंग से घिरा है। तब अलौकिक कीर्तन समागम सोसायटी के इस दूरदर्शी दृष्टिकोण से सम्भव हुए प्रकाश को लेकर एक जयकारा होना ही चाहिये।

''वाहे गुरु का खालसा वाहे गुरु की फ़तेह''

● यतीन्द्र मिश्र

नृत्य के परिसर में अभिनय

अभिनय इस अर्थ में एक असाधारण घटना है कि वह असामान्य व दुर्लभ की श्रेणी में आने वाले मानव व्यवहार को बड़ी सहजता से सामान्य की परिधि में प्रतिष्ठित करता है। यह तथ्य इस अर्थ में ख़ासा दिलचस्प है कि कलाकार का अपना कुछ नहीं होता। न उसका यौवन होता है, न उसकी अवस्था होती है। बुढ़ापे में भी वह यौवन को प्रकट कर सकता है और भरे यौवन में भी उसका सम्मोहन कम करके दिखा सकता है।

कलाओं के समाज में जितने भी प्रकार की प्रदर्शनकारी कलाएँ आज संस्कृति के परिदृश्य पर नजर आती हैं, उनमें से अधिकांश की व्याप्ति उनके प्रदर्शन व अभिनेयता के कारण शीर्ष पर है। साहित्य के क्षेत्र में नाटक, संगीत के क्षेत्र में नृत्य एवं अन्यान्य रूपंकर अभिव्यक्तियों में सिनेमा का महत्व सिर्फ इस कारण ही ज्यादा बढ़ जाता है कि उन जगहों पर 'अभिनय' की असीम सम्भावनाएँ पायी जाती हैं। कलाओं की दुनिया में यह बात हमेशा से महत्वपूर्ण रही है कि उनके प्रस्तुतीकरण में सम्मिलित होने वाला समाज कितनी गहराई से उस कलाभिव्यक्ति के साथ अपना सामंजस्य बनाता है। कोई गायक गाते समय किसी राग की अवधारणा कर रहा हो या कोई नृत्यांगना किसी प्रसंग विशेष को अपने देह संचालन से मूर्त रूप दे रही हो, सामाजिक की भूमिका के बिना उस कला का संतरण सामान्य दुनिया में नहीं हो पाता है। कला के प्रदर्शन व उसके सामान्य जीवन में प्रतिष्ठित होने के बीच के अवकाश में ही संवाद, गायन एवं अभिनय की सृष्टि बेहतर ढंग से अपना स्वरूप ग्रहण करती है। सामान्य व्यक्ति, जो उस कला की दुनिया में एक 'सामाजिक' की हैसियत से प्रवेश पाता है, जीवन के सामान्य पक्षों का मंच पर अंकन होते देखकर ही कला के पड़ोस में जाने को इच्छुक होता है।

अभिनय इस अर्थ में एक असाधारण घटना है कि वह असामान्य व दुर्लभ की श्रेणी में आने वाले मानव-व्यवहार को बड़ी सहजता से सामान्य की परिधि में प्रतिष्ठित करता है। इसके लिए कलाकार या साधक की भूमिका सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण होती है। यह तथ्य इस अर्थ में ख़ासा दिलचस्प है कि कलाकार का अपना कुछ नहीं होता। न उसका यौवन होता है, न उसकी अवस्था होती है। बुढ़ापे में भी वह यौवन को प्रकट कर सकता है और भरे यौवन में भी उसका सम्मोहन कम करके दिखा सकता है। यह अनुभव करने की शक्ति ही कलाकार में दिव्यता लाती है। इसी से रस सृष्टि

होती है और इसी से कला का संसार विस्मयकारी जान पड़ता है। इस अवधारणा के पीछे तर्क बस यही है कि कलाकार अपनी वाणी, व्यवहार, लास्य, अंग-संचालन एवं संवाद-अदायगी द्वारा अपनी देह में एक दूसरी ही सृष्टि का अनुभव करता है। मसलन नृत्यरत ओडिसी गुरु केलुचरण महापात्र में रामकथा के केवट का प्रवेश, थोड़ी देर के लिए उन्हें न सिर्फ केवट की देहयष्टि में स्थापित कर देता है, बल्कि देखने वाले केलुचरण महापात्र से तादात्म्य बिठाते हुए केलुचरण महापात्र से दूर हो जाते हैं। दर्शक के लिये जहाँ यह केवल एक विस्मयकारी कला का निदर्शन है, वहीं कलाकार के लिये यह परकाया प्रवेश जैसी अवधूत प्रक्रिया है, जिसमें अभिनेता ही रूप-परिवर्तन के लिए मुख्य आधार-पीठिका मुहैया कराती है।

एक सर्जक अपनी कला के अवयवों को खोलकर, उसकी सीमाओं और सीमान्तों को परे हटाते हुए अभिनय द्वारा कृति को जितना सरल करेगा, सामान्य दर्शक या श्रोता उसके साथ साधारणीकरण करते हुए स्वत: ही उस कला से संवाद स्थापित कर लेंगे। जिस तरह अभिनय के लिये पर्याप्त नाटकीयता की जरूरत रहती है, उसी तरह किसी कला के साथ दर्शक या सामाजिक का संबंध उसके साधारणीकरण से तय होता है। एक सुन्दर प्रसंग यहाँ आप सबको सुनाना चाहूँगा बनारस की ठुमरी विश्वप्रसिद्ध है। वहाँ गायकी की जो परम्परा है, उसमें सेनिया पियरी, मिश्र एवं तेलियानाला जैसे घराने रहे हैं। सभी में ठुमरी, कजरी एवं चैती का अपना अभिनय महत्वपूर्ण रहा है। एक खास बात यहाँ ध्यान देने लायक है कि 100-150 साल पहले यदि हम बनारस में होने वाली इस प्रकार की गायक का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि वहाँ विद्याधरी, बड़ी मोतीबाई, मुश्तरी, मैना से होते हुए रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी देवी एवं गिरिजा देवी तक ठुमरी की परम्परा अपने उत्कर्ष पर रही है। मगर उसी के बाद की परम्परा में जिसमें अधिकांश पूर्ववर्ती गायिकाओं की शिष्याएँ भी सम्मिलित होती हैं, आज यह बात या उत्कृष्टता कहीं दिखाई नहीं पड़ती। वही परम्परा है, वही धुन है, बोल-बनाव व रागदारी का मिज़ाज सब कुछ पूर्व की भाँति है, मगर गायकी की ऊँचाई या इन पूर्वज गायिकाओं के असर या रस जैसी कोई चीज़ आज की गायकी में दिखाई नहीं पड़ती। इनके पीछे क्या कारण हो सकता है? इस तथ्य का उल्लेख जब मैंने गिरिजा देवी से किया तो वे बोलीं 'यह तो होगा ही। यह चीज़ जो आप हमारी पीढ़ी तक देखते चले आये हैं या पीछे पूरी प्रखरता से हम अपनी पूर्वज पीढ़ी से पाते रहे, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण पुराने समाज में होने वाला महफ़िल संगीत था। दरअसल, ठुमरी, चैती राजा-महाराजाओं, नवाबों, रईसों के यहाँ महफ़िलों में गाई जाती थी। उस महफिल संगीत का एक अलग समाज था, उसका एक निश्चित रिवाज था कि बैठकी महफ़िल में इस तरह के कपड़े पहनकर आना है, या पेशवाज का रंग अमुक जलसे के मुताबिक़ होगा। हम सबको थोड़ा बहुत अभिनय भी करना पड़ता था कि हमारा मन फलाँ कजरी गाने का है या कि बड़ी-बड़ी गायिकाएँ अपने नखरे व हाव-भाव से असम्भव चीजों की फरमाइश करती थीं। सामने बैठे लोग महफ़िल की इन्हीं रंगीन हरकतों पर झूम-झूम जाते थे। फिर मिज़ाज और फरमाइश के अनुसार उस समय ठुमरी, कजरी भी गाई जाती थी, और होली, दादरा भी। अब वो कहाँ रहा? मेरी कोई शिष्या कितना भी बढ़िया ठुमरी, चैती गा ले फिर भी हम वह महफ़िल कहाँ से लाएँगे? वह रियाज़ के लिए बैठेगी तो अक्सर आधुनिक कपड़ों जींस वगैरह में होगी। बात यह नहीं कि उस समाज को सिर्फ विलास की निगाह से ही देखा जाए। तो जो एक तरह का वातावरण उस पूरी महफिल में अभिनय व पहनावे के कारण बनता था वह आज की नई लड़की कहाँ सीख पाती है। वह मिजाज बनाने व अदब सिखाने का रिवाज अब खत्म हो चुका है। आज एक निश्चित मानसिकता के साथ लड़कियाँ मंच पर जाती हैं व कुछ भी गा देती हैं। तो रसूलनबाई वाली तड़प कहाँ से पाइयेगा, आप उनकी गायकी में?

कलाकार अपने वाणी, व्यवहार, लास्य, अंग-संचालन एवं संवाद-अदायगी द्वारा अपनी देह में एक दूसरी ही सृष्टि का अनुभव करता है मसलन नृत्यरत ओडिसी गुरु केलुचरण महापात्र में रामकथा के केवट का प्रवेश, थोड़ी देर के लिए उन्हें न सिर्फ केवट की देहयष्टि में स्थापित कर देता है, बल्कि देखने वाले केलुचरण महापात्र से तादात्म्य बिठाते हुए केलुचरण महापात्र से दूर हो जाते हैं।

अब यह विचार उस जमाने की गायकी के बारे में प्रकाश डालता है कि कैसे ठुमरी व चैती के गायन में उन दिनों रंग भरा जाता था। यह महफिल की तैयारी दरअसल उन दिनों अभिनय की तैयारी होती थी। बैठकी करना रंगमंच पर पूरे श्रृंगार के साथ मनोभावों का नान्दीपाठ करना था। अब श्रोता और दर्शक तो हर हाल में उस मोहजाल में फँसेंगे। कि अब वो गायकी नहीं रही। रसूलनबाई, मुश्तरी, मैना उनके

लिये उस क्षण किसी मिथक से कम नहीं ठहरेंगे व अभिनय तथा अभिनेयता की गुंजाइश को इन सन्दर्भों से भुला बैठेंगे कि किस तरह उसका प्रभाव संगीत में नई-नई उपज की सम्भावना पैदा करता है।

इसी तरह ठीक यही प्रतिक्रिया ओडिसी नृत्य में उन नये कलाकारों एवं युवतियों के साथ आज आती है जो अविवाहित रहते हुए 'गीतगोविन्दम' या अन्य प्रेमकाव्यों के प्रसंगों, श्रृंगारभक्ति के द्वारा अपने नृत्य में अभिव्यक्त करना चाहते हैं। उनके लिए शास्त्र और कला कितनी ही तैयार की हुई चीज क्यों न हो, वे रागों व अष्टपदियों की व्याख्या के लिये भले ही पक्की तरह से तैयार हों, मगर अभिनय के समय उस रससृष्टि को करने में अक्षम होंगे, जो उनसे पूर्व या उनके समकालीन विवाहित कलाकारों ने अपने अनुभव की गहराई से विकसित की है। इसी तरह भास के नाटकों पर आधारित 'कुडियाट्टम' रंग-नृत्य परम्परा को जिसने भी देखा है, वह सिर्फ उसमें होने वाले नेत्रों के अभिनय को शायद ही जल्दी भूल सकेगा। वहाँ दो-दो दिन तक लगातार संवाद अदायगी चलती है और घण्टों तक नेत्रों का अभिनय देखते हुए भी दर्शक थकते नहीं हैं। यह स्थिति अभिनय की महत्ता का सबसे बेहतर उदाहरण है कि कुडियाट्टम आज भी जिन जगहों पर खेला जाता है, जिन जगहों पर अपनी परम्परा का निर्वाह करते हुए जीवित है, वह सिर्फ और सिर्फ आज तक अपनी अभिनेयता के कारण ही टिका हुआ है। असम और बंगाल की रामयात्राएँ और चण्डीयात्रा में यह तथ्य पूरी तरह देखने में उभरता है कि अपनी परम्परा व लोक के अनुसरण के साथ-साथ जात्रा साहित्य में ढेरों पात्र भेदों के अन्तर्विरोधों के बावजूद जो समन्वय पूरी जात्रा में दिखता है, वह उन अनभिज्ञ कलाकारों की अभिनेयता पर उसी तरह टिका हुआ है, जिस तरह हर प्रान्त की लोक-गायन शैली में औरतें रसोई का काम करते हुए यह भूली रहती हैं कि वे चूल्हा जलाने के साथ-साथ हंसध्वनि और पटमंजरी भी जानती हैं। उन्हें पारिवारिक परम्परा में भी कई पीढ़ियों तक यह पता ही नहीं चल पाता कि पर्व त्योहारों, शादी-ब्याह आदि के समय जो आनुष्ठानिक प्रसंगों के गीत या संस्कार-गीत वे सीखती, गाती अथवा सिखाती रही हैं, उनका भी अपना काव्यशास्त्र है, संगीत की ज्यामिति है तथा उनमें भी अधिकांश अब जस का तस शताब्दियों से गाये जाने के कारण प्रचलित अर्थों में लगभग रूढ़ बन गये हैं।

ढेरों प्रदर्शनकारी कलाएँ, खासकर नृत्य आदि के असंख्य विभेद, जिनमें प्रमुख रूप से लोक नृत्य, ऋतु नृत्य, श्रम नृत्य एवं युद्ध नृत्य शामिल हैं, अपनी इसी लोकाराधन अभिनेयता और शास्त्रीय पक्षधरता के समन्वय के चलते आज भी समकालीन सन्दर्भों में प्रासंगिक बने हुए हैं। यह न हो, तो यह स्पष्ट कर पाना बेहद उलझाव भरा काम होगा कि तेरा 'ताली नृत्य' में झाँझ के ताली की तरह बजने की क्या उपयोगिता है या कि 'चुर्कुला' में किस प्रासंगिकता के चलते जलते हुए दीयों को सिर पर रखकर नाचा जाता है। चुर्कुला और तेरा ताली की तरह भारतीय लोक नृत्यों में मशहूर कुछ अन्य नृत्यों मसलन बैगा जनजाति का पतझड़ के मौसम का नृत्य 'बिल्मा', उड़ीसा का ऋतु-नृत्य 'चैती घोड़ा नाटा', केरल का युद्ध कौशल दर्शाने वाला लोकप्रिय नृत्य 'कलरिपयत्तू' एवं आनुष्ठानिक नृत्यों में सर्वोपरि माना जाने वाला मणिपुर का 'लाइ हरोबा' को हम उनकी शास्त्रीयता, अभिनयधर्मिता एवं लोक वैशिष्ट्य के कारण हमेशा याद रखते हैं।

अन्त में सिनेमा पर पारसी थियेटर के प्रभाव की पड़ताल करने वाला एक दिलचस्प वाक्या यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है, जिसे प्रख्यात लेखिका मृणाल पाण्डे ने रेखांकित किया था। यह उदाहरण सिनेमा के आरम्भिक दिनों की दिलचस्प बानगी पेश करता है, साथ ही साथ इस बात की भी गवाही का संबंध बनता है कि रूपंकर कलाओं की अधिकांश अभिव्यक्तियाँ अपने अभिनय एवं लोक पक्ष की समेकित धुरी पर टिकी होती है। प्रसंग है कलकत्ता से लेकर दिल्ली की

कुडियाट्टम आज भी जिन जगहों पर खेला जाता है, जिन जगहों पर अपनी परम्परा का निर्वाह करते हुए जीवित है, वह सिर्फ और सिर्फ आज तक अपनी अभिनेयता के कारण ही टिका हुआ है। असम और बंगाल की रामयात्राएँ और चण्डीयात्रा में यह तथ्य पूरी तरह देखने में उभरता है कि अपनी परम्परा व लोक के अनुसरण के साथ-साथ जात्रा साहित्य में ढेरों पात्र भेदों के अन्तर्विरोधों के बावजूद जो समन्वय पूरी जात्रा में दिखता है, वह उन अनभिज्ञ कलाकारों की अभिनेयता पर उसी तरह टिका हुआ है।

दर्शक के लिये जहाँ नृत्य केवल एक विस्मयकारी कला का निदर्शन है, वहीं कलाकार के लिये यह परकाया प्रवेश जैसी अवधूत प्रक्रिया है, जिसमें अभिनेता ही रूप-परिवर्तन के लिए मुख्य आधार या पीठिका मुहैया कराती है।

कम्पनी तक अनेक थियेटर कम्पनियों के नाटकों में स्त्री का अभिनय कर चुके एक चर्चित अभिनेता मास्टर 'चम्पालाल' के अनुसार थियेटरों में महिला का अभिनय करने वाले तरुणों की एक अच्छी भली तादाद हुआ करती थी। उन सभी को एक कड़ी साधना तथा रियाज से गुजरना होता था, जिसके बिना वे सफलतापूर्वक स्त्री नहीं बन सकते थे। उनसे की गयी लम्बी बातचीत के दौरान यह स्पष्ट हुआ कि तत्कालीन समाज तथा रंग-संस्कृति में स्त्री होने का मतलब स्त्री के रूप में जन्म लेना नहीं, बल्कि समाज द्वारा सायास दर्ज की गयी तथा स्वीकृत उस 'स्त्री-वृत्ति' को आत्मसात करना था, जिसके अन्तर्गत एक खास प्रकार की वेशभूषा के अतिरिक्त ये सभी आंगिक, वाचिक तथा आहार्य मुद्राएँ और नाज-नखरे भी आते थे, जिन्हें आज भी स्त्रियोचित कहकर बखाना जाता है। बाल-गन्धर्व जैसे कुछ अभिनेताओं ने तो इस सामाजिक रुढ़िबद्ध स्त्रीत्व को ऐसी सुथराई के साथ धारण किया था कि भले घरों की बहू-बेटियाँ स्त्रियोचित वेशभूषा तथा उठने-बैठने के तौर-तरीके सीखने के लिए उनके नाटक देखने आया करती थीं।

यह कुछ-कुछ वही तरीका है, जिस तरह की मनोवृत्ति की ओर ठुमरी गायिकी की महफिल संगीत को गिरिजा देवी ने जरूरी माना था या ओडिसी और भरतनाट्यम करते समय उसके कलाकारों को रति प्रसंगों को दर्शाने में भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है, यदि वे परम्परागत ढंग से विवाहित नहीं है। 'रामजात्राओं' से लेकर 'कलरिपयत्तू' तक तथा 'भांगड़ा', 'झूमर' से लेकर 'छऊ' नृत्य तक यही अभिनेयता एवं लोक संस्कृति का व्यवहार प्रभावी रहा है, यह और बात है कि हम आज उनमें तमाम प्रकार के नवाचार करते हुए कोई नयी नृत्य विधा का गायकी का प्रकार विकसित कर लें। फिर भी उसमें उस पारम्परिक कला के आरम्भिक तत्व उसी तरह सक्रिय रहेंगे, जिस तरह वह नयी विकसित हुई कला अपनी नयी काया में एक दुर्लभ किस्म का चाक्षुष या वाचिक आनन्द देगी।

● मंजूषा गांगुली

केनवास पर स्वप्न-चित्र

चित्रकार को स्वप्न सदृश अनुभव हमेशा आते हैं। क्योंकि किसी भी रचना की सृजन प्रक्रिया के दौरान उसकी मन:स्थिति स्वप्न देख रही सी ही होती है। जो सचमुच प्रत्यक्ष में नहीं है। वही उसे दिखाई देता रहता है या केवल उसका आभास उसे होता रहता है।

वहाँ सामने एक वृक्ष जिसकी ऊँची-ऊँची शाखाएँ बादलों से सटी हुई जान पड़ती है। इस पेड़ के निचले तने के व्यास और उसकी छालों की दरारों से भरी खुरदुरी त्वचा के कारण उस वृक्ष के प्रचण्ड अनुभव के साक्ष्य मिलते हैं। तने पर आए उभार, गठानें, गहरे गले और पाखियों के घरौंदे इन सभी के कारण यह तना एक विलक्षण आकार के पुरातन शिल्प की तरह दिखता है। वृक्ष का व्यास विस्तार और ऊँचाई सभी कुछ भव्य है। उसे देखकर ही जाना जा सकता है कि अनेक पगलाए बादलों से वह जूझा होगा। इसे ठीक-ठीक याद होगा शिशिर के अंत में उसका पत्तियों विहीन होना। फिर हर चैत में आती नयी बयार, बारिश की शुरुआती अंधड़, मूसलाधार वर्षा का ताण्डव और आसमान में कड़कती बिजलियों का रह रहकर, चमकना, वहीं उसकी हर पत्ती से होकर गुजरने वाला हरा-भरा चैतन्य भला कैसे भूला जा सकता है उसे!

सुबह की ओस की बारिश, बर्फ़ीली सर्दी, चारों ओर गहराती धुंध जिसमें गुम होती हर एक पत्ती को उसने अनुभव किया होगा। युगों से सालों-साल हर बार अलग-अलग तरह से बहती हवा का एक शब्द उसे याद हो चुका होगा। उस ऐसे सनातन वृक्ष के समीप जाकर उसकी खुरदुरी छाल के भीतर नम होता अंतर्मन छू लेने का बहुत मन करता है। इसी वृक्ष की विशाल छाया में कितने ही प्रवासी आकर रुके होंगे। कुछ समय विश्राम कर गुजर गए होंगे। इसकी घनी पत्तियों में से आसमान दिखाई देना लगभग असंभव ही है। चीटियाँ चींटें, गिरगिट, गिलहरी आदि की अनेक पीढ़ियाँ बसती होंगी इसी तने पर या शाखाओं पर। और होंगे घरौंदे इसकी ऊँची-ऊँची टहनियों के सिरों पर जिन बच्चों को धीरे-धीरे बढ़ते हुए इसने देखा होगा। इसी वृक्ष की जड़ में कहीं साँप भी बसते होंगे अपने बिलों में। कुल मिलाकर यह समूचा वृक्ष यानि एक छोटा-सा, अपने ही तरह का बिरला विश्व ही तो है।

इसी पेड़ पर एक पक्षी है होगा भी कब से वह 'ए' अमुक' ऐसी आवाज़ दे रहा है। जिसकी आवाज़ स्पष्ट सुनाई दे रही है। लेकिन दिखाई नहीं देता। उसकी यह परिचित हूक सुनते ही मन शांत हो जता है। खिन्नता दूर हो जाती है और यकायक कुछ मिल गया सा लगने लगता है। 'ओ अमुक' जैसा फिर कुछ सुनाई देता है और मैं उसे मन ही मन हुंकार देती हूँ। वह पक्षी छोटा-सा सुंदर-सा होगा शायद लेकिन वैसा न भी हो तो भी फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि वह 'ओ अमुक' की प्रतिक्रिया देता है। यही महत्वपूर्ण है। उसकी इसी आवाज से मैं जागती हूँ यह पक्षी मुझमें मेरे होने की याद दिलाता है।

वास्तव में देखा जाए तो वह वृक्ष और उस पर बैठा वह पक्षी सचमुच तो नहीं होता। क्योंकि मेरे सामने सिर्फ, एक केनवास होता है और वह भी 'कोरा केनवास'। किसी दिवास्वप्न की तरह सारा कुछ स्पष्ट दिखाई देता रहता है। और कभी-कभी उसी में से एकाध चित्र की शुरुआत होती है अर्थात् यह सारा जस का तस उस चित्र में आ नहीं पाता बल्कि उसमें कई बदलाव आते हैं। लेकिन स्वप्न भी कई बार ठीक वास्तविक ही होते हैं। बल्कि ऐसे स्वप्न का सपनापन जागने के बाद ही महसूस होता है। तब तक वह वास्तविक ही होता है। यह वास्तविक नहीं है। इसकी खामी हो जाने पर ही हम सब उसे स्वप्न समझते हैं।

चित्रकार को स्वप्न सदृश अनुभव हमेशा आते हैं। क्योंकि किसी भी रचना की सृजन प्रक्रिया के दौरान उसकी मन:स्थिति स्वप्न देख रही सी ही होती है। जो सचमुच प्रत्यक्ष में नहीं है। वही उसे दिखाई देता रहता है या केवल उसका आभास उसे होता रहता है। स्वप्न घटना या प्रतिमा बासी दृष्टिकोण से असंबद्ध और असंभाव्य लगती है। स्वप्न में वैसी नहीं लगती है। उसी तरह चित्र की प्रतिमाएँ असंबद्ध लगते हुए भी चित्र के संदर्भ में वे सुसंबद्ध ही होती हैं। उन प्रतिमाओं का चित्रावकाश से रिश्ता और स्वप्न प्रतिमान के स्वप्नों का रिश्ता एक ही है, ऐसा कहने में हरकत नहीं है।

हमारे स्वप्न भी वास्तविक अनुभवों पर धारित होते हुए भी उसके पार पहुँच जाते हैं। यानि वे वास्तव की शक्यता-अशक्यता से उस पार पहुँच जाते हैं। इसीलिए स्वप्न में असंभव कुछ होता ही नहीं है। यथार्थ के विभिन्न अनुभवों के चलते जो भी कल्पनाएँ हमारे मन में आती जाती हैं उन्हीं कल्पनाओं के मूर्त स्वरूप हमें स्वप्न में अनुभव होते हैं। इसी कारण हम पक्षियों की तरह स्वप्न में उड़ सकते हैं। बादलों की तरह तैर भी सकते हैं। चित्र में इन्हीं कल्पनाओं का मूर्त स्वरूप हम देख पाते हैं। तभी तो स्वप्न की तरह ही चित्र में अशक्य असंभाव्य जैसा कुछ भी बचता नहीं है। केवल चित्रावकाश के संदर्भ में सौंदर्य विवेक पर आधारित चित्र कृतियों के स्वयं भी ऐसे कुछ रिश्ते होते हैं जिन्हें चित्रकार को निभाने ही पड़ते हैं।

हमारी संवेदनाएँ स्वप्न में, सुप्तावस्था में होते हुए भी एक ख़ास सीमा तक कार्यरत रहती है। इसीलिए हमारा स्वप्नानुभव, दृश्यानुभव होते हुए भी कभी-कभी (कुछ प्रसंगवश) अन्य संवेदनाओंके ज़रिए हमें इनका प्रत्यक्ष अनुभव का आभास होता है। उसी तरह चित्रानुभव यह मूलत: दृश्य-स्वरूप में ही पता चलने के बावजूद उन संवेदनाओं में से इतर संवेदनाओं पर भी किन्हीं प्रमाणों में प्रभाव पड़ता है और प्रत्यक्ष का आभास उत्पन्न होता है। मात्र यह आभास है इसका अहसास हमें उस समय भी होता रहता है। चित्र और स्वप्न में यह मूलभूत अंतर है। क्योंकि सपने में हम यह स्वप्न देख रहे हैं इसका अनुभव हमें नहीं हो रहा होता बल्कि वह प्रत्यक्ष ही घट रहा है ऐसा लगता रहता है।

चित्र और स्वप्न में और भी एक महत्वपूर्ण फ़र्क है। वह यह कि स्वप्न हम चाहकर भी देख नहीं सकते। हमें कौन-सा स्वप्न दिखेगा इसकी पूर्व कल्पना भी हमें नहीं होती। एकाध दु:स्वप्न हो तब भी हम उसे नकार नहीं सकते। सपनों को हम रोक भी नहीं सकते। संक्षेप में कहें तो, कोई भी जागृत विचार या कल्पना स्वप्न को प्रत्यक्ष आकार दे नहीं सकता, ठीक इसके विपरीत किसी भी कलाकृति में जागृतावस्था

चित्रकार को स्वप्न जैसे अनुभव हमेशा आते हैं। क्योंकि किसी भी रचना की सृजन प्रक्रिया के दौरान उसकी मन:स्थिति स्वप्न देख रही सी ही होती है। जो सचमुच प्रत्यक्ष में नहीं है, वही उसे दिखाई देता रहता है या केवल उसका आभास उसे होता रहता है। हमारे सपने भी वास्तविक अनुभव से होते हुए भी उसके पार पहुंच जाते है। लेकिन स्वप्न हम चाहकर भी नहीं देख सकते लेकिन चित्रों में हमारे स्वप्न मनचाही उडान भर सकते है।

और स्वप्न दोनों के समन्वय को देखा जा सकता है, वह इस तरह की प्रतिमा सृजन यद्यपि स्वप्न सदृश्य सी मानसिक अवस्था में होता तो भी प्रतिमाओं के चित्रावकाश में निहित स्थान और कुल मिलाकर समूची योग्यता को उसके जागृत परिशीलन में परखा जा सकता है। इसी कारण एक विशिष्ट सीमा तक चित्रकार अपनी कृति को आकार दे पाता है। उसे वह रच सकता है। लेकिन सपनों के मामले में यह कतई संभव नहीं है। क्योंकि स्वप्न हमारे जागृत विचारों के (उस पार) बाहर होते हैं।

चित्रकार एक ख़ास सीमा तक ही चित्र बना सकता है। इसका कारण यह है कि चित्र में निहित मूलाधार उत्सर्जना उसके समग्र विचारकक्ष के पार होती हैं। केवल चित्र में और स्वप्न में विलक्षण साम्य दिखाई देता है। स्वप्न की तरलता, आज़ादी और यथार्थ लांघने की क्षमता जैसे गुणों की आवश्यकता चित्रों में भी आवश्यक है। और यह सब उत्कृटता में से निर्मित होता है। इसी कारण एक ओर जहाँ चित्र अपने आप बनते चले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर उसी समय किन्हीं प्रमाणों में चित्रकार भी उसे रचता चला जाता है। कई बार तो ये दोनों ही क्रियाएँ यानि अपने आप घटने और घटने देने की एक ही समय में सक्रिय होती हैं। जिनके समन्वय से ही चित्र बन जाता है। तभी तो किसी सीमा तक चित्रकार चित्र में आकार भरता रहता है। फिर भी उसमें बहुत-सा प्रतिशत अपने आप होते जाने का भी है। यहीं स्वप्न और चित्र का रिश्ता बनता है।

वास्तविकता के प्रतिबिंब सपने में दिखाई देते हैं। यह सत्य है, फिर भी उसी कारण उस वास्तव के अनेक अज्ञात रूप हमें स्वप्न के ज़रिए पता चलते जाते हैं। यह भी उतना ही सच है। इस तरह स्वप्न में घटने वाले वास्तव का रूपांतरण भी एक ही विशिष्ट पद्धति से न होकर उस रूपांतर की भिन्न-भिन्न संभावनाएँ निर्मित होती हैं चित्रकार की दृष्टि से ये संभावनाएँ बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। प्रत्येक सृजन प्रक्रिया में कल्पना शक्ति के साथ अंत: प्रेरणा मूल अनुभवों की स्मृतियाँ और प्रत्यक्ष संवेदनाओंसे अनुभूत वास्तविकता के विविध रूपों आदि के समावेश होते जाने के कारण सृजन भी स्वप्न जैसा ही जटिल होता है। कभी-कभी उसमें निहित प्रतिमाएँ सपने में एक भिन्न रूप धारण कर समक्ष आ जाती है। कभी चित्र के रूपांतर त्रिमिती में किसी शिल्प की तरह होता है। तो कभी चित्रभित्तियाँ विस्तृत होती पूरे आसमान भर फैली नज़र आने लगती है। कभी चित्र की दीवार बनती है तो कभी उन दीवारों में चित्र के आकार के दरवाजे खुलते हैं तो कभी उन्हीं आकारों के कोने। इन्हीं सबके बीच चित्रकार को नई-नई संभावनाओं की खोज होती है। और अप्रत्यक्ष रूप से उससे उसकी सृजन प्रक्रिया में मदद मिलती है। ऐसी मेरी मान्यता है।

इस तरह से स्वप्न और सृजन प्रक्रिया का निकट संबंध हैं, सपनों में सुप्त रूप में कार्यरत कल्पनाशक्ति का ही दूसरा रूप सृजन क्रिया द्वारा चित्र में प्रकट होता है। स्वप्न सादृश्य अनुभवों से चित्रों में प्रकट होने वाली प्रतिमाओं को चित्र में एक प्रकार का अधिभौतिक रूप प्राप्त होता है। मूलत: वास्तविक अनुभवों की स्वप्नसदृश्यता और स्वप्नजन्य प्रतीत होने वाली अतिवास्तविकता जैसा दुहरा अनुभव सृजनशीलता में ही प्रकट रहता है। ऐसे इन दो विभिन्न स्तरों के अनुभवों के एकत्रीकरण में से या समन्वय में से प्रतिभा सृजन होते रहने के कारण स्वाभाविक है कि चित्र संदर्भ सपनों को अनन्य साधारण महत्व प्राप्त होता है।

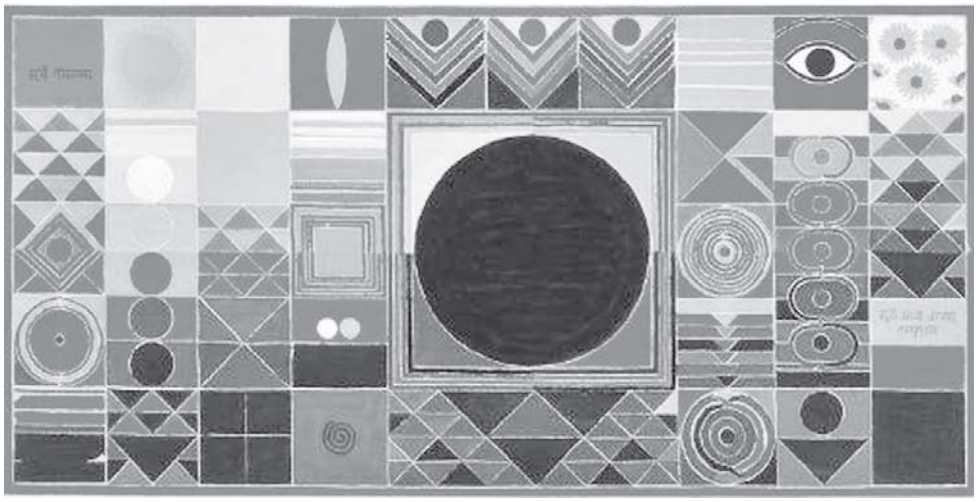

रज़ा

● अजात शत्रु

कितनी चीज़ें
बदल गई हैं हमारे
आसपास। हमारी
नाक के नीचे, इस
तरह धीरे–धीरे,
कि हमें अहसास
नहीं होता।
बदलाव का यह
अप्रतिहत प्रवाह
बीच से कहीं
विभाजित नहीं है
कि हम कह
सकें– हम इस
दिन, इतने बजे,
बदल गए। नहीं,
हम सोते जाते हैं,
उठते जाते हैं और
बदलते जाते हैं।
जागते हुए, इस
लम्बी नींद में
बदलते जाना और
अपने परिवेश को
बदलते चलना,
एक अजीब–सा
ख़ुश करता और
डराता अनुभव है।

अब वे फ़कीर नहीं आते!

परिवर्तन की इस अविच्छिन्न, वैश्विक विकासधारा में हमने बहुत कुछ लाभदायक पाया है, तो बहुत–सा कीमती गवाँ भी दिया है। चिकित्सा क्षेत्र में अद्भुत तरक्की, यातायात और संचार के साधनों में रोमांचकारी क्रांति, संगीत के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय धाराओं का मेल, टी.वी. और सिनेमा की सूक्ष्मताओं–संभावनाओं में लंबी छलाँग, फिर ग्लैमरस, ग्रैंड सौंदर्य प्रतियोगिताएँ, टी.वी. और एडवरटाइजिंग में बड़े औद्योगिक घरानों की पहल, लाखों–करोड़ों के ईनाम, विदेश यात्रा और पंचसितारा होटलों के आतिथ्य की लपकौरी (लालीपाप), हवाई जहाजों में शादी, फार्म हाउसों की पार्टियाँ, जींस पेंट, फास्ट फूड और आधुनिकता के नाम पर युवक–युवतियों का बेझिझक मेलजोल और जाने क्या–क्या! पर तथाकथित विकास के इन उड़ते पहाड़ों के बीच कुछ खो गया है। वह है दिल, कविता, संस्कृति, भावना, सामाजिकता और मनुष्य के निर्मल पारस्परिक संबंध। खो गया है– तो गाँव, लोकगीत, हरहराती नदियाँ, घने जंगल, सुबह की धूप और शाम के ढलते सायों में कविता को महसूसने की मानसिकता। ... बताने की जरूरत नहीं कि विकास के इन रंगीन मीना–बाजारों के पीछे आदमी सब कुछ पाकर भी पिछड़ गया है। कोई हसीन याद है जो खो गई है। वह एक विराट अस्पताल में खड़ा है जहाँ चमकदार कपड़ों में अंग्रेजी फटकारते, विज्ञापनी मुस्कराहटों के साथ अर्थहीन बातचीत करते, एक–दूसरे को प्रभावित करने के लिए बेजार, थके बीमार खड़े हैं। ये ठहाके लगाते हैं। पर उन्हें पता नहीं है कि ये हँस रहे हैं, क्योंकि ये दूसरों के लिए हँस रहे हैं और इस हँसने के पीछे हँसने जैसा कुछ नहीं। ये हाथ मिलाते हैं, गले लगते हैं, पर भीतर से उदास हैं– क्योंकि भीतर दिल के नाम का एक आदिम खिलौना ये बहुत पहले तोड़ चुके हैं, मेल मिलाप की ऊष्मा और मिठास चाहती है और सारी सियासती खबरदारी भूलकर एक–दूसरे में खो जाने का भरोसा चाहती है। आज हम उम्दा कपड़ों में, भूला–सा ठहाका

खो चुकने की लिस्ट बहुत लंबी है। नास्टेलजिया भी उसी अनुपात में उतना बड़ा है। और तो और, भिखारी तक बदल गए! उनके गाए हुए बचपन के वे मुखड़े सुनाई नहीं पड़ते! हर शहर में, हर गाँव में, हर मोहल्ले में, इस देश की एक खास सुबह होती थी, जो इस फकीरों के बैरागी गीतों से अध्यात्म का एक रंग ले लेती थी। हमें जीवन के असली मर्म की तरफ जगाती थी। हमें अचानक याद आ जाता था कि नहीं, दूसरे लोग भी हैं जिनके लिए हमें जीना है।

लगाते हुए, गहरे बीमार हैं, जिनकी आत्मा को सांस्कृतिक क्षयरोग लग चुका है! भूसे से भरी कायाएँ, जिनके चेहरे पर बढ़िया से बढ़िया रंग पोत दिए गए हैं....! चलती फिरती स्वस्थ लाशें...! 'वेलफेड कार्प्सेज!!!'

खो चुकने की लिस्ट बहुत लंबी है। नॉस्टेलजिया भी उसी अनुपात में उतना बड़ा है। और तो और, भिखारी तक बदल गए! उनके गाए हुए बचपन के वे मुखड़े सुनाई नहीं पड़ते! हर शहर में, हर गाँव में, हर मोहल्ले में, इस देश की एक ख़ास सुबह होती थी, जो इस फ़कीरों के बैरागी गीतों से अध्यात्म का एक रंग ले लेती थी। हमें जीवन के असली मर्म की तरफ़ जगाती थी। हमें अचानक याद आ जाता था कि नहीं, दूसरे लोग भी हैं जिनके लिए हमें जीना है। अंधे गुरुर में अपनी आत्मा को भूल नहीं जाना है, जो इसलिए हमें मिली है कि अंततः हम बीच की तमाम दुनियादारी निभाकर सत्य के आलोक में मिल सकें और उसके लिए प्रयास करते रहें। अब वे फ़कीर नहीं। अब गाने की वे किड़याँ नहीं! मुँह अँधेरे ही कोई पहली खबर लाता है- 'कश्मीर में तेरह लोग मारे गए।'

शायद आप विश्वास न करें, पर सच यह है। मेरे लिए सच यह है कि इन फ़कीरों को, भिखारियों को इन दिनों मैं बहुत मिस करता हूँ। दिवंगत माता-पिता याद आते हैं, खोया हुआ बचपन और छूटा हुआ 'खंडवा' याद आता है, तो मन के वीराने में ये सुबह सँवारने वाले भी सरक आते हैं और कुछ पलों के लिए धूँ-धूँ जलते लाक्षाग्रह से मुझे बचा लेते हैं जिसका नाम आज का ज़माना है। सन् 50-52 का दौर। उम्र यही आठ-दस साल। तब मैं 'खंडवा' में रहता था। पिता रेलवे में मुलाजिम। याद आता है, वह 'घासपुरा' मोहल्ला। रेल्वे कालोनी। सुबह-सुबह मैदान में जलती सिगड़ियाँ। उनका धुँआ कोहरे के साथ मिलकर लोक परलोक का अजीब आलम गढ़ता। 'आठ खोली' के पीछे चली मालगाड़ी की शंटिंग। घरों में बच्चे कुछ सोए और जागे, और चालियों के नल पर बर्तनों का लगातार!... तभी इस बीच थोड़ी दूर पर, हारमोनियम के स्वर उभरते और उसी के साथ एक बूढ़े फ़कीर की ये मार्मिक सतरें- 'तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफ़िर देख ज़रा।' माहौल एकदम बैरागी खामोशी में डूब जाता। सुबह अपना रुख़ बदल लेती। यह बूढ़ा 'धूनीवाले दादा' के आश्रम का कोई साधु था। उसके साथ दो-तीन युवा साधु और भी रहते। याद है भजन के बाद वह बाबा आवाज़ लगाता- 'दादाजी के बंदरों को आटे की सामग्री दो!' कभी-कभी वह डाँट भी देता, अगर कोई गृहस्थ देने के साथ इधर-उधर के तर्क दे बैठता। आज सोचता हूँ चालीस-पचास साल बाद भी समर्पण और विनम्रता की हद थी उस साधु में। अपने को दादाजी का 'बंदर' कहता था! क्या यहाँ 'बंदर' का मतलब 'बंदर' है? नहीं-नहीं यह तो कविता का टुकड़ा है! समर्पित, भावपूर्ण, आत्मा ही इस शब्द को उपजा सकती थी, वरना शब्दकोश में तो वह मुर्दा पड़ा था और हर आदमी के जीवन के क़रीब था। और अब वह पंक्ति भी याद आती है- 'तेरी गठरी में लागा चोर।' वाह क्या अंदाजे-बयाँ है भक्तकवियों का! सीधी-सादी भाषा, लोकजन से जुड़ी हुई, सरल, परिचित उपमा। अर्थात् तेरे जीवन की थाली नसी जा रही है। उसमें वासनाओं के चोर लगे हैं। जग में मात्र यात्रा के बतौर आने वाले जो अस्थाई यात्री, इसे समय रहते बचा ले। आज यह सादगी दुर्लभ है, क्योंकि अब न गाँव-खेड़े की सरल, सहज सभ्यता बची, और न वैसे 'हिन्दुस्तानी' संत और न वैसा माहौल! वह साधु, केवल भिक्षुक नहीं, हमारी सुबहों को सँवारने वाला... आध्यात्मिक घटक भी था! उसी तरह एक मराठा भिखारी आता था- बूढ़ा। एक लांग की धोती, माथे पर पगड़ी और एक हाथ में तंबूरा! वह तुकाराम के अभंग और ब्रह्मानंद के भजन गाता। गाते समय वह आँखें मूँद लेता और उसकी उँगली

शायद आप विश्वास न करें, पर सच यह है। मेरे लिए सच यह है कि इन फकीरों को, भिखारियों को इन दिनों मैं बहुत मिस करता हूँ। दिवंगत माता-पिता याद आते हैं, खोया हुआ बचपन और छूटा हुआ 'खंडवा' याद आता है, तो मन के वीराने में ये सुबह सँवारने वाले भी सरक आते हैं और कुछ पलों के लिए धूँ-धूँ जलते लाक्षाग्रह से मुझे बचा लेते हैं जिसका नाम आज का ज़माना है।

तंबूरे के तार को छेड़ती जाती। देखने में वह के.सी. डे के जैसा था और गाता भी उन्हीं की शैली में। 'साथी चलो गुरु के संग।' अम्मा कहती- 'जा, बाबा की मुट्ठी दे आ' और मैं लपककर जाता, दे आता! अब ऐसे 'मंगतश्री' नजर नहीं आते! फिर, एक बात और। जरा यह तो बताइये कि भीख माँगने के साथ भजन गाने की प्रथा क्यों थी? पेट, आटे और धर्म में कार्य-कारण का ऐसा संबंध क्यों था? इसीलिए कि हज़ारों साल से धर्म, अध्यात्म और पारलौकिक आदर्श इस देश की जनचेतना से जुड़ा हुआ था। भिखारी को भीख देना चाहिए और भिखारी को परमात्मा का नाम सुनाकर भीख लेनी चाहिए; ऐसा अलिखित संबंध हिन्दू धर्म और इस्लाम में, स्वभावतः स्थापित हो गया था! तो संस्कृति की यह विरासत हमारी सुबहों को मात्र तथ्यात्मक सुबह से उठाकर पावन रस से सराबोर कर देती थी। अब भिखारी भीख माँगते तो दिखाई पड़ते हैं, पर भजन-वजन वे अक्सर नहीं गाते। उन्हें भजन याद भी नहीं हैं। 'ब्रह्मानंद भजनमाला' की वह छोटी-सी किताब (गुटका) जो सड़क-दर-सड़क बिकती नजर आती थी, अब सड़कों से गायब है। नई पीढ़ी के लिए अब यह मंगल ग्रह का अपरिचित आयटम है।

कितनों को अब यह जानना अच्छा लगेगा कि स्वर्गीय मोहम्मद रफी के सुप्रसिद्ध गीत 'तेरे कूचे में अरमानों की दुनिया लेकर आया हूँ' (फिल्म दिल्लगी) की तर्ज नौशाद साहब ने इसी ब्रह्मानंद के एक भजन से बनाई थी, जिसे रफी के पहले उसी धुन में देश के भिखारी गाते थे।

और... सन् 60-70 तक तो वह सूरदासी गीत भी रेलगाड़ियों में सुन पड़ता था- 'सुन ले जसोदा मैया, ऐसा तेरा कन्हैया।' इसे इलाहाबाद-भुसावल पैसेंजर में एक बुढ़िया गाती थी, जिसके साथ एक मैली-कुचैली बच्ची रहती थी। पहले बुढ़िया केले बेचती थी। पर बाद में जवान बेटा मर गया और दुनिया से चित्त उखड़ गया, तो वह भजन और भीख में उतर आई। तब लोग भी मात्र श्रोता नहीं थे। वे इस गीत को बुढ़िया से गवाते और कृष्ण की बाल-लीला की कल्पना में डूबकर भावुक हो जाते। बुढ़िया को जीविका के लिए भरपूर पैसा मिल जाता। अब वह बुढ़िया यकीनन मर चुकी है। और खंडवा-इटारसी के बीच वह गीत अरसा हुए... गुम हो चुका है।

'जागिए रघुनाथ कुँवर, पंछी बन बोले'- इस प्रभाती से ज्यादा प्रचलित भजन भिखारियों और श्रोताओं के बीच, यहाँ तक कि मुस्लिम फ़कीरों के बीच भी कबीर के दोहे अथवा पद रहे हैं। उन्हीं दिनों 'खंडवा' में एक दरवेश आता था। कद में लंबा, बड़े-बड़े बाल, बदन पर हरा लबादा और हरी लुंगी (हरा रंग इस्लाम में शुभ माना जाता है, क्योंकि इस्लाम का जन्म रेगिस्तान में हुआ!) तथा हाथ में काला, लंबा कशकोल (भिक्षापात्र)। इस भिक्षापात्र के चारों तरफ, धागे में लाल रंग की गुरियाएँ लगी हुई थीं। तब दरवेश भिक्षापात्र को, गीत की लय के साथ गोल-गोल घुमाता तो रप् रप् की लच्छेदार आवाज पैदा होती। इसी कशकोल के साथ वह गाता- 'चुन चुन कंवर महल बनाया, लोग कहें घर मेरा है, ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा है।' यह दोहा कबीर का है और कबीर हिन्दू तथा मुस्लिम फ़कीरों में समान रूप से प्रिय रहे हैं। जब वह फकीर इन पंक्तियों को गाता तो हम बच्चे उसके आसपास खड़े हो जाते। 'चिड़िया' और 'रैन बसेरा' जैसे शब्द हमें बाँध लेते। तब भारत में जातिवादी और मजहबपरस्त राजनीति का नामोनिशान न था। या यूँ कहें आम आदमी इसका शिकार न था! हिन्दू बस्तियों में भी मुस्लिम फ़कीरों को खुलकर मुट्ठी मिलती थी और उन्हें भी इन बस्तियों में जाने से हिचक नहीं थी।

अब तो भिखारी भी बदल गए। वे चल्लू सिनेमा गाना गाते हैं और रेलगाड़ी में जनता भी उन्हीं गानों को सुनना पसंद करती है। ये गाने आप सबको मालूम हैं। छोटे बच्चे, सीमेंट के पत्थर की टिकिड़याँ बजाते-बजाते 'लगे पचासी झटके' गा जाते हैं, जबकि उन्हें

गाने का अर्थ भी मालूम नहीं होता। लोग मज़ा लेते हैं और लापरवाही से कुछ दे-दुआकर बात करने भिड़ जाते हैं। अभी हाल तक सुना जाता हुआ 'गरीब की सुनो, वो तुम्हारी सुनेगा, तुम एक पैसा दोगे, तो वह दस लाख देगा' (संगीतकार रवि ने भिखारियों के ऐसे गाने काफी कम्पोज किए) रेलगाड़ियों से ग़ायब हो चुका है। उसकी जगह अब शान से सुन सकते हैं 'बीड़ी जलाई ले', 'मुन्नी बदनाम होवे'। अपना अधुनातन भिखारी इसे शान से गाता है। 'पिंजरे के पंछी रे तेरा दरद न जाने कोय' पर कोई उसे भीख नहीं देगा।

यह अच्छा हुआ या बुरा हुआ? ज़माने के इस पतन को क्या कहा जाए? गहरी समझ यह है इस पर कोई टिप्पणी नहीं की जा सकती। ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहेगा- यह न अच्छा है, न बुरा है। इसे समभाव से देखो। यह विश्वप्रवाह है! इसमें सब शामिल हैं। पर ज़िम्मेदार कोई नहीं- 'क्योंकि विश्वप्रवाह सबके सर पर से आता है और उसमें लोग बहते रहते हैं। इसमें एक आदमी, एक संस्था का युग करार दिया जा सकता है। पर स्वयं विश्वप्रवाह का कोई कर्ता नहीं। इसे भगवान की लीला मानिए या बस यूनिवर्सल पतलो। ...ठीक है। पर हर आदमी बुद्ध नहीं हो पाता। वह इंसान की निगाह से 'संपूर्ण' को तोड़कर देखने के लिए मजबूर है। इसलिए कचोट होती है। अफ़सोस होता है। तुलनाएँ और आलोचना खिंचकर आने लगते हैं। मैं इसी पाए का अदना इंसान हूँ। व्यर्थ ही सही, पर क्षोभ होता है। हम लुट भी गए हैं विराट तरक्की के इस दौर में। धर्म-अध्यात्म तो गए ही गए, बीच से संवेदनशीलता भी चली गई। अब कोई किसी के लिए नहीं रुकता। सड़क दुर्घटनाग्रस्त पड़े अजनबी को अस्पताल पहुँचाने के लिए किसी के पास वक्त नहीं है और न रुचि। रेलयात्रा में किसी अनजान को चाय पिलाने का मज़ा है और लंबी यात्रा बिना ऊब के कट सकती है। पर क्यों पिलाएँ चाय? इसके ख़िलाफ कन्विंस करना भी मुश्किल हो गया है। सुविधाएँ अपना-अपना तर्क ले आती हैं। कलम को कहाँ रोकूँ? पर रोकना तो है।

सो यहाँ रोकता हूँ- सुबहें तो अब भी आती हैं रामजी! पर उपनिषदों पर पुसे इस मूरख मन को अब सुनाई नहीं पड़ता- 'रहना नहिं देश विराना है! यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े गल जाना है।' अब वे फ़कीर नहीं आते!

● शिफाली पाण्डे

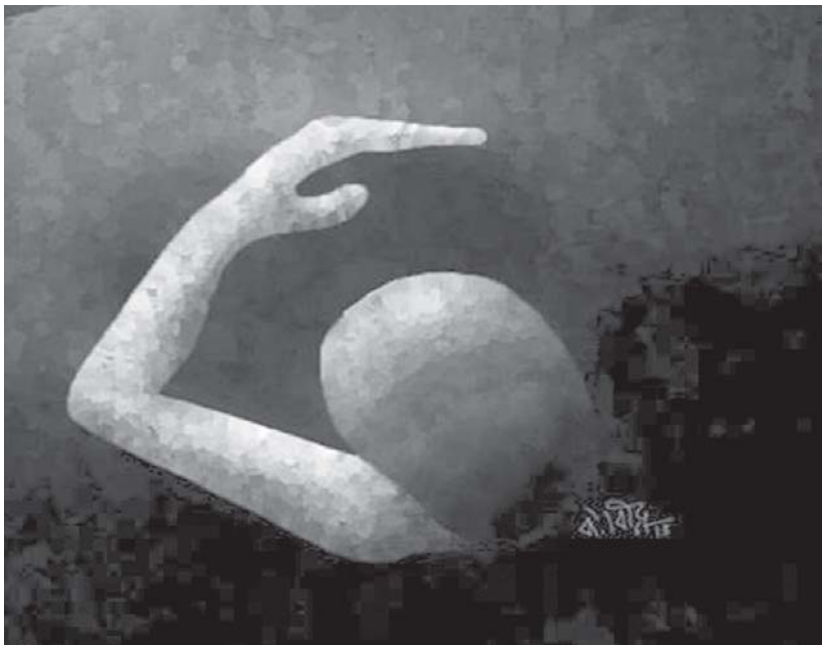

सुनो.., कहानी

इन कहानियों के कहानीकार, भी हिंदी साहित्य के डॉक्टरेट नहीं थे.....अपने आस पास की दुनिया को लेकर संजीदा, कुछ जज़्बाती और भाषा की तमीज़ रखने वाले, नीलेश ने उनमें याद शहर के कहानीकार ढूंढ लिए थे.....ख़ुद मैने भी कहानी की ऊंगली इसी तरह थामी थी.....बहुत गुरुर से कहती हूं कि कहानी के इस नए दौर में नीलेश मिसरा ने पहले पहल जिसकी कच्ची पक्की कहानी को याद शहर का पता दिया..... वो मैं थी.....

जैसे दुनिया के बदलते कलेवर के साथ कहानी ख़ुद अपना कथानक और किरदार बदल ले.....कि जैसे कहानी, हर उस खांचे से निकलकर बाहर आए, जहां, उसे किसी ख़ास पहचान के साथ बांधने की कोशिश की जाती रही है.....रेडियो के मेगाहर्टज़ पर सवार होकर कानों में उतर रही इन कहानियों का साहित्य में कोई योगदान है क्या.....इन कहानियों ने लेखन में किस पंथ का झंडा उठाया है.....इन कहानियों से कोई विचार रोपा गया क्या....इन कहानियों से भाषा कितनी समृद्ध हुई....इन सवालों का जवाब तलाशने लिखी ही नहीं जा रही ये कहानियाँ .....ये नई निकोर कहानियाँ लिखी जा रही हैं....कि क़िस्सों पर कान देने वाली हमारे आस पास की दुनिया में सुनने का सब्र और सलाहियत फिर लौट सके!

सुनेंगे....तो कहानी वापिस हमारी दुनिया में लौटेंगी.....फिर कही भी जाएँगी .....सुनी भी जाएँगी....और लिखी तो ख़ैर जा ही रही हैं..... हैरत की बात ये कि ये सारी कहानियाँ, किसी साहित्यिक पत्रिका, किसी किताब का हिस्सा बन जाने हाथों से कागज़ पर नहीं उतर रही हैं.....ये कहानियाँ लिखी जा रही हैं, कि नानी के करवट ले लेते ही छूटी कहानी की डोर को फिर थामना जरुरी हो गया है.....तो अपने परिवेश में हुए बदलाव को दर्ज करती, इन कहानियों में इतिहास में गुम राजा रानी नहीं हैं.... प्रेमचंद के धनिया होरी भी ढूँढे नहीं मिलें शायद.....ये कहानियाँ, अपने कस्बे से मीलों दूर मेट्रो में जिंदगी के फेरे लगा रहे उस बेटे की ज़ुबान हैं, जो अपने पिता से चाहते हुए भी नहीं कह पाता है कि कंधे पर रखे आपके सपनों को जीने चला आया हूं, वरना तो ज़िंदगी उस ढाई कमरे के मकान में ही थी....कि जहां आज भी दुश्वारियां सजा नहीं मज़ा दिया करती हैं .....ये कहानियाँ उस तीस पार की औरत की अधूरी ख़्वाहिशें हैं, जिसके लिए उम्र के सारे रंग मसालदानी में सिमटे हैं.....कि धरती की तरह एक तय दायरे में घूम रही है बरसों से.....घड़ी पर दौड़ती जिसकी दुनिया में

शादी के अलबम की तरह प्यार के दिन भी धुंधले पड़ने लगे हैं .....ये कहानियां नब्बे के दौर की उन मिडिल क्लास इश्क की हैं....जिनमें आधी ढकी खिड़कियां की सिलवटें, बताती थी इश्क कितना कच्चा है और कितना पक्का.....इस छत से उस छत की मुंडेर जैसे सरहद पार की मोहब्बत कोई.....इन कहानियों में दूरदर्शन का चित्रहार है.....रसोई से बेवजह भी आवाज़ दे लेती अम्मा हैं.....घर की जरुरतों को पूरा करने हमेशा दरिकनार कर दिया जाने वाला बाबूजी का वो छाता है, जिसकी तुरपाई अब बारिश संभालने से इंकार कर रही है.....इन कहानियों में गली की पुलिया के नीचे गुम हुई क्रिकेट की गेंद है.....और क्रोशिए के जाली वाले रुमाल से ढंकी कई तश्तरियाँ हैं, जो ईद और दीवाली बिना नागा, सिर्फ दो दरवाजे और देहरी नहीं, धर्म जाति, और जाने कितनी दीवारें बेहिचक पार कर जाती.....और बांध आती, रिश्तों की कितनी कितनी डोर.....

कहानी की भूमिका कहानी जितनी लंबी हो गई शायद....लेकिन कहानी इतनी लंबी नहीं.....विविध भारती के हवा महल की तरह प्राइवेट एफएम पर कहानियाँ लौट तो रहीं थी...लेकिन एक किस्सागो के साथ.....उस गहरी सी आवाज़ में रेडियो पर आई पहली कहानी थी दिवाली की रात.....इन कहानियों की खासियत ये थी कि कहानी में छः अंतराल थे....और हर अंतराल में एक गाना यूं गूंथा हुआ....जैसे पांच सुफ़ैद मोतियो के बाद दो पीले या लाल मोती हार की ख़ूबसूरती कुछ और बढा देते हैं, बिल्कुल वैसे ही....इन कहानियों में गाना , कहानी के हर मोड़ को कुछ और दिलकश बना देता.....नीलेश मिश्रा, इस नाम से यक़ीनन अनजान नहीं होंगे आप....वो क़िस्सागो जिन्होने, कहानियों को उस नॉस्टेलजिया की ज़मीन पर खड़ा किया.....साहित्य की दुनिया में एक सीमा के बाद जिससे परहेज किया जाता है.....लेकिन नीलेश का ये जोखिम , उस दुनिया में भरपूर पसंद किया गया....जिनके घरों में किताबों का कोई कोना नहीं था ....लेकिन घर के बारामदे से लेकर बैडरुम और कार के म्यूज़िक सिस्टम तक कहानियाँ तैर रहीं थी....क्योंकि ये उनकी अपनी कहानियाँ थी.....उनके अपने बचपन, जवानी के दौर की कहानियाँ..... भागती ज़िंदगी का सुकून बन रही थी कहानियाँ.....कि आज जिंदगी में सबकुछ हासिल है लेकिन वो तसल्ली वो इत्मीनान नहीं....वो सिर्फ़ दोस्तों में गुज़रने वाली दोपहरें और शाम नहीं है.....जावेद अख़्तर साहब के लफ्ज़ों में गिन गिन के सिक्के हाथ मेरा खुरदुरा हुआ जाती रही वो लम्स की नर्मी बुरा हुआ....तो नीलेश ने इन कहानियों के ज़रिए छूट गई उसी नर्मी को छू लिया था.....कोई घर पहुँचने से पहले मोड़ पर सिर्फ़ इसलिए कार सड़क पार लगा लेता कि कहानी का वो मोड़ बाकी है अभी....कोई आराम कुर्सी पर सिर टिका के रो लेता, कि कहानियों सा एण्ड ज़िंदगी में क्यों नहीं होता कम्बख्त.....

हिंदी साहित्य में इन कहानियों का योगदान इतिहास में दर्ज होगा कि नहीं कहना मुश्किल.....लेकिन ये नई वाली हिंदी, जिसमें अंग्रेज़ी भी भरपूर है.....उर्दू भी पूरी तबीयत से.....इन कहानियों की हिंदी साहित्य में इतनी हिस्सेदारी तो यकीनन रहेगी कि इनकी बदौलत, किताबों से दूर बहुत दूर हुई एक पूरी पीढ़ी ने फिर कहानियों का हाथ थामा है...।

याद शहर....नई कहानियों की ज़मीन, घर और पता.....तो छोटे छोटे शहरों में खाली बोर दोपहरों में बहुत ख़ामोशी से कहानियों पर काम शुरु हुआ.....जो कहानियों के बदलते मौसम, सीजन एक दो तीन चार पांच के साथ आगे बढ़ा...और बढता रहेगा....साहित्य के लिहाज से एकदम कोरे कोई मॉस कम्यूनिकेशन का छात्र, कोई हाउस वाइफ जिसे लिखना छोड़े कई बरस बीत गए.....एडवर्टाइजिंग की दुनिया के जिंगल्स बनाती, गागर मेंसागर समेटती कोई लड़की....ऐसे खड़ी हो रही थी, नीलेश मिश्रा की मंडली.....और ख़ास बात ये कि कभी स्काईप...कभी मंडली की बैठकों में कहानियों का ककहरा सीखते.....अपनी कहानी के प्लॉट को परवान चढाते इन्ही मे से कई, अब नई वाली हिंदी के कामयाब लेखक भी बन रहे थे.....तो आलोचना के चश्मे से इन कहानियों को देखिए भी....देखा भी गया है....तब भी इन कहानियों का सबसे बड़ा हासिल , नीलेश के साथ उनके साथी राइटर्स को इन बॉक्स में आने वाले वो संदेश हैं , जिनमें कैंसर से लड़ रहा कोई मरीज़ लिखता है कि आपकी कहानी ने मुझे बीमारी से बाहर आकर हँसना सिखाया है.....जो सबको अपनी कहानी लगे वो कहानी मुकम्मिल है ना....तो इस लिहाज से ये कहानी भी अधूरी नहीं कही जा सकतीं.....हिंदी साहित्य में इन कहानियों का योगदान इतिहास में दर्ज होगा कि नहीं कहना मुश्किल.....लेकिन ये नई वाली हिंदी, जिसमें अंग्रेजी भी भरपूर है.....उर्दू भी पूरी तबीयत से.....इन कहानियों की हिंदी साहित्य में इतनी हिस्सेदारी तो यक़ीनन रहेगी कि इनकी बदौलत, किताबों से दूर बहुत दूर हुई एक पूरी पीढी ने फिर कहानियों का हाथ थामा है...।

● सुदीप सोहनी

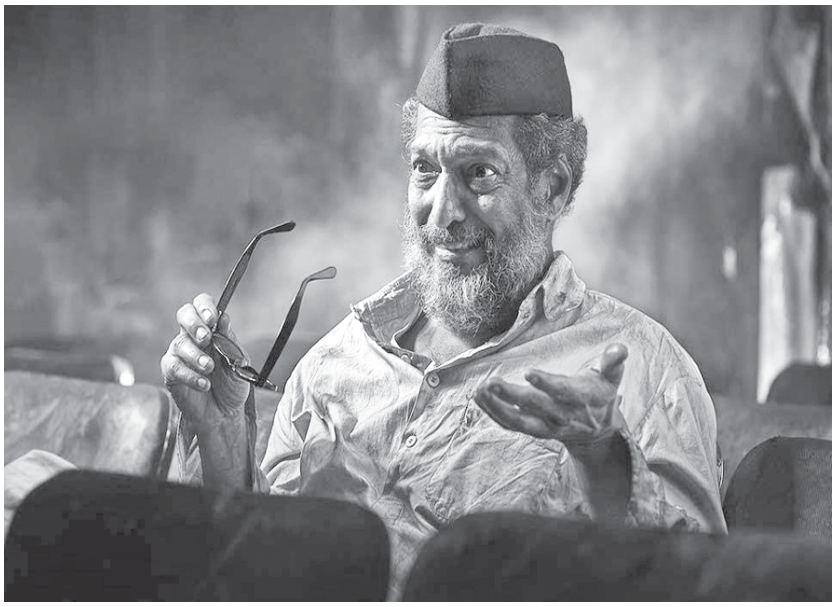

सिनेमा और रंगमंच
अलहदा भी, साथ भी

सिनेमा मुख्य रूप से दृश्यों का माध्यम माना जाता है इसलिए कोई भी कथा परदे यानी स्क्रीन पर दिखाये जाने के लिए विज़ुअल (दृश्य) की मांग करती है। रंगमंच पर पुरातन काल से चली आ रही सबसे सशक्त किरदार सूत्रधार की परंपरा सिनेमा माध्यम में सबसे कमजोर मानी जाती है। और यहीं से सिनेमा और रंगमंच के माध्यम में फ़र्क की शुरुआत होती है। बहरहाल, इसीलिए दोनों ही माध्यमों में दिखाई जाने वाली कहानी रूपान्तरण की माँग करती है।

रंगमंच हो या सिनेमा, लेखक और निर्देशक के रूप में दो बहुत महत्तवपूर्ण कारक उभरते हैं जिनके कारण दोनों माध्यम भिन्नता और स्तरीयता का दर्जा पाते हैं। यह बहस रंगमंच और सिनेमा की श्रेष्ठता या भिन्नता के लिए नहीं बल्कि उस आधार को बना देने की है।

हॉलीवुड ने लेखन की महत्ता को स्वीकारा है और इसलिए वहाँ के एकेडमी अवार्ड्स में सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लेखन पुरस्कार में दो कैटेगरी हैं दि बेस्ट ओरिजिनल स्क्रीनप्ले और बेस्ट एडप्टेड स्क्रीनप्ले। 1956 तक इसे कहानी का ही अवार्ड माना जाता था जिसे फिर इन दो कैटेगरी में विभाजित किया गया। हालांकि, मतभेद इधर भी बहुत से हैं पर यह एडप्टेशन या रूपान्तरण लेखक और निर्देशक के कौशल को ही टटोलता है। साहित्य की कई विधाएँ कहानी, उपन्यास, जीवनी, यात्रा वृत्तान्त, आत्मकथा, कविता, नाटक आदि या तो सिनेमा के मूल विचार या उसके आधार रहे जिस पर बहुत कुछ लिखा, पढ़ा जा चुका है। केवल नाटकों पर बनी फिल्मों की बात की जाये तो यह संख्या भले कम हो पर रोचक ज़रूर है। शेक्सपीयर की लेखकीय उपस्थिति और साहित्यिक कद आज भी अपने पूरे सम्मोहन के साथ मौजूद है। यही कारण है कि सिनेमा में शेक्सपीयर का जम कर उपयोग हुआ। यूरोप में जन्मे शेक्सपीयर नाटकों के साथ जीवन की जिस क्रान्ति को उद्घाटित करते हैं उसने देश काल, भूगोल को तोड़ते हुए पूरी दुनिया को एक किया है। सिनेमाई इतिहास में शेक्सपीयर जितनी तरह आते हैं उतना कोई और लेखक नहीं।

बीते कुछ सालों में नाटक आधारित फ़िल्मों में मेरी देखी बेहतरीन फ़िल्मों में 'एमेड्यूअस' एक बेहतरीन फ़िल्म रही है। रशियन नाटककार

एलेक्ज़ैन्डर पुश्किन के 1830 में लिखे नाटक 'मोजार्ट एंड सैलियरी' पर आधारित मिलोस फोरमैन की यह फिल्म 1984 में बनी थी। पीटर शैफ़र के रूपान्तरण पर यह पहले नाटक 'एमैड्यूअस' और फिर बाद में इसी नाम से फ़िल्म के रूप में बना। ऑस्ट्रिया के वियना में बूढ़े संगीतकार सैलियरी के मोजार्ट को जहर देकर मार देने की स्वीकारोक्ति से कहानी शुरू होती है जिसका कारण उसकी ईश्वर से वह ईर्ष्या है जब उसने सारी सांगीतिक प्रतिभा मोज़ार्ट को दे दी। ढाई घंटे से भी अधिक की यह फ़िल्म अपने फैलाव में नाटकीयता, भव्यता और मोज़ार्ट की धुनों के कारण कमाल का अनुभव देती है।

हॉलीवुड रॉम-कॉम के स्टार माने जाने वाले वूडी एलन के लिखे नाटक 'प्ले इट अगेन सैम' पर इसी नाम से बनी फिल्म जिसमें मुख्य किरदार भी वूडी ने निभाया है, मज़ेदार फ़िल्म है। दार्शनिकता से इतर ज़िंदगी की सच्चाई को हल्के-फुल्के मनोरंजन के साथ ट्रीट करना साहित्य में स्वीकार्य नहीं। सिनेमा इसी मिथक को तोड़ता है। तलाकशुदा सैम जो कि एक फ़िल्म समीक्षक है फ़िल्म 'कासाब्लांका' के किरदार रिक (हंफ्री बोगर्ट) से प्रभावित है। तलाक के बाद की निराशा से उबरते हुए सैम अपने दोस्त के फिर से ज़िंदगी शुरू करने और स्त्रियों से मिलने की सलाह के बाद उसी की पत्नी से दिल लगा बैठता है। उसके दिमाग में चल रही कई परिस्थितियाँ और रिक का किरदार जो फ़िल्म 'कासाब्लांका' में अपनी प्रेमिका को उसके पति के साथ जाने देता है, को स्वीकार न करते हुए सैम की यह कहानी गुदगुदी पैदा करती है।

शेक्सपीयर की लेखकीय उपस्थिति और साहित्यिक कद आज भी अपने पूरे सम्मोहन के साथ मौजूद है। यही कारण है कि सिनेमा में शेक्सपीयर का जम कर उपयोग हुआ। यूरोप में जन्मे शेक्सपीयर नाटकों के साथ जीवन की जिस क्रान्ति को उद्घाटित करते हैं उसने देश काल, भूगोल को तोड़ते हुए पूरी दुनिया को एक किया है। सिनेमाई इतिहास में शेक्सपीयर जितनी तरह आते हैं उतना कोई और लेखक नहीं।

इसके इतर जर्मन निर्देशक रेने वर्नर फास्बेंडर लिखित नाटक 'द बिटर टिअर्स ऑफ पेट्रा वॉन कांट' पर इसी नाम की जर्मन फ़िल्म फ़ैशन डिज़ाइनर पेट्रा वॉन कांट के जीवन के उन पहलुओं को उभारती हैं जब पुरुष प्रेमी पति के मर जाने या शादी के बाद तलाक़ हो जाने के कारण उसे पुरुषों के प्रति घृणा हो जाती है। यही उसका स्त्रियों के प्रति आकर्षण भी पैदा होता है। फिर भीतर की कई ग्रंथियों के कारण उसके अवचेतन की कई परतें खुलती हैं। 1972 में बनी यह एक कमाल की एक्सपेरिमेंटल फिल्म है जो आज के समाज की हक़ीक़त भी दर्शाती है। इटैलियन फिल्मकार पिएरे पाओलो पसोलिनी साहित्यिक कृतियों पर अपनी तरह की फ़िल्में बनाते रहे हैं जिसमें सेक्स, न्यूडिटी के ज़रिये ज़िंदगी की सच्चाईयों पर तीखा व्यंग्य होता है। सोफ़ोक्लीज के नाटक 'ईडीपस रेक्स' पर आधारित इटैलियन फ़िल्म 'इडिपो रे' में उनकी यही शैली दिखती है। हालांकि, पसोलिनी इसके बाद की फिल्मों में अपनी स्टाइल अलग तरह से उभारते हैं। मगर अपनी देखी फ़िल्मों में पसोलिनी मुझे अलग (अजीब) तरह के फ़िल्मकार लगते हैं। और इस नाते भी उनकी फ़िल्में देखे जाने की माँग करती हैं।

हिन्दी फ़िल्मों में शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम' पर गिरीश कर्नाड निर्देशित फिल्म 'उत्सव', शेक्सपीयर के नाटकों पर आधारित विशाल भारद्वाज की फ़िल्मों 'मकबूल', 'ओमकारा' और 'हैदर' चर्चित हैं ही। कई और हिन्दी फ़िल्में 'रोमियो जूलियट' की कहानी पर आज भी बन ही रही है। 'क़यामत से क़यामत तक', 'इशक़ज़ादे, 'रामलीला' आदि तक एक लंबी लिस्ट बनती है। मणि कौल ने मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर इसी नाम से अ-नाटकीय फ़िल्म बनाई है। जो उनका सिग्नेचर मिनिमलिज्म स्टाइल भी है। मराठी नाटक 'कटयार कालजात घुसली' पर साल 2015 में सुबोध भावे की इसी नाम से बनी फ़िल्म आई थी जिसमें मशहूर गायक शंकर महादेवन ने अभिनय भी किया था। दो सांगीतिक घरानों और गुरुओं की लड़ाई को दर्शाती यह बेहद चर्चित फिल्म थी। इस क्रम में महेश मांजरेकर निर्देशित, नाना पाटेकर अभिनीत 'नटसम्राट' और श्याम बेनेगल द्वारा हबीब तनवीर के बहुचर्चित नाटक 'चरणदास चोर' से प्रेरित फिल्म का ज़िक्र भी किया जा सकता है। प्रसिद्ध मलयाली फ़िल्मकार जी अरविंदन की 'कांचन सीता' इसी नाम के नाटक पर आधारित भारतीय सिनेमा की बेहतरीन फ़िल्मों में से है जो राम के जीवन की उत्तर कथा पर आधारित है। हालांकि ऐसी फ़िल्मों को कथा के आधार पर केवल वर्गीकृत कर उन पर बात नहीं की जा सकती। पर आलेख की सीमाओं में उन्हें चिन्हित कर यह फ़िल्में देखी जा सकें तब भी उसकी सार्थकता बनी रह सकेगी।

● विनय उपाध्याय

कला लेखन का सच

'विश्वरंग' के उजास में जब साहित्य, संस्कृति और कलाओं की उत्सवी आकांक्षा ने अपना विहंगम रूप रचा तब यह देखा जाना भी लाज़िमी है कि ऐसे उत्सवों की आवाज़ों की पहुंच कैसी, कितनी और कहाँ तक जाती दिखाई दे रही है! ख़ासकर हमारे समय का मीडिया उसके प्रति कितना गंभीर है। सांस्कृतिक पत्रकारिता के आधुनिक परिदृश्य को इस प्रसंगवश फिर से देखने और जांचने की दरकार है।

विशेषकर हिन्दी प्रदेशों में जहाँ कलात्मक संवेदनों के आसपास होती रही गतिविधियों की बेसाख़्ता बढ़ती तादाद तथा कलाकारों का नित नए आयाम धरता उत्साही सृजन इस बात की ताईद करते हैं कि सांस्कृतिक समृद्धि का एक बड़ा और नया क्षितिज तैयार हो चुका है। विरासत के साथ जुड़ी परंपरा में आधुनिकता के नए पहलू जुड़ रहे हैं। संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, सिनेमा, फ़ोटोग्राफ़ी सहित अनेक कला विधाओं में राजधानियों, महानगरों, छोटे शहरों-कस्बों और गाँव-गलियों में हो रहा सृजन जिज्ञासा, कौतुहल और प्रश्नाकुलता की नई कौंध जगाता नए ज़माने से नया रिश्ता जोड़ रहा है। सरकारी और ग़ैरसरकारी प्रयत्नों में संस्कृतिकर्म एक अहम जगह बनाता जा रहा है। लेकिन इन तमाम रचनात्मक करवटों को हमारे समय का मीडिया ख़ासकर हिन्दी की पत्रिकाओं ने आज जिस चलताऊ ढ़ंग से देखना-समझना शुरू किया है, उस पर अफ़सोस ही किया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि लकीरें शुरू से ही फीकी रहीं, आजादी के बाद उभरा हिन्दी पत्रकारिता का परिवेश इतना उदासीन या उपेक्षा से भरा नहीं था। धर्मयुग, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाओं और नई दुनिया, राजस्थान पत्रिका, हिन्दुस्तान, जनसत्ता जैसे अख़बारों के अलावा मझौले कद की अनेक सांस्कृतिक पत्रिकाओं ने कला की हिलोर को अपने अंक में आत्मीयता से थामा लेकिन ख़मारा-ख़मारा यह प्राथमिकता अपनी आँच खोती जा रही है। फिर भी मुख्य धारा से कला लेखन की उखड़ती सांसों के बावजूद उसकी गरज जनता के बीच बनी हुई है। इसलिए कि कला और जीवन के अटूट रिश्तों की आहटों से हमारा समय और समाज कभी विमुख नहीं होना चाहता। कभी-कभार कला लेखन एक अलग बात है लेकिन नियमित कलाओं पर चिंतन और लेखन बिल्कुल अलग-अलग उद्यम हैं। हिन्दी में अज्ञेय से लेकर असद ज़ैदी तक प्रयाग शुक्ल, विनोद भारद्वाज से

लेकर वषार्दास, मंजरी सिन्हा, ज्योतिष जोशी आदि तक इस तरह के नियमित और गंभीर लेखन की खोज की जा सकती है। लेकिन फिर भी कला लेखन पर ही एकाग्र और आश्रित होकर जीने का फैसला प्रायः कम लोग कर पाए हैं। यह काम बहुत बड़े समर्पण की मांग करता है। इसके लिए बड़ी तैयारी चाहिए। पढने, लिखने, सुनने और देखने के संस्कार चाहिए। कला और जीवन से अंतर्क्रिया, धीरज और उत्साह चाहिए। प्रश्नाकुलता चाहिए। संवाद, संसाधन और परिवेश भी जहाँ से कला के सच को परखने का प्रकाश फूटता है। लेकिन दुर्भाग्य से इस सबको हासिल करने के लिए हिन्दी के जनपद में बहुत कंजूस फिक्रें रही हैं। यह कंजूसी कला लेखकों से लेकर कला-संस्कृति की उन्नायक संस्थाओं और मीडिया तक व्याप्त हैं। आधे-अधूरे मन से हो रही कोशिशों ने एक बेहतर संभावना को उसके हाल पर ही छोड़ रखा है।

म.प्र. का संदर्भ लें तो मेरी अपनी करीब तीन दशक की सक्रिय सांस्कृतिक पत्रकारिता की अवधि में कुल तीन-चार अवसर ऐसे आए हैं जब कला लेखक या सांस्कृतिक पत्रकारों के लिए 'संवाद' की जगह बनी। भारत भवन ने ही करीब ढाई दशक पूर्व कला बोध कार्यशाला आयोजित की थी। ग्वालियर में नाग बोडस ने संगीत आस्वादन पर तीन दिनों का एक विमर्श किया था। एक बार कला परिषद् ने भोपाल में नाट्य समीक्षा पर परिचर्चा और कार्यशाला की थी और ललित कला अकादेमी, दिल्ली ने भोपाल स्थित भारत भवन में कला लेखन पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित किया था। इधर माधवराव से संग्रहालय और माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय ने भी सांस्कृतिक पत्रकारिता पर एकाग्र एकाधिक कार्यशाला की पहल की है। लेकिन ये उपक्रम भी प्रायः आनन-फानन में हुए।

चित्रकला और सिनेमा पर लगभग चार दशकों से नियमित अपनी कलम चला रहे कला समीक्षक विनोद भारद्वाज अनुभव साझा करते हुए बताते हैं कि दरअसल कला लेखन हो या विश्व सिनेमा पर विश्लेषणात्मक लेखन, इन सब चीज़ों के लिए काफ़ी तैयारी चाहिए। लेखक के पास एक बहुत बड़ी निजी लाइब्रेरी होनी चाहिए। समकालीन भारतीय कला पर भी लिखना हो तो दुनिया भर के संग्रहालयों का सीधा अनुभव होना चाहिए। रेनेसां कला के रंग किताबों से बहुत कम समझ में आते हैं। राफेल्लों या तित्सियानों के लाल रंग को समझना हो तो रोम, पतलोरेंस या वेनिस में महीनों भटकना पड़ेगा। मातीस का लाल रंग देखे-समझे बिना आधुनिक भारतीय कलाकारों के रंगों की दुनिया में भी आप प्रामाणिक रूप से नहीं जा पाएंगे। यानी आपको खूब देखने-पढ़ने-घूमने की सुविधा चाहिए।

यह सही है कि कोई लेखक सिर्फ सुविधाओं के सहारे ही काम नहीं कर सकता। लेकिन कविता-कहानी लिखने और कला, संगीत, सिनेमा पर गंभीर लेखन में फ़र्क है। इस तरह के लेखन में कुछ हासिल करना हो तो एक लंबी लड़ाई में हिस्सा लेना पड़ता है। आज अनेक कलाकारों को लेखकों-समीक्षकों की ज़रूरत भी बहुत कम रह गई है। बहुत से हिन्दी, अंग्रेजी अख़बारों के युवा रिपोर्टर पूछ-पूछ कर लिखते हैं। इस तरह का लेखन कलाकारों और कला बाजार सभी के लिए सुविधाजनक है।

प्रयाग शुक्ल और विनोद भारद्वाज जैसे कला आलोचक अपने को सौभाग्यशाली बताते हुए दिनमान के उन दिनों की याद करते हैं जब उन्हें अज्ञेय और रघुवीर सहाय जैसे मूर्धन्य मनीषियों के संपादन-काल में नौसिखिए उपसंपादक के बतौर काम करने का अवसर मिला। तब आज जैसी सुविधाएँ-संसाधन भले ही बहुतायत में न थे लेकिन गंभीर सांस्कृतिक लेखन के अनेक अवसर मिलते थे। संपादक अपनी टीम पर बहुत भरोसा करते थे। इस तरह का विश्वास सुविधाओं की कमी का असर नहीं होने देता था। प्रयाग और भारद्वाज या उनकी तरह कुछ और भाग्यवानों की मिसाल छोड़ दें तो आज बहुतायत में कला लेखन को लेकर दरिद्रता के दीदार होते हैं। यह दारुण सच दैनिक अखबारों के कथित कला समीक्षक या सांस्कृतिक रिपोर्टरों के आसपास साफ़ तौर पर परखा जा सकता है।

यह सही है कि कोई लेखक सिर्फ सुविधाओं के सहारे ही काम नहीं कर सकता। लेकिन कविता-कहानी लिखने और कला, संगीत, सिनेमा पर गंभीर लेखन अलग किस्म की प्रतिबंद्धता और प्रतिभा की मांग करता है। इस तरह के लेखन में कुछ हासिल करना हो तो एक लंबी लड़ाई में हिस्सा लेना पड़ता है।

कवि-कथाकार और कला विषयों के नियमित लेखक उदयन वाजपेयी सवाल करते हैं कि कलाकृति और पाठक या दर्शक के बीच के इस पुल यानी समीक्षक को हम ठीक से तैयार क्यों नहीं कर पाए?

क्यों ऐसा है कि हमारे अधिकांश अखबारी समीक्षक निहायत अज्ञानी और अपरिष्वकृत हैं? उदयन कहते हैं कि यह आश्चर्यजनक और दुरूखद तथ्य है कि हमारे देश के अधिकतर अखबारों के कला-साहित्य-नृत्य-संगीत समीक्षक अशिक्षित और इन तमाम विधाओं की परंपरा से अधिकतर अनभिज्ञ हैं। उनमें से अधिकांश में इन कलाओं की बारीकियाँ समझने की सार्म्थय नहीं है और चूंकि कलाओं और साहित्य में जो कुछ भी नया होता है, वह बारीक स्तर पर ही हुआ करता है इसलिए ये समीक्षक यह कभी पहचान नहीं पाते कि कौन-सा लेखक या कौन-सा कलाकार कुछ सचमुच नया कर रहा है और कौन अपने को बेशर्मी से दोहरा रहा है।

जिस स्तर पर कला पत्रकारिता की कोशिशें जारी हैं, सत्ता या समाज उनके पोषण या प्रोत्साहन के लिए कितना उदार या सहिष्णु है। देश में गिनती की कला पत्रिकाएँ सरकारी या गैर सरकारी उपक्रमों द्वारा शुरू की गई, उनके पोषण या प्रसार को लेकर कोई गंभीर पहल नजर नहीं आती। नियमित, समर्पित और काबिल कला लेखन करने वाले नुमाइंदों को जरूरी संसाधन मुहैया कराना कितना जरूरी समझा है हमारी सरकारों और संस्थानों ने। हिन्दी में कला लेखन का उत्कर्ष एक साझा पहल से ही संभव है।

● ● ●

सांस्कृतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में सक्रिय हुए कुछ युवाओं का मानना है कि आज की पत्रकारिता छपे हुए शब्दों का एक विशिष्ट कारोबार है जिसमें बड़ी पूंजी लगी हुई है। इसलिए खबरों के लिए स्पेस्य की मारामारी मची रहती है। अब जिन खबरों का बाजार भाव नहीं होगा, वे खबरें मुश्किल से ही छप सकेंगी। ऐसे में यह सांस्कृतिक रिपोर्टर की जिम्मेदारी है कि वह अपनी खबरों को इस तरह प्रस्तुत करे कि उसका कुछ बाजार भाव बन सके।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में जितने सरकारी और गैर सरकारी सांस्कृतिक संस्थान हैं, वे अभी भी मीडिया के साथ कुंभकर्णी मुद्रा में हैं। उन्हें लगता है कि मीडिया खुद उनके पास आएगा। इसलिए वे अभी भी सांस्कृतिक जन-संपर्क, विज्ञापन, प्रचार और नई मार्केटिंग से विमुख हैं। ऐसा नहीं है कि इन संस्थानों के पास धन की कमी है। दूसरी ओर पर्याप्त मेहनत करने और सामाजिक प्रतिबद्धता के बावजूद सांस्कृतिक पत्रकार दोहरी असुविधा और उपेक्षा के शिकार हैं। एक ओर राजनीतिक, आर्थिक, फिल्म और दूसरे क्षेत्र के संवाददाताओं की तुलना में उन्हें अखबार के भीतर कम महत्व मिलता है, साथ ही उन्हें जूझना पड़ता है कार्यक्षेत्र में अपनी उपेक्षा से। दरअसल, यह समय सांस्कृतिक खबरों के बाजार भाव को पहचानने का है।

आने वाले दिनों में आशा की जा सकती है कि सांस्कृतिक रिपोर्टिंग अपने ऊंचे बाजार भाव के कारण मुख्यधारा की पत्रकारिता में एक स्वतंत्र 'बीट' बन पाएगी। इस बीच संस्कृति और कलाओं के विभिन्न संदर्भों के साथ जिन लेखक-पत्रकारों ने लगातार नियमित अथवा कभी-कभार अपनी समझ-बूझ भरी लेखकीय उपस्थिति का सुप्रमाण दिया है उनमें वर्षा दास, विजयशंकर मिश्र, यतीन्द्र मिश्र, अखिलेश, पीयूष दईया, शिवकेश मिश्र, पंकज स्वामी, रवीन्द्र मिश्र, गिरिजा शंकर, राजेश गनोदवाले, संजय पटेल, सुनील मिश्र, अजीत राय, संगम पाण्डे, व्योमेश शुक्ल, सुशोभित सक्तावत, आकांक्षा पारे, शशिप्रभा तिवारी, श्याम मुंशी, विवेक मृदुल, सुदीप सोहनी, मंजरी श्रीवास्तव आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

इन तमाम चिंताओं के बीच इस बात पर भी गौर करने की जरूरत है कि जिस स्तर पर कला पत्रकारिता की कोशिशें जारी हैं, सत्ता या समाज उनके पोषण या प्रोत्साहन के लिए कितना उदार या सहिष्णु है। देश में गिनती की कला पत्रिकाएँ सरकारी या ग़ैर सरकारी उपक्रमों द्वारा शुरू की गई, उनके पोषण या प्रसार को लेकर कोई गंभीर पहल नजर नहीं आती। नियमित, समर्पित और काबिल कला लेखन करने वाले नुमाइंदों को जरूरी संसाधन मुहैया कराना कितना जरूरी समझा है हमारी सरकारों और संस्थानों ने।

हिन्दी में कला लेखन का उत्कर्ष एक साझा पहल से ही संभव है।

www.rntu.ac.in Follow on us

Rabindranath TAGORE UNIVERSITY™
MADHYA PRADESH, BHOPAL AN AISECT GROUP UNIVERSITY

A UNIT OF AISECT™ GROUP OF UNIVERSITIES
India's Leading Higher Education Group
CHHATTISGARH | MADHYA PRADESH | JHARKHAND | BIHAR

Approved by : AICTE, NCTE, BCI, INC, MP PARAMEDICAL COUNCIL, DEB (UGC) I Recognized by : UGC I Member of : AIU, ACU

GREAT PLACE TO STUDY CERTIFICATION 2019-20

RNTU is in the Rank Band 151-200 in University Category in nirf 2019

Ranked among India's 100 Best Universities 2019 by CAREERS 360

Ranked amongst Top Private Multidisciplinary Universities of the country by THE WEEK 2019

Ranked among India's Top Private Universities 2019 by INDIA TODAY

PROUDLY ANNOUNCES THE APPROVAL OF ITS

मुक्त एवं दूरवर्ती शिक्षा संस्थान
INSTITUTE OF OPEN & DISTANCE EDUCATION
BY DISTANCE EDUCATION BUREAU (DEB), UGC, Govt of India

ADMISSIONS OPEN-SESSION JAN. 2020 I प्रवेश प्रारंभ सत्र–जनवरी 2020

PG/UG DEGREE PROGRAMS

FACULTY OF ARTS

B.A.
M.A. (Economics)
M.A. (English)
M.A. (Hindi)
M.A. (History)
M.A. (Political Science)
M.S.W.

FACULTY OF COMMERCE & BUSINESS STUDIES

B.Com.
M.Com.

FACULTY OF MANAGEMENT

B.B.A.

DIPLOMA & CERTIFICATE PROGRAMMES

DCA Diploma in Computer Application
PGDCA Post Graduate Diploma in Computer Applications

INDUSTRY LINKED DIPLOMA PROGRAMMES

Diploma in IT Application Development
Diploma in Automobile Servicing
Diploma in Renewable Energy
Diploma in Electronics Manufacturing Services
Diploma in Computer Hardware and Networking
Diploma in Retail Management
Diploma in Banking, Financial Services and Insurance
Diploma in Electrical & Electronics Assembly
and Certificate Programmes of Various Academies through Pradhan Mantri Kaushal Kendra

Features of RNTU-IODE : « All Procedures through ONLINE PORTAL « Quality STUDY MATERIALS & Online Lectures « Timely Conduct of Exams followed by Quick Results « Remedial Classes

Admission Helpline : +91-9319866685, +91-755-2700413

UNIVERSITY CAMPUS : Bhopal-Chiklod Road, Near Bangrasia Chouraha, Bhopal, MP, India, Ph.: 0755-2700400, 2700413
City Office: 3rd Floor, Sarnath Complex, Board Office Square, Shivaji Nagar, Bhopal - 462016,
Ph.: 0755-4289606, 8109347769, Email: info@rntu.ac.in